व्याकरण-दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला के
संस्कृत-विभाग के अधीन
'पी-एच०डी०' उपाधि
के लिए प्रस्तुत—

शोध-प्रबन्ध

जून 1992

शोध-निर्देशकद्वय :

डा० बलदेव सिंह
सेवानिवृत्त प्राचार्य
संस्कृत-विभाग
हि०प्र० विश्वविद्यालय
शिमला-5

डा० नरदेव शास्त्री
प्राध्यापक
संस्कृत-विभाग
हि०प्र० विश्वविद्यालय
शिमला-5

शोधकर्ता :

कुमार सिंह वर्मा
प्रधानाचार्य
राजकीय स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय
सोलन (हि०प्र०)।

प्रमाण-पत्र
=======

प्रमाणित किया जाता है कि "व्याकरण-दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास" नामक शोधप्रबन्ध श्री कुमारसिंह वर्मा ने मेरे निर्देशन में लिखा है । यह इनकी मौलिक शोध-कृति है तथा अभी तक किसी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं की गई है । मैं अनुमोदन करता हूं कि इसे परीक्षणार्थ परीक्षकों को भेज दिया जाए ।

दिनांक : 27/6/92

§ डा० नरदेव शास्त्री §
प्राध्यापक
संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
समरहिल, शिमला-171005.

प्राक्कथन

लुप्त को खोज निकालना, उपलब्ध को परीक्षित करना और परीक्षित में पुनः तत्त्व एवं उपलब्धियां खोजना शोध की प्रक्रिया है । शोध रचनाकारों, कृतियों और उनमें निबद्ध विषयों के अनुद्घाटित, अनालोचित एवम् उपेक्षित पक्षों को शास्त्रीय और सामाजिक मापदण्डों पर परीक्षित कर जग-जाहिर करता है । शोध की इस मूलभावना को लेकर ही व्याकरणदर्शन के आलोचनात्मक इतिहास विषय पर शोध करने में प्रवृत्ति हुई है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कर्ता अपने विद्यार्थिकाल में व्याकरण विषय की आचार्य श्रेणि में व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थ परमलघुमंजूषा, वैयाकरण-भूषणसार और वाक्यपदीय के अध्ययन के समय ही व्याकरण-दर्शन के विषय से अत्यधिक प्रभावित था । सौभाग्य से कुछ समय बाद मेरी व्याकरणाचार्य श्रेणि के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हो गयी और इन विषयों को पढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ । फलतः इस विषय में प्रवेश और अनुराग बढ़ता गया । मैंने अनुभव किया कि संस्कृत वाङ्मय के वेद, साहित्य, अलंकारशास्त्र, ज्योतिष आदि लगभग सभी विषयों पर समालोचनात्मक इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिससे अध्येता को उस विषय के आचार्यों, ग्रन्थों और सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त होता है । व्याकरण विषय पर भी सम्प्रति तीन-चार इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध है जिनमें पं० युधिष्ठिर मीमांसक का इतिहास ग्रन्थ सर्वाधिक प्रमाणिक है । परन्तु व्याकरण के दर्शन पक्ष पर ऐसा कोई इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें वैदिक काल से आज तक के व्याकरण-दर्शन के उद्भव और क्रमिक विकास को विवेचित किया गया हो एवम् दार्शनिक वैयाकरणों, उनके व्याकरण-दर्शन-प्रतिपादक ग्रन्थों और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को कालक्रमिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो । अतः इस विषय पर शोधकार्य करने का मेरा मन बना ।

पदार्थों के तात्त्विक विश्लेषण एवं ज्ञान को दर्शन कहते हैं । व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है जिस आधार पर यह खड़ा है । यह

उच्चकोटि का शब्दाद्वयवादी आगममूलक दर्शन है । यह व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य और उसके अवयवों के विभिन्न भेदों का, उनके अर्थों के साथ सम्बन्धों का विश्लेषण और ज्ञान करवाता है। शब्द अर्थ और सम्बन्ध के स्वरूप, इसकी नित्यता अनित्यता, ध्वन्यात्मक शब्द की अनित्यता तथा स्फोट व्यंजकता, स्फोटशब्द की नित्यता तथा अर्थवाचकता, शब्द तत्त्व के सखण्ड और अखण्ड पक्ष, जाति, द्रव्य, भाव, काल, दिक्, साधन आदि विभिन्न अर्थतत्त्वों, वस्त्वर्थ या बौद्ध अर्थ की वाच्यता प्रतिभारूप वाक्यार्थ, योग्यता और कार्य-कारणभावसम्बन्ध आदि विभिन्न पक्षों पर तात्त्विक विचार-चिन्तन व्याकरण-दर्शन प्रस्तुत करता है । पारमार्थिक दृष्टि से विचार-चिन्तन करते हुए यह शब्द और अर्थ को अभिन्न मानकर इसे शब्दब्रह्म का ही रूप एवं विकास मानता है । शब्दब्रह्म का स्वरूप क्या है, इसे शब्दब्रह्म कहने में हेतु क्या है, इसकी जगत कारणता किस प्रकार उपपन्न है, काल नामक स्वातन्त्र्य शक्ति से इसका क्या सम्बन्ध है, यह सृष्टिरूप में किस प्रकार विकसित हुआ है, विवर्तवाद क्या है - आदि विभिन्न विषयों पर व्याकरणदर्शन पारमार्थिक दृष्टि से विचार करता है । जाति, द्रव्य, काल, दिक् आदि तत्त्वों पर भी व्याकरण-दर्शन व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से प्र गम्भीर और सूक्ष्म तात्त्विक चिन्तन प्रस्तुत करता है ।

व्याकरण-दर्शन का यह शब्दार्थसम्बन्ध विषयक गम्भीर सूक्ष्म एवं अद्वैतवादी तात्त्विक चिन्तन वेदों से प्रारम्भ होकर अनेक ऐतिहासिक सोपान पार करता हुआ महान् वैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय में विकास की चरम स्थिति को प्राप्त हुआ है । अर्वाचीन अद्वैतवेदान्ती, विशेषतया काश्मीर शैवाद्वैत के अभिनवगुप्त जैसे दसों विद्वानों ने महान् वैयाकरण भर्तृहरि का बार-बार आदर के साथ स्मरण करते हुए इस दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का समर्थन किया है और इसके अनेक सिद्धान्तों का अपने दर्शनसिद्धान्तों के प्रतिपादन में उपयोग किया है । मण्डनमिश्र जैसे प्रख्यात मीमांसक और वेदान्ती ने व्याकरण-दर्शन के स्फोट और अद्वैत तत्त्व की पुष्टि में स्फोटसिद्धि जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रच डाला । व्याकरण-दर्शन की इतनी प्रतिष्ठा बन गयी कि नैयायिकों और

मीमांसकों में भी अपने-अपने मतानुसार इस विषय पर लिखने की होड़ सी लग गयी और ग्रन्थ के ग्रन्थ लिख डाले । अलंकार शास्त्रियों ने भी न केवल शक्ति-स्वरूप, शक्तिग्रह के लिए व्याकरणदर्शन को आधार बनाया अपितु ध्वन्यात्मक शब्द द्वारा स्फोट की व्यङ्ग्यता के सिद्धान्त को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए काव्य में ध्वनि को आत्मा करार दिया । यह बड़ी विचित्र बात है कि भारतीय दर्शनों में व्याकरणदर्शन की इस उच्च प्रतिष्ठाजनक स्थिति के होने के बावजूद भी अधिकांश संस्कृत-विद्वान् उक्त तथ्य से अनभिज्ञ रहकर यही समझते हैं कि व्याकरण तो मात्र शब्दसिद्धि का साधन है, इसमें दर्शन जैसी कोई बात नहीं है । इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि व्याकरण के दर्शनपक्ष पर अन्य विषयों की भान्ति ऐसा कोई इतिहासग्रन्थ सामने नहीं आया है, जिसमें इस दर्शन के उद्भव और क्रमिक विकास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो । प्रस्तु शोधकार्य इसी कमी को पूरा करने के लिए, अनुद्घाटित को उद्घाटित तथा उद्घाटित को ऐतिहासिक काल क्रम से नवीन उपलब्धियों के साथ आलोचित करने के उद्देश्य से किया गया है ।

प्रस्तुत शोधकार्य के लिए मैंने पहले व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले मूलग्रन्थों, उनकी व्याख्याओं, इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों पर पृथक्-पृथक् अनुसन्धान करने वाले विद्वानों के ग्रन्थों का संग्रह करके एक-एक करके उनका अध्ययन प्रारम्भ किया । पाणिनि से पूर्ववर्ती प्रातिशाख्यों और निरुक्त के अतिरिक्त व्याकरणेतर साहित्य - वैदिक संहिताओं ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों आदि से उन सन्दर्भों का संकलन किया जिनमें व्याकरणदर्शन के तत्त्वों पर विचार हुआ है । पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरण के अनेक ऐसे ग्रन्थों को भी एतदर्थ देखा जिसमें व्याकरणदर्शन के तत्त्वों पर उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है, अतः उन्हें त्याग दिया गया । शेष उपादेय विषय सामग्री का उपयोग करके व्याकरणदर्शन के इतिहास को कालखण्डों में विभाजित करके सात अध्यायों में निम्न प्रकार से विवेचित किया जाएगा -

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम अध्याय भूमिका अध्याय होगा । इसमें व्याकरणदर्शन का अर्थ बताकर व्याकरण-दर्शन के स्वरूप और प्रतिपाद्य पर प्रकाश

डाला जाएगा । व्याकरणदर्शन के दर्शनत्व की उपपत्ति बताते हुए सम्पूर्ण व्याकरण वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय देकर व्याकरणदर्शन को प्रतिपादित करने वाले साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी ।

द्वितीय अध्याय में पाणिनि-पूर्वयुग की व्याकरणदर्शन की स्थिति पर सर्वेक्षण किया जाएगा । एतदर्थ कालक्रम से वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद, प्रातिशाख्यों, उपलब्ध वैदिक व्याकरणों, और निरुक्त में व्याकरणदर्शन के तत्त्वों को खोजकर उनका विवेचन किया जाएगा ।

सम्प्रति उपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में पाणिनीय-युग व्याकरणदर्शन के विकास का युग रहा है । तृतीय अध्याय में इस युग के दार्शनिक वैयाकरणों - पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी, व्याडि और उनका संग्रह, कात्यायन और उनके वार्तिक तथा पतंजलि और उनके महाभाष्य का सप्रमाण ऐतिहासिक परिचय देकर उनके ग्रन्थों में हुए व्याकरणदर्शन के क्रमिक विकास पर तुलनात्मक एवम् आलोचनात्मक परिचय दिया जाएगा । साथ-साथ इन आचार्यों की नवीन उपलब्धियों एवं अर्जन पर प्रकाश डाला जाएगा ।

भर्तृहरियुग व्याकरणदर्शन का स्वर्णिम युग रहा है । इसे दो अध्यायों में विवेचित किया जाएगा । चतुर्थ अध्याय में इस दार्शनिक वैयाकरण का, इसके ग्रन्थों और उनके प्रतिपाद्य विषय का परिचय और महत्त्व प्रतिपादित किया जाएगा । इसी अध्याय में भर्तृहरि के वाक्यपदीय के व्याख्याकार पुण्यराज हेलाराज आदि और उनकी व्याख्याओं का परिचय देकर उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला जाएगा ।

भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त व्याकरण-दर्शन के मान्य सिद्धान्त हैं ।भर्तृहरि के मतानुसार व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण पंचम अध्याय में किया जाएगा तथा साथ-साथ पूर्ववर्ती तथा अर्वाचीन दार्शनिक वैया-करणों के विचारों के साथ इनकी तुलना एवं आवश्यक समीक्षा की जायेगी ।

उत्तरभर्तृहरियुग के अध्ययन को दो अध्यायों में बांटा गया है : षष्ठ अध्याय में कैयट और उनके महाभाष्यप्रदीप, भट्टोजिदीक्षित और उनका

शब्दकौस्तुभ, कौण्डभट्ट और उनके भूषणग्रन्थ, नागेश-भट्ट और उनकी व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी रचनाओं का परिचय तथा महत्त्व आवश्यक तुलना एवं समालोचना के साथ दिया जाएगा ।

प्रकीर्ण एवं उपसंहार नाम के सप्तम अध्याय में मण्डनमिश्र और उनकी स्फोटसिद्धि, भोजदेव और उनका श्रृंगारप्रकाश, पुरुषोत्तमदेव का कारकचक्र, सायणवंशोत्पन्न माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह का भाग पाणिनिदर्शनम्, शेषश्रीकृष्ण के शब्दाभरण आदि, जगदीशभट्टाचार्य और उनकी शब्दशक्तिप्रकाशिका, भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि, रामाज्ञा पाण्डेय की व्याकरणदर्शन-भूमिका आदि तथा स्फोटतत्त्व पर प्रकरणग्रन्थ लिखने वाले अन्य दार्शनिक वैयाकरणों और उनकी रचनाओं का कालक्रमिक परिचय देते हुए उनके महत्त्व का आकलन किया जाएगा ।

प्रस्तुत अध्ययन में दार्शनिक वैयाकरणों तथा उन द्वारा ग्रन्थरचना के समय को निर्धारित करने में सर्वाधिक कठिनाई आई है । एतदर्थ मान्यताप्राप्त इतिहासकारों के ग्रन्थों तथा अन्य विद्वानों के शोधपत्रों की सहायता लेकर उनके मतों को साररूप में प्रमाणसहित प्रस्तुत किया गया है । व्याकरणदर्शन के इतिहास से सम्बन्धित अन्य आवश्यक प्रारम्भिक विचार शोधप्रबन्ध के प्रथमभूमिकाअध्याय में प्रस्तुत किये जायेंगे ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में व्याकरणदर्शन के इतिहास से सम्बन्धित अनेक अनुद्घाटित तथ्य शोध के फलस्वरूप प्रकाश में आए हैं । विद्वानों के अलग-अलग प्रयासों के द्वारा पहले से उद्घाटित तथ्यों को ऐतिहासिक क्रम से संयोजित करके आवश्यक आलोचना के साथ विवेचित किया गया है । प्रस्तुत शोध का विषय अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है तथा इतिहास जैसे विषय पर और अधिक शोध की सम्भावनाएं सदा बनी रहती हैं । तथापि प्रस्तुत शोध में समग्रता एवं सम्पूर्णता लाने का प्रयास किया गया है ।

विनीत
27/6/92
कुमारसिंह वर्मा
व्याकरणाचार्य, एम॰ए॰, एम॰फिल॰ [संस्कृत]
लब्ध-स्वर्णपदकद्वय
प्राचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय सोलन [हि॰प्र॰]

अनुसन्धाता
संस्कृत विभाग
हि॰प्र॰ विश्वविद्यालय
शिमला

आभार-विज्ञापना

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध अनेक महानुभावों की कृपा और सहयोग का परिणाम है, अन्यथा यह अकिंचन क्या कुछ कर पाता । उन सबका आभार प्रकट न करना कृतघ्नता होगी ।

परमात्मा की अनुकम्पा, श्रद्धारूपिणी माता स्वर्गीया हीरादेवी की सहज इच्छा, पिता ठा० रणसिंह सिसोदिया की पितृसुलभ पुत्र महत्त्वाकांक्षा और विद्वान् गुरूजनों की असीम कृपा का मैं ऋणी हूं जिनकी बदौलत मैं इस विषय में लेखनी उठाने में समर्थ हुआ हूं । इन कृपालु गुरूजनों में श्रीधरप्रसाद सकलानी, श्री मायाप्रसाद शास्त्री, पं० कृपाराम शास्त्री, पं० रामस्वरूप शास्त्री, श्री धनराज आचार्य, मेरे व्याकरणाचार्य के अध्ययन काल के श्रद्धेय वैयाकरण गुरू दर्शनात्मा पं० शालग्राम आचार्य, पं० भवानीदत्त आचार्य, श्री कान्ताचार्य तथा {स्व०} श्री राम सिंहासन त्रिपाठी प्रधानाचार्य प्रमुख हैं । मैं इनकी कृपा के लिए ऋणी और आभारी हूं ।

एम० फिल० {संस्कृत} के व्याकरणदर्शन सम्बन्धी शोध में और तत: प्रस्तुत शोधकार्य में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्राचार्य {डा०} बलदेवसिंह और उनकी सेवानिवृत्ति पर इसी विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डा० नरदेव शास्त्री के दिशानिर्देश के बिना मैं इस कार्य को सम्पन्न ही नहीं कर सकता था । ये दोनों गुरूजन स्वयं भी व्याकरण-दर्शन के प्रौढ़ विद्वान्, अनुसन्धाता और लेखक रहे हैं । समय-समय पर इनसे प्राप्त दिशानिर्देश और परामर्श के लिए मैं इनका हृदय से आभारी हूं । वर्तमान संस्कृत-विभागाध्यक्ष साहित्य शिरोमणि डा० राजेन्द्र मिश्र का भी मैं उनसे प्राप्त सहयोग के लिए कृतज्ञ हूं ।

व्याकरण-दर्शन के इतिहास से सम्बन्धित प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में मैंने अनेक मौलिक ग्रन्थों, उनके व्याख्याकारों, इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग किया है । मैं उन सबका आभारी हूं ।

इस शोधकार्य के लिए मैंने राजकीय संस्कृत महाविद्यालय सोलन, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ तथा वी॰वी॰आर॰आई॰ होशियारपुर के पुस्तकालयों का उपयोग किया है । इनमें से सर्वाधिक प्राचीन दुर्लभ मौलिक ग्रन्थ और नवीन पुस्तकें मुझे राजकीय संस्कृत महाविद्यालय सोलन से उपलब्ध हुए हैं जिनका मैंने भरपूर उपयोग किया है । एतदर्थ उक्त पुस्तकालयों के अध्यक्ष विशेषतया श्री महीधर आचार्य एम॰ए॰ संस्कृत महाविद्यालय सोलन का मैं हृदय से आभारी हूं ।

मैं अपनी अर्धांगिनी श्रीमती नीलम सिसोदिया शास्त्री का आभार प्रकट करना भी अनिवार्य समझता हूं । इनके सहयोग और प्रेरणा के बिना यह कार्य पूर्ण नहीं हो सकता था । यह मुझे अध्यापन और प्रशासकीय कार्यों से भिन्न उत्तरदायित्वों और व्यस्तताओं को कम करके प्रस्तुत शोधकार्य पूरा करने की बार-बार प्रेरणा देती रही । मुझे घरेलू उत्तरदायित्वों से मुक्त करके प्रत्येक सुविधाएं हर समय उपलब्ध कराते हुए स्वतन्त्र और एकान्त चिन्तन के लिए वातावरण उपलब्ध कराती रही । इसके लिए मैं इनका कृतज्ञ हूं ।

इस शोधप्रबन्ध के टंकणकर्ता श्री हीरासिंह गौड़ का हार्दिक सहयोग मेरे लिए चिर स्मरणीय रहेगा । इन्होंने "निष्कामभाव" से प्रातः और सांयकाल का पारिवारिक जीवन का समय निरन्तर डेढ़ मास तक मेरे इस कार्य के लिए अर्पित कर दिया । कुछ दिनों केवल इसी कार्य के लिए अवकाश तक ले लिया । इस अविस्मरणीय सहयोग के लिए मैं इनका हृदय से आभारी हूं ।

मेरे शिष्य एवं सम्प्रति सहयोगी डा॰ प्रेमलाल गौतम साहित्याचार्य ने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के अशुद्धिशोधन और टंकित सामग्री के व्यवस्थापन हेतु पर्याप्त समय दिया है । मैं इनके इस श्रद्धामय सहयोग के लिए कृतज्ञ हूं । इस कार्य में प्रेरणा और किसी न किसी प्रकार का सहयोग देने वाले अन्य इष्ट-मित्रों और अपने सहयोगियों का मैं आभार प्रकट करता हूं ।

विनीत

दिनांक : 27-6-1992 कुमारसिंह वर्मा

संक्षिप्त-संकेत-सूची

अ० = अध्याय

अर्थवि० व्या० द० = अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन

अष्टा० = अष्टाध्यायी

अम० को० = अमरकोष

अथर्व० अथर्ववेद-संहिता

आ० = आह्निक

आपि० शि० सू० = आपिशलिशिक्षासूत्र

अभिज्ञा० शा० = अभिज्ञानशाकुन्तल

इति० = इतिहास

उ० प० = उद्योग पर्व

उ० भा० = उव्वटभाष्य

ऋक्प्राति० = ऋक्प्रातिशाख्य

ऋ० भा० भू० = ऋग्वेदभाष्य भूमिका

कात० व्या० = कातन्त्रव्याकरण

ऐत० आ० = ऐतरेयारण्यक

ऐत० उ० = ऐतरेयोपनिषत्

ऐत० ब्रा० = ऐतरेयब्राह्मण

का० परि० = कातन्त्र परिशिष्ट

का० मी० = काव्य मीमांसा

का० = कारिका

का० वि० पं० = काशिका विवरण पंजिका

का० वा० = कात्यायन वार्तिक

कि० का० = किष्किन्धाकाण्ड

कृ० च० = कृष्णचरित

कै० उप० = कैवल्योपनिषद

क्रि० समु० = क्रिया-समुद्देश

का0 वृ0	=	काशिका वृत्ति
कौ0 ब्रा0	=	कौषीतकीब्राह्मण
कां0	=	काण्डम्
ग0 पा0	=	गणपाठ
गो0 ब्रा0	=	गोपथ ब्राह्मण
ग0 र0 महो0	=	गणरत्नमहोदधि
चा0 व्या0	=	चान्द्र व्याकरण
छा0 उ0	=	छान्दोग्योपनिषद
तैत्ति0 प्रा0	=	तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
तैत्ति0 आ0	=	तैत्तिरीयारण्यक
तैत्ति0 उ0	=	तैत्तिरीयोपनिषत्
तैत्ति0 सं0	=	तैत्तिरीयसंहिता
तृ0 सं0	=	तृतीय संस्करण
त्रिकां0 शे0	=	त्रिकाण्डशेष
त्रि0	=	त्रिपदी
द्र0	=	द्रष्टव्य
द्र0 समु0	=	द्रव्य समुद्देश
धा0 वृ0	=	धातु वृत्ति
धा0 सं0	=	धातु संख्या
नि0 दु0	=	निरुक्त पर दुर्गाचार्यटीका
निरु0	=	निरुक्त
निरु0 वृ0	=	निरुक्त वृत्ति
न्या0 द0	=	न्यायदर्शन
न्या0 सि0 मुक्ता0	=	न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
न्या0 मं0	=	न्यायमंजरी
न्या0	=	न्यास
प्र0 कौ0	=	प्रक्रिया कौमुदी
पा0 का0 भा0 व0	=	पाणिनिकालीन भारतवर्ष

पा० सू०	=	पाणिनीयसूत्र
पा० शि०	=	पाणिनीयशिक्षा
परि०	=	परिभाषा
परिभा० वृ०	=	परिभाषावृत्ति
पा० धा० पा०	=	पाणिनीयधातुपाठ
पा० शि०	=	पाणिनीयशिक्षा
पा० शि० सू०	=	पाणिनीय शिक्षा सूत्र
पृ०	=	पृष्ठ
प्रौ० मनो०	=	प्रौढमनोरमा
प्रत्यभि० हृ०	=	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्रत्या० सू०	=	प्रत्याहारसूत्र
प्रा० भा० वै० ध्व० वि० वि० अ०	=	प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन
ब० सं० सी०	=	बनारस संस्कृत सीरिज़
बृह० उ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद
ब्र० सू० शां० भा०	=	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
भाषावृ०	=	भाषावृत्ति
भा० प्र०	=	भावप्रदीप
म० भा० प्र० उ०	=	महाभाष्यप्रदीपोद्योत
महाभा०	=	महाभारत
मीमां० द०	=	मीमांसा दर्शन
मीमां० श्लो० वा०	=	मीमांसाश्लोकवार्तिक
यो० द०	=	योग दर्शन
याज्ञ० शि० सू०	=	याज्ञवल्क्य-शिक्षासूत्र
रामा०	=	रामायण
ल० श० शे०	=	लघुशब्देन्दुशेखर
वा०	=	वार्तिक

-ओ-

वाज0 प्रा0	=	वाजसनेयिप्रातिशाख्य
वै0 द0	=	वैशेषिकदर्शन
व्या0 भा0	=	व्यासभाष्य
वा0 प0	=	वाक्यपदीय
वे0 द0	=	वेदान्तदर्शन
वै0 सि0 कौ0	=	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
वै0 सि0 ल0 मं0	=	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा
वै0 भू0 सा0	=	वैयाकरणभूषणसार
वै0 सि0 मं0	=	वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा
वै0 ल0 मं0	=	वैयाकरणलघुमंजूषा
व्या0 द0 भू0	=	व्याकरण दर्शन भूमिका
व्या0 म0 भा0	=	व्याकरण महाभाष्य
समु0	=	समुद्देश
स0 द0 सं0	=	सर्वदर्शनसंग्रह
सं0	=	संख्या
सं0 व्या0 द0	=	संस्कृत व्याकरण दर्शन
सं0, संस्क0	=	संस्करण
सं0 व्या0 उ0 वि0	=	संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास
सं0 व्या0 द0 भू0	=	संस्कृत व्याकरण दर्शन की भूमिका
सं0 व्या0 शा0 इति0	=	संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास
सा0 समु0	=	साधन समुद्देश
स्क0 पु0	=	स्कन्दपुराण
स्ट0 इ0 इ0 लि0	=	स्टडी इन इण्डियन लिटरेचर
स्फो0 सि0	=	स्फोटसिद्धि
श्लो0	=	श्लोक
शक्त्या0 नि0	=	शक्त्याश्रयनिरूपण
श्वेता0 उ0	=	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शत0 ब्रा0	=	शतपथब्राह्मण

-औ-

शि0 दृ0	=	शिवदृष्टि
श0 श0 प्रका0	=	शब्दशक्तिप्रकाशिका
शां0 भा0	=	शांकरभाष्य
श0 कौ0	=	शब्दकौस्तुभ
हेला0	=	हेलाराज

विषय-सूची

द्वितीय-अध्याय

तृतीय-अध्याय

चतुर्थ-अध्याय

पंचम-अध्याय

षष्ठ-अध्याय

सप्तम-अध्याय

-:-:-:-:-:-:-

प्रथम-अध्याय

संस्कृत-व्याकरणदर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य

प्रथम अध्याय

संस्कृत-व्याकरण-दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य

व्याकरण-दर्शन का स्थान :

संस्कृत-व्याकरण-दर्शन अपनी अनेकविध एवं विलक्षण विशेषताओं के कारण उच्च कोटि के भारतीय दर्शनों की श्रेणि में आता है ।[1] इसे वैयाकरण-दर्शन, शब्द-दर्शन, शब्दाद्वैत-दर्शन, पाणिनि-दर्शन या भर्तृहरि-दर्शन के नामों से भी जाना जाता है । दर्शन शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् माधवाचार्य ने अपने "सर्व-दर्शन-संग्रह" में व्याकरण-दर्शन को प्रमुख भारतीय दर्शनों में "पाणिनि-दर्शन" के नाम से संगृहीत किया है जिसमें उन्होंने इस दर्शन के अधिकांश प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को आचार्य भर्तृहरि के "वाक्य-पदीय" के उद्धरणों के साथ प्रतिपादित किया है । व्याकरण के प्रधान [illegible] होने के कारण[2] इसका दर्शन वेदों पर आश्रित है,[3] अत: यह आस्तिक दर्शनों की श्रेणि में आता है । व्याकरण-दर्शन के महत्त्व एवं स्थान का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि शांकर वेदान्त, प्रत्यभिज्ञा, मीमांसा, न्याय आदि दर्शनों के आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार इसके सिद्धान्तों पर अत्यन्त विस्तार के साथ विचार किया है ।[4]

व्याकरण का अर्थ :

व्याकरण शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से ही शब्दशास्त्र के लिए होता आया है । वाल्मीकीय रामायण में हनुमान को सम्पूर्ण व्याकरण-

---

1. स० द० सं०, चौ० संस्करण 1984 पृ० 497
2. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति ।
   प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । - व्या० म० भा०, आ० । पृ० 15
3. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
   छन्दसां प्रथमं प्राहुर्व्याकरणं [illegible] - वा० प० 1.11
4. द्रष्टव्य - प्रस्तुत प्रबन्ध का [illegible]

शास्त्र को अनेक बार पढ़ने वाला तथा इस कारण वार्तालाप के समय कुछ भी अपभाषण न करने वाला बताया गया है ।[1] गोपथ-ब्राह्मण[2], मुण्डकोपनिषद,[3] महाभारत,[4] निरुक्त[5] आदि में भी 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग शब्द-शास्त्र के लिए हुआ है ।

'व्याकरण' शब्द वि आ उपसर्गपूर्वक कृ धातु से ल्युट (=अन) प्रत्यय परे होने पर निष्पन्न होता है । अकेले कृ धातु का अर्थ तो "करना" होता है[6] परन्तु पूर्ववर्ती वि आ उपसर्गों के बल से इस धातु का अर्थ निकलता है - विभाग या पृथक्-पृथक् करके विश्लेषण करना ।[7] ल्युट (=अन) प्रत्यय यहां करण (साधन) अर्थ को बोधित करता है ।[8] अतः व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य सामान्य अर्थ निकला - "विभाग करके विश्लेषण करने वाला साधन" । परन्तु वह साधन क्या है तथा इसके द्वारा जिसका विभाग करके विश्लेषण किया जाता है वह वस्तु क्या है, इसे वार्तिककार कात्यायन (पांचवीं शती ई०पू०) और भाष्यकार पतंजलि (दूसरी शती ई० पू०) ने स्पष्ट किया है कि वह साधन जिसके द्वारा शब्द व्याकृत (विभाग करके विवेचित) किये जाते हैं - वह व्याकरण है ।[9] ऐसा साधन अर्थात् 'व्याकरण' सूत्रों (नियमों) के रूप में भी हो सकता है[10] तथा

1· नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपभाषितम् ।। -रामा०, कि० का० 3·29

2· गो० ब्रा०, पू० 1·24

3· मुण्डको० 1·1

4· महाभारत, उ० प० 43·6।

5· निरु० 1·12

6· डु कृञ् करणे । -भा० धा० पा०, धातु सं० 1473

7· क) दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । -यजु० वे०, 19·77
ख) नामरूपे व्याकरवाणि । -छा० उ०

8· व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम् । -व्या० म० भा०, आ० ।

9· लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम् ।। - व्या० म० भा०, पा० 1?, पृ० 60

10· अथवा पुनरस्तु सूत्रम् । - वही, पृ० 63

सूत्र और उदाहरण - इन दोनों के समुदाय को भी व्याकरण कह सकते हैं ।[1] जहाँ व्याख्यान अपेक्षित हो तो वह भी व्याकरण के अन्दर ही आ जाता है ।[2]

योगरूढ़ि का कारण :

व्याकरण शब्द यौगिक होता हुआ भी शब्दशास्त्र अर्थ में किस प्रकार रूढ़ हो गया, इसके पीछे ऐतिहासिक कारण है जिसे जानने के लिए हमें व्याकरण शास्त्र के उद्भवकाल तक जाना होगा । पातंजल महाभाष्य के उल्लेख से विदित होता है कि प्राचीन काल में इन्द्र के युग तक भाषा का व्याकरण नहीं बना था । अतः बृहस्पति ने इन्द्र को असंख्य पदार्थों के बोधक असंख्य शब्दों का ज्ञान प्रतिपद पाठ की पद्धति से कराया था जिसमें बहुत लम्बा समय लग गया था ।[3] तैत्तिरीय-संहिता के उल्लेख के अनुसार उस प्राचीन युग में वाणी अव्याकृत [अविभक्त, अखण्ड, प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से रहित] ही बोली जाती थी । सम्भवतः प्रतिपदपाठ के पारायण से शब्दोपदेश की श्रम और दीर्घ समयसाध्य पद्धति से व्याकुल हो उठे देवों ने [बुद्धिमान एवं शब्दकला प्रवीण] इन्द्र से प्रार्थना की, कि वह उनके लिए इस अखण्ड वाणी को व्याकृत करें । इन्द्र ने भी उस भाषा के शब्दों को मध्य से तोड़कर व्याकृत कर दिया,[4] अर्थात् अखण्ड वाणी के शब्दों को प्रकृति और प्रत्ययों में विभक्त कर दिया ।[5] इस प्रकार

---

1. लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति । -व्या० म० भा०, आ० १, पृ० 60
2. न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते । किं तर्हि ? व्याख्यानतश्चेति ।
   -व्या० म० भा०, आ० १, पृ० 63
3. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । इत्यादि । - व्या० म० भा०, आ० । पृ० 34
4. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति । .... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् ।
   -तै० सं०, 6·4·7
5. तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् । -
   -- वही, सायणाचार्यकृत व्याख्या ।

इन्द्र, जो निश्चय ही एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे,[1] व्याकरण शास्त्र के प्रथम संस्कर्ता हुए । वैदिक साहित्य में व्याकृ धातु का प्रयोग किसी भी पदार्थ के विभाग एवं विश्लेषण के लिए हुआ है,[2] परन्तु इन्द्र के द्वारा पहली बार अव्याकृत भाषा को व्याकृत (प्रकृति-प्रत्ययों में विभक्त) करने की उस युग की क्रान्तिकारी घटना की प्रसिद्धि के कारण "व्याकरण" यह नाम शब्दों को अवयवों में विभक्त करके उनका अर्थसहित विश्लेषण करने वाले "शब्दशास्त्र" के लिए रूढ़ हो गया । व्याकरण की इस पद्धति से सभी शब्दों और अर्थों को व्याकृत करने वाले विद्वान् को "वैयाकरण" कहा जाने लगा ।[3]

"व्याकरण शब्दः किं ब्रूते ।" :

भाष्यकार पतंजलि की "व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" . . . इस पंक्ति[4] की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि "तत्रायं व्याकरण शब्दः किम् ब्रूते ?" अर्थात् यहां व्याकरण शब्द क्या कहता है? अपनी उक्त व्युत्पत्ति से किस तात्पर्य को प्रकट कर रहा है ? उत्तर में कहते हैं कि "व्याक्रियन्ते" इससे जान पड़ता है कि व्याकरण द्वारा आचार्य पाणिनि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त को प्रकट करना चाहते हैं । क्योंकि एक समान दिखाई देने वाला शब्द (पद या पदांश) बहुधा भिन्न अर्थ में, भिन्न निमित्त से, भिन्न स्थान पर और सर्वथा स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त किया जा रहा होता है । उसके

---

1. क) युधिष्ठिर मीमांसक, व्या० शा० इति० भाग ।। पृ० 58
   ख) पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेद, मधुसूदन ओझाकृत ब्रह्मसिद्धान्त की भूमिका, पृ० 16
2. क) दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । - यजु० वे० 19·77
   ख) नामरूपे व्याकरवाणि । - छा० उ० 6·3·2
3. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
   तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।। - महाभारत, उ०प०·43-61
4. व्या० म० भा०, आ० । पृ० 60

इस प्रयोग-निमित्त या प्रवृत्ति-निमित्त की पहचान निकालना ही व्याकरण का कार्य है ।"[1] स्पष्ट है कि व्याकरण अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त के बल पर[2] शब्दों {पदों और पदांशों} का उनके प्रवृत्तिनिमित्तों एवं फल, व्यापार, काल, वचन, कारक, लिंग आदि अर्थों या तत्सम्बद्ध भावों के साथ सम्बन्ध को निश्चित करता है तथा इसी आधार पर शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय के विभाग की कल्पना करता है ।

शब्दानुशासन एवं शब्दशास्त्र :

महाभाष्यकार तथा वाक्यपदीयकार ने शब्दानुशासन शब्द का प्रयोग व्याकरण के समानार्थक के रूप में किया है । "शब्दशास्त्र" नाम का प्रयोग भी इसी अर्थ में बहुधा किया जाता है । ये दोनों पद शब्द-उपपदपूर्वक अनुशास् और शास् धातु से करणार्थक अन {ल्युट्} और त्र {ष्ट्रन्} प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुए हैं । दोनों में 'शब्द' कर्मसंज्ञक हैं । -"जिस साधन से असाधु शब्दों से पृथक् करके साधु शब्द बोधित किए जाएं" -यह शब्दानुशासन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ निकलता है ।[3] इसी प्रकार "शब्दा: = असाधुशब्देभ्य: पृथक्कृता: साधुशब्दा: शिष्यन्ते = उपदिश्यन्ते येन" यह शब्दशास्त्र का अर्थ है । शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र तथा व्याकरण - इन तीनों का प्रवृत्ति-निमित्त एक ही है ।

---

1. तत्रायं व्याकरणशब्द: किं ब्रूते । व्याक्रियते इत्यनेनद्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाधिख्यासन्नुपन्यासं करोति । शब्दो हि कश्चित्तुल्यरूप: प्रवर्तमानो भिन्नार्थो भिन्ननिमित्त: परस्परमनपेक्षमाण: प्रवर्तते । -व्या० म० भा०, त्रि०, आ० ।
2. वा० प० 2·12 तथा व्या० म० भा० प्रदीप 5·3·68 पृ०47।
3. अनुशिष्यन्ते = विविच्य, असाधुशब्देभ्यो विभज्य बोध्यन्ते येनेति करणे ल्युट् । तत: शब्दानामिति कर्मणि षष्ठी, तदन्तेन समास: ।

-शब्दकौस्तुभ, आ० १, पृ० ३·

व्याकरणागम एवम् व्याकरण-स्मृति :

दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि ने व्याकरण के लिए अनेक स्थानों पर "व्याकरणस्मृति" या "व्याकरणागम" शब्द का प्रयोग किया है ।[1] स्मृति उसे कहते हैं जो अपौरुषेय एवं नित्य श्रुति {वेदवचनों} से संकेत प्राप्त करके शिष्टों {महर्षियों} द्वारा अपने-अपने सामर्थ्य तथा अपेक्षा के अनुसार समय-समय पर रची जाती हैं ।[2] पुरस्कृत होने पर भी परम्परा से उत्तरोत्तर निबध्यमान या निरन्तर ग्राह्य होने के कारण उस स्मृतिरूप व्यवस्था में भी अविच्छेद अर्थात् प्रवाह-नित्यता बनी रहती है । इस प्रकार अविच्छिन्न रूप से चली आ रही श्रुति और स्मृति दोनों को आगम कहा जाता है ।[3] व्याकरण शास्त्र भी इन्द्र, महेश्वर, भागुरि, पौष्करसादि, काशकृत्स्न, शौनक, आपिशलि, गार्ग्य, शाकटायन, स्फोटायन, व्याडि, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, वसुरात, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों द्वारा पूर्व परम्परा से प्राप्त नियमों के आधार पर उत्तरोत्तर अपने-अपने सामर्थ्य अथवा युगानुरूप अपेक्षाओं के अनुसार निरन्तर निबध्यमान तथा ग्राह्य बना रहा है, अतः इसे व्याकरण-स्मृति या व्याकरणागम कहना उचित है । स्पष्ट है कि पाणिनि आदि द्वारा रचित व्याकरण ग्रन्थ उनके सर्वथा नये मौलिक प्रयास नहीं हैं, बल्कि व्याकरण तो शब्दों के विश्लेषण की सुदीर्घ, परम्परा से प्राप्त व्यवस्था या पद्धति है ।

व्याकरण के आठ अंग :

व्याकरण शास्त्र का शरीर इन आठ अंगों से संगठित है- अन्वाख्येय और प्रतिपादक - ये द्विविध साधु शब्द, इनके स्थित-लक्षण और

---

1. वा० प० 1.29, 142 तथा काण्ड 2 . 480-82
2. अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
   शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ।।
   भावतत्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः ।। -वा० प०, 1.145-46
3. श्रुतेरपौरुषेयतया श्रुतेर्वाऽपौरुषेयतया स्मृतिनिबन्धनाविच्छेदात् अविच्छिन्न-श्रुतिस्मृत्याख्यः आगमः । - वृषभ, वा० प० टीका, 1.30

अपोद्धार पदार्थ – ये दो प्रकार के अर्थ, उनमें कार्यकारण-भाव और योग्यता-ये दो प्रकार के सम्बन्ध तथा धर्मप्राप्ति और अर्थबोध – ये दो प्रकार के फल। इन आठ अंगों का व्याकरण में आगम के अनुसार विवेचन किया गया है।[1]

अन्वाख्येय शब्द पदरूप और वाक्यरूप हैं, क्योंकि इनका ही व्याकरण द्वारा अन्वाख्यान किया जाता है। कुछ वैयाकरण पदावधिक तो, कुछ वाक्यावधिक अन्वाख्यान मानते हैं। प्रतिपादक शब्द प्रकृति और प्रत्ययरूप हैं। ये अपने स्वरूप बोधन के साथ अन्वाख्येय –'पद और वाक्य' का अन्वाख्यान करते हैं। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय पदसंस्कार पक्ष में पदों का और वाक्यसंस्कार पक्ष में वाक्य का प्रतिपादन करते हैं।

इसी प्रकार अर्थ भी दो प्रकार के हैं। इनमें से स्थित-लक्षण पदार्थरूप और वाक्यार्थरूप हैं। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ हैं क्योंकि इन्हें पदार्थों से अन्वयव्यतिरेक से विभक्त किया जाता है। ये अपोद्धारपदार्थ अर्थात् प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ अखण्ड पदार्थ के ज्ञान में उपाय हैं और सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान होने पर उसी में तिरोहित हो जाते हैं। परन्तु पदार्थ कहीं भी तिरोहित नहीं होते, अत: ये स्थितलक्षण हैं – ऐसा पदावधिक संस्कार मानने वाले मानते हैं। पदार्थ भी वाक्यार्थ में तिरोहित हो जाते हैं, अत: वाक्यार्थ ही स्थित लक्षण है ऐसा वाक्यवादियों का मानना है। भर्तृहरि ने इनमें से वाक्यार्थ को ही स्थित लक्षण मानने वाले मत को सिद्धान्त पक्ष माना है।[2]

---

1. अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
   अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः॥
   कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
   धर्मे प्रत्यये चांगं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु॥
   ते लिंगैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
   स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्॥

   – वा० प०, 1. 24-26

2. द्र०-वा० प० 1. 24-26 पर स्वोपज्ञ टीका तथा पं० रघुनाथकृत अम्बाकर्त्री व्याख्या।

उक्त शब्दों और अर्थों में परस्पर सम्बन्ध दो प्रकार के हैं - कार्यकारणभाव और योग्यता । इनका स्वरूप अगले पृष्ठों में स्पष्ट किया जाएगा ।

शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का फल भी दो प्रकार का है, अर्थबोध और धर्मलाभ । साधु और असाधु शब्दों में से केवल साधु शब्दों में ही धर्मविशेष के उत्पादन का सामर्थ्य होता है जबकि अर्थबोध अर्थात् अभिप्राय सम्प्रेषण दोनों से ही हो सकता है[1] । अर्थबोध के साथ-साथ धर्मलाभ में भी कारण होने से व्याकरण केवल साधु शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है ।

इस प्रकार व्याकरण का शरीर उक्त आठ अंगों से संगठित है ।

<u>व्याकरण की प्रवृत्ति के उद्देश्य :</u>

संस्कृत का व्याकरण मुख्यत: तीन उद्देश्यों को लेकर प्रवृत्त हुआ है । शब्दज्ञान, शब्दसाधुत्वज्ञान तथा असत्य से सत्य की प्राप्ति । शब्द अर्थबोधन एवं अभिप्राय प्रकाशन का सरलतम और सर्वोत्कृष्ट साधन है । इन शब्दों का ज्ञान शब्दकोश, शब्दपारायण आदि के प्रतिपद पाठ द्वारा करवाना असम्भव है ।[2] अत: व्याकरण ही एक ऐसा लघुतम उपाय है जो अपने नियमों या संक्षिप्त सूत्रों द्वारा अल्प समय में और अल्प परिश्रम से विपुल शब्दराशि का पदसंस्कार सहित ज्ञान करवाने में समर्थ है ।[3] मुख्यतया अपने प्रारम्भिक काल में व्याकरण इसी उद्देश्य से प्रवृत हुआ ।

इसका दूसरा उद्देश्य शब्दसाधुत्व का ज्ञान करवाना है ।[4]

1· वा० प० 1·25,27

2· अनभ्युपाय: एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ: इति । ··· इत्यादि
-व्या० म० भा०, आ०, । पृ० 34

3· क॥ ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा: ज्ञेया: इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दा: शक्या ज्ञातुम् । - वही, पृ० 35

ख॥ येनाल्पेन यत्नेन महतो महत: शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् ।
- व्या० म० भा०, आ० । पृ० 35

4· साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति: । -वा० प०, 1·142

वैयाकरणों ने शब्द दो प्रकार के माने हैं – साधु [संस्कृत] और असाधु [अपभ्रंश] । वैदिक परम्परा से प्राप्त तथा लोकव्यवहार में शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुज्यमान शब्दों को साधुशब्द तथा शेष को असाधु कहा गया है । इन साधु और असाधु शब्दों में अर्थ को प्रकट करने की योग्यता तो समान है परन्तु धर्मजनकता केवल साधुशब्दों में मानी गयी है ।[1] संस्कृत-व्याकरण साधु-असाधु शब्दों के भेद से अपरिचित व्यक्ति को शब्दसाधुत्व का ज्ञान करवाता है । व्याकरण-शास्त्र से हुए इस विशिष्ट शब्दसाधुत्व ज्ञान से तथा तदनुसार प्रयोग से व्याकरणज्ञाता को धर्म की प्राप्ति होती है ।[2] यह धर्मविशेष मोक्षप्राप्ति में कारण बनता है । इस परम पुरुषार्थ के लिए शब्दसाधुत्व का ज्ञान करवाना भी व्याकरण की प्रवृत्ति में हेतु है ।[3]

व्याकरण का तीसरा प्रमुख उद्देश्य है – असत्य द्वारा सत्य की प्राप्ति ।[4] जिस प्रकार व्याकरण में अनुबन्धों तथा कृत्रिम संज्ञाओं की कल्पना को शब्दज्ञान करवाने में सहायक बनाया जाता है अथवा जिस प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चार असत्य कोशों का क्रमशः ज्ञान करवाकर ततः पांचवें सत्य – आनन्दमय कोश का ज्ञान और अनुभूति करवाने का सिद्धान्त

---

1. शिष्टेभ्यः आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।
   अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ।। – वा० प०, 1·27
2. क] लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।
   –व्या० म० भा०, वा०, आ०–1
   ख] शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः तत्तुल्यं वेदशब्देन ।
   – व्या० म० भा०, वा०, आ०–1
3. क] तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् । – वा० प० 1·14
   ख] शब्दपूर्वं हि शब्दस्वरूपस्याभेदतत्त्वज्ञः क्रमसंहारेण योगं लभते । साधु-प्रयोगाच्चाभिव्यक्तधर्मविशेषो महान्तं शब्दात्मानमभिसंभवन् वैकरण्यं प्राप्नोति । – वही, हरिवृत्ति
   ग] इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः । –वा० प० 1·16
4. असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते । –वही, 2·238

वेदान्त में है, उसी प्रकार व्याकरण भी कल्पना का सहारा लेकर वाक्य को पदों में तथा पदों को प्रकृति-प्रत्ययों में विभक्त करके कल्पित अन्वयव्यतिरेक द्वारा उनके अर्थों का विभाग कल्पित करके क्रमशः पद पदार्थ, वाक्यवाक्यर्थ, सूक्ष्म अखण्ड स्फोट तथा परम सत्य शब्दब्रह्म का ज्ञान करवाने में साधन बनता है।[1] इस प्रकार व्याकरण मुख्यतः शब्दज्ञान, शब्दसाधुत्वज्ञान तथा असत्य से सत्य की प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त हुआ है।

व्याकरण के दो पक्ष :

उक्त विवेचनों से संकेत मिलता है कि संस्कृत व्याकरण के दो पक्ष हैं - प्रक्रिया-पक्ष और दर्शन-पक्ष।

प्रक्रिया पक्ष :

नियमों के साथ धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात, आगम, आदेश -"इन करणों" से संस्कार पूर्वक शब्दों का व्युत्पादन एवं सिद्धि करना व्याकरण का प्रक्रिया पक्ष है।[2] काशिका आदि की लक्षण-प्रधान सरणि वाला अथवा वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी आदि की लक्ष्य-प्रधान पद्धति वाला पाणिनीय व्याकरण तथा अन्य सारस्वत, सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि व्याकरणों - का प्रमुख उद्देश्य संस्कार-पूर्वक शब्दज्ञान और शब्दसाधुत्व का ज्ञान करवाना रहा है। संस्कृत-व्याकरण का यह प्रक्रिया-पक्ष हमारे शब्द-सम्पत्ति रूप लौकिक और धर्मप्राप्तिरूप पारलौकिक प्रयोजनों की सिद्धि में साधकतम होने से जन-सामान्य में व्यापक अध्ययन का विषय बनता आया है।

दर्शन-पक्ष :

व्याकरण का दूसरा पक्ष दर्शन विषय से सम्बन्धित है जो प्रायः प्रौढ़ वैयाकरणों या प्रबुद्ध जिज्ञासु-जनों के अध्ययन का विषय रहा है।

---

1. क़ पंचकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।
   उपाय-प्रतिपत्त्यर्थाः उपाया अव्यवस्थिताः॥ -वै० भू० सा०, का० 68
   ख़ वा० प०, 1.73, 131, 2.12, 238 आदि
2. लघु श० शे०, पृ० 18

शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के विभिन्न पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण, इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों, नित्यताअनित्यता, व्यावहारिक शास्त्रीय और पारमार्थिक सत्ता, मूल कारण आदि पर तात्त्विक विचार - व्याकरण के दर्शनपक्ष में आता है। महान् दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि का वाक्य-पदीय व्याकरण-दर्शन का मुख्य प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसका आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी, व्याडि का संग्रह और पातंजलमहाभाष्य रहा है।[1] पाणिनि की अष्टाध्यायी स्पष्टत: तो व्याकरण का प्रक्रियाग्रन्थ लगता है, परन्तु वस्तुत: इसका अष्टांग शरीर व्याकरण के दर्शन के लिए व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। दर्शन इसकी आत्मा है। इसके व्याख्यानरूप ग्रन्थ पातंजल महाभाष्य में भी व्याकरण-दर्शन के अनेक सिद्धान्त वार्तिक और भाष्य में प्रतिपादित हुए हैं। वाक्यपदीय के बाद वैयाकरणभूषण, वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा, स्फोटवाद आदि ग्रन्थ भी व्याकरण के दर्शनपक्ष का ही प्रतिपादन करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि विज्ञ वैयाकरण की इष्टसिद्धि सूत्रात्मक व्याकरण से ही हो जाती है, अत: उसके लिए "सूत्र" (तथा वार्तिक) ही व्याकरण है - कहा गया है। परन्तु अविज्ञ एवं नवीन अध्येता को संस्कारपूर्वक शब्दज्ञान केवल नियमों (सूत्रों) से नहीं हो पाता। उसके लिए नियमों के साथ-साथ वृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि व्याख्यान भी अपेक्षित होता है। अत: उनके लिए यह सब मिलकर व्याकरण कहलाता है।[2] इसी प्रकार व्याकरण के दर्शन का ज्ञान करवाने के लिए भी महाभाष्य, वाक्यपदीय, भूषण और मंजूषा जैसे व्याख्यान-ग्रन्थों का अध्ययन भी अपेक्षित होता है। अत: ये व्याख्यान ग्रन्थ भी व्याकरण से अपृथक् एवं इसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

व्याकरण-दर्शन के दर्शनत्व में औचित्य क्या है, यह जानने के लिए "दर्शन" शब्द के अर्थ तथा इसकी परिभाषा पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

1. वा० प० 2.476 से 82

2. न हि सूत्रत: एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि। व्याख्यानतश्चेति। ......अविजानत एतदेवम् भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते।
- व्या० म० भा०, आ०-1 पृ० 64

"दर्शन" का अर्थ :

दर्शन शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दृशिर् प्रेक्षणे धातु[1] से ल्युट् {=अन} प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है । यह ल्युट् {=अन} प्रत्यय भाव, करण तथा अधिकरण - इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है ।[2] अतः दर्शन शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं, जो इस प्रकार हैं -

भाव-ल्युडन्त - भावार्थक ल्युडन्त मानने पर दर्शन शब्द का अर्थ होगा - प्रेक्षण अर्थात् प्रकृष्ट दर्शन या दृष्टि । ऐसा प्रेक्षण अथवा दर्शन या तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान हो सकता है या प्रत्ययीज्ञान । अथवा अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभूत ज्ञान हो सकता है ।[3] भारतीय दर्शन में दृष्टियां किम्वा अनुभूतियां दो प्रकार की मानी गयी हैं - ऐन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय । इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न दृष्टियां (अनुभूति) ऐन्द्रिय हैं जिसे लौकिक-प्रत्यक्ष भी कहा जाता है ।[4] दूसरी अनैन्द्रिय अनुभूति आध्यात्मिक अनुभूति है । रागद्वेष से परे, रजोगुण और तमोगुण के आवरण से रहित, सत्वोद्रेक से प्रकाशमान साक्षात्कृतधर्मा युक्त-योगियों एवम् महामनीषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से जन्य अन्तर्दृष्टि किम्वा अनैन्द्रिय अनुभूति अलौकिक या योगज प्रत्यक्ष कहलाती है ।[5] भूत और भविष्य के तथा अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में ऐसे ऋषियों-मनीषियों का आर्ष दर्शन किम्वा ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष के समान ही सर्वथा

---

1. पाणिनीय धातु-पाठ, धातु सं० 988
2. नपुंसके भावे क्तः । - पा० सू० 3·3·114
   ल्युट् च । - पा० सू० 3·3·115
   करणाधिकरणयोश्च । - पा० सू० 3·3·117
3. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-1 पृ० 3
4. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।
   - न्या० द०, 1·1·4
5. योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुंजानभेदतः ।
   युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्ता सहकृतोपरः ॥
   - भा० मु०, अनु० खण्ड

विश्वसनीय होता है ।[1] इस प्रकार दृशिर् प्रेक्षणे धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर बने "दर्शन" शब्द का अर्थ है - उक्त प्रकार का तात्त्विक प्रेक्षण, तात्त्विक दृष्टि या तात्त्विक ज्ञान जिसका फल है तात्त्विक सिद्धान्त ।

<u>करण-ल्युडन्त</u> - करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मानने पर "दर्शन" शब्द का अर्थ होता है - वह साधन जिसके द्वारा उक्त प्रकार का प्रेक्षण किया जाए । अर्थात् वह साधन, वह प्रक्रिया या पद्धति, वह शास्त्र जिसके द्वारा उक्त प्रकार का तात्त्विक-दर्शन या तात्त्विक ज्ञान हमें प्राप्त होता हो, दर्शन कहलाता है ।[2]

<u>अधिकरण-ल्युडन्त</u> - दर्शन शब्द में अधिकरण (आधार) अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मानने पर ऐसे ग्रन्थ भी "दर्शन" कोटि में आते हैं जिनमें इस प्रकार के तात्त्विक प्रेक्षणों एवम् सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो ।

"व्याकरण-दर्शन" का अर्थ :

"व्याकरण" तथा "दर्शन" इन दोनों पदों का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर "व्याकरण-दर्शन" का अर्थ सरलता से समझ में आ जाता है । इन दोनों पदों को करण-ल्युडन्त मानने पर इनके समानाधिकरण होने से "व्याकरणंच तद् दर्शनंच" ऐसा कर्मधारय समास होगा जिसका अर्थ होगा - वह साधन, पद्धति या शास्त्र जो साधु शब्दों को व्याकृत (प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक विवेचित) भी करे और आर्ष दृष्टि से पद-पदार्थों आदि का तात्त्विक दर्शन या तात्त्विक ज्ञान भी कराए ।[3]

पातंजल महाभाष्य में यद्यपि "व्याकरण" पद में करण अर्थ में ल्युट् बताया गया है,[4] परन्तु ऐसा वहां विशेष सन्दर्भ में कहा गया है ।

---

1. आविर्भूत-प्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
   अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।
   अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । -वा० प०, 1.37, 38
2. तत्वज्ञानसाधनं शास्त्रम् दर्शनम् । - न्यायकोश, पृ० 349
3. व्या० द० भू०, पृ० 2
4. व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम् । -व्या० म० भा०, 3.[illegible]-1

अत: व्याकरण शब्द में अधिकरण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मानने में भी कोई बाधक नहीं है । ऐसा मानने पर व्याकरण शब्द इस शास्त्र के ग्रन्थों का वाचक होगा तथा दर्शन शब्द में भी अधिकरण अर्थ में[1] ल्युट् मानने पर ये दोनों शब्द समानाधिकरण होंगे । अत: कर्मधारय समास होने से अर्थ होगा - "वह ग्रन्थ जिसमें शब्दों को व्याकृत भी किया गया हो तथा जिसमें उनके तात्त्विक प्रेक्षणों (सिद्धान्तों) का भी प्रतिपादन हो ।

व्याकरण शब्द करणल्युडन्त और दर्शनशब्द भावल्युडन्त मानने पर "[व्याकरणस्य दर्शनम् = व्याकरण-दर्शनम्" इस प्रकार कर्ता अर्थ में षष्ठी[2] तथा तत्पुरुष समास होगा । ऐसा मानने पर "व्याकरण-दर्शन" का अर्थ होता है - शब्दों को व्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विभाग पूर्वक अर्थ और सम्बन्ध सहित विवेचित करने वाले शास्त्र का प्रेक्षण," अर्थात् दार्शनिक वैयाकरणों की अन्तर्दृष्टि से लभ्य तात्त्विक दर्शन, ज्ञान, फलत: सिद्धान्त ।

इस प्रकार "व्याकरण-दर्शन" की प्रत्येक व्युत्पत्ति के अनुसार व्याकरण-शास्त्र की परम्परा में आए स्फोटायन, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि आदि तत्त्वद्रष्टा ऋषियों - महामनीषियों की अन्तर्दृष्टि या योगज प्रत्यक्ष से प्राप्त सभी प्रकार के विश्लेषण, एवं (सिद्धान्त, व्याकरण-दर्शन-पद-वाच्य हो जाते हैं । उक्त प्रेक्षण, विश्लेषण तथा सिद्धान्त जिन ग्रन्थों में किये गए हों, तथा ऐसा प्रेक्षण तथा विश्लेषण करने वाले शास्त्र का नाम भी "व्याकरण-दर्शन" सिद्ध होता है ।

---

1. नपुंसके भावे क्त: ।
   ल्युट् च ।
   करणाधिकरणयोश्च । - पा० सू०, 3.3.114, 15, 17
2. कर्तृकर्मणो: कृति (षष्ठी) । - पा० सू० 2.3.65

व्याकरण-दर्शन का दर्शनत्व एवं प्रतिपाद्य :

भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में यह आम धारणा है कि जो शास्त्र आत्मा, परमात्मा, जगत का मूल कारण, पुनर्जन्म आदि आध्यात्मिक विषयों पर विचार प्रस्तुत करता हो तथा लौकिक पदार्थों के विश्लेषण का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा अध्यात्म में ही करता हो, उसे ही दर्शन कहा जा सकता है। व्याकरण-दर्शन में दर्शन जैसी कोई बात दिखती नहीं है, अतः इसे दर्शन मानने और भारतीय दर्शनों में परिगणित करने का औचित्य क्या है ? - यह प्रश्न होता है। अतः यहां व्याकरण-दर्शन के दर्शनत्व एवं इसके प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

संस्कृत व्याकरण दर्शन के दर्शनत्व में निम्न हेतु हैं -

1. पहले ही बताया जा चुका है कि दृशिर दर्शने धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुए दर्शन का अर्थ है - प्रेक्षण, अर्थात् महामनीषियों की अन्तर्दृष्टि से जन्य तात्त्विक ज्ञान या सिद्धान्त अथवा ऐसा साधन, पद्धति या प्रक्रिया जिसके द्वारा इस प्रकार का प्रेक्षण (तात्त्विक ज्ञान) प्राप्त किया जाए या फिर ऐसा ग्रन्थ जिसमें ऐसा प्रेक्षण अर्थात् तात्त्विक ज्ञान निबद्ध हो। दर्शन के इन तीन अर्थों के अनुसार व्याकरण दर्शन का दर्शनत्व सुतराम् उपपन्न है, क्योंकि इसमें जितने भी सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे स्फोटायन, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि जैसे साक्षात्कृतधर्मा तत्त्वद्रष्टा महामनीषियों की आर्ष दृष्टि का फल है।[1] साधन के रूप में भी यह दर्शन या पद्धति जिज्ञासु साधकों को ऐसा ज्ञान करवाने में समर्थ है।[2] "दर्शन" के तीसरे अर्थ एवं परिभाषा के अनुसार महाभाष्य, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थ भी व्याकरण-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं क्योंकि इनमें भी तत्त्वद्रष्टा दार्शनिक वैयाकरणों के तात्त्विक प्रेक्षण निबद्ध हैं।[3]

---

1. तपसामुत्तमं तपः। - वा० प० 1.11
2. तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः। - वही, 1.122
3. तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते। - वही, 1.13

2· व्याकरण-दर्शन का प्रतिपाद्य विषय इसके दर्शनत्व में जीता-जागता प्रमाण है । वैयाकरणों ने कल्पित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा शब्दों (वाक्य या पद) तथा उनके अर्थों का विभाग कल्पित करके[1] धातु और धात्वर्थ, नाम और नामार्थ, निपात और निपातार्थ, सुप् प्रत्यय और सुबर्थ, तिङ् और तिङर्थ, कृत और कृदर्थ, तद्धित और तद्धितार्थ तथा इनके सम्बन्ध - इन सबका बहुत सूक्ष्म विश्लेषण शब्दशास्त्र की दृष्टि से किया है ताकि इस कल्पना से सरलता से विपुल शब्दराशि का ज्ञान करवाया जा सके । इनमें से प्रकृति और प्रत्यय - ये पदावयव, प्रतिपादक शब्द के नाम से कहे जाते हैं तथा प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ - ये अपोद्धार पदार्थ कहलाते हैं । पद और वाक्य रूप अन्वाख्येय शब्दों तथा पदार्थ और वाक्यार्थरूप स्थित-लक्षण अर्थों का विवेचन[2] व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है, क्योंकि वैयाकरणों के मतानुसार अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ ही सत्य है । वाक्य में पद विभाग तथा पदों में प्रकृति - प्रत्यय या वर्णों का विभाग सत्य नहीं है । इसी प्रकार इनके वाच्य पदार्थों का विभाग भी सत्य नहीं है[3]। यह विभाग तो कल्पित अन्वयव्यतिरेक के आधार पर मात्र शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिए कल्पित किया गया है,[4] ताकि इस लघुतम उपाय के द्वारा अधिक से अधिक शब्दों को अल्प समय और अल्प परिश्रम के द्वारा जाना जा सके[5]। इसलिए शब्दों का प्रकृति और प्रत्ययों में

1· अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययानाम् इह शास्त्रे अर्थवत्ता परिकल्पनात् ।
-व्या० म० भा०, प्रदीप 5·3·68 पर

2· अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः ।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ।। -वा० प० 1·24

3(क) शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ।। -वा० प० 2·13

(ख) पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।। - वा० प०, 1·13

4· अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम् ।। - वा० प०, 2·12

5· येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् । -व्या० म० भा०, आह्निक -1 पृ० 35

तथा शब्दार्थ या वाक्यार्थ का भी पदार्थों या प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थों में विभाग केवल शब्दशास्त्र की दृष्टि से सत्य हैं जबकि व्यावहारिक दृष्टि से केवल अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ ही सत्य है ।

इसी प्रकार ध्वन्यात्मक {वैखरी} शब्दों को व्यवहार में अर्थ-बोधक समझा जाता है । परन्तु तात्विक दृष्टि से ये शब्द सूक्ष्म स्फोट के व्यंजकमात्र हैं । तात्विक दृष्टि से हृदयाकाशस्थ सूक्ष्म स्फोट शब्द ही वृत्याश्रय अर्थात् अर्थबोधक हैं ।[1] यह स्फोट भी यद्यपि एक और अखण्ड है, तथापि ध्वन्यात्मक शब्दों के संस्कार के कारण यह भी वर्णस्फोट पद स्फोट और वाक्य स्फोट के रूप में भिन्न-भिन्न, सखण्ड तथा सक्रम प्रतीत होता है ।[2] यह स्फोट मूलत: शब्दब्रह्म का ही रूप है । पारमार्थिक दृष्टि से शब्दब्रह्म ही एक, मूल एवं नित्य तत्त्व है जो नामों तथा समस्त अर्थजगत के रूप में विवर्त को प्राप्त है ।[3] इस प्रकार का तात्विक चिन्तन और क्रमश: असत्य से सत्य का अन्वेषण व्याकरण शास्त्र को दर्शन की कोटि में लाकर खड़ा कर देता है ।

इसी प्रकार शब्द, अर्थ के मध्य कार्यकारणभाव और योग्यता रूप सम्बन्ध, शब्द अर्थ और सम्बन्ध की नित्यता-अनित्यता, शब्दों की अर्थबोधकता और धर्मजनकता, वृत्ति का स्वरूप, द्रव्य, जाति, कारक, लिंग, उपग्रह, पुरुष, संख्या, क्रिया आदि का स्वरूप और इनकी वाच्यता आदि भी व्याकरण-दर्शन के प्रतिपाद्य विषय हैं जिनका सूक्ष्म विश्लेषण एवं चिन्तन व्याकरण के दर्शनत्व को सिद्ध करता है ।

3· व्याकरण-दर्शन के विवेचन का केन्द्र-बिन्दु यह मूलभूत दर्शन या तात्विक सिद्धान्त है कि इस सृष्टि का परम कारण अनादिनिधन {नित्य} ब्रह्म है जो

1· वा० प० 1·44,83,84

2· वा० प० 1·48·49

3· अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।। — वा० प०, 1·1

शब्दतत्त्वात्मक और अक्षर है । यही शब्दब्रह्म समस्त अर्थजगत् के रूप में विवर्त को प्राप्त होता है ।[1] यह शब्दब्रह्म एक है, अद्वितीय है परन्तु शक्ति की विचित्रता से यह भिन्न एवं अनेक रूपों में प्रतीत होता है ।[2] यही शब्दब्रह्म भोक्ता भोक्तव्य और भोग - सब रूपों में स्थित है ।[3] यही नामरूपात्मक जगत् में विवर्त को प्राप्त हुआ है ।[4] यही शब्दब्रह्म अविद्या के कारण प्रयोक्ता के शरीर के अन्दर अन्तर्यामी आत्मा के रूप में सुख-दुःख का भोग करता हुआ स्थित है ।[5] व्याकरण से प्रयोक्ता को ज्ञान होता है कि ये शास्त्र द्वारा प्रतिपादित शब्द साधु एवं धर्मजनक हैं - शेष शब्द असाधु हैं ।[6] साधु शब्दों के शास्त्रीय संस्कारपूर्वक ज्ञान से तथा इनके सम्यक् प्रयोग से प्रयोक्ता को धर्म-प्राप्ति होती है ।[7] जिससे अविद्या का नाश होता है तथा शब्दब्रह्म-रूप महान् देव से ऐक्यरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।[8] किंच व्याकरण द्वारा उस शब्दब्रह्म की प्रवृत्ति के तत्त्व को जानने वाला वैयाकरण अमृतब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।[9]

---

1. वा० प०, 1·1

2. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् । - वा० प०, 1·2

3. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ।। - वा० प०, 1·4

4. वा० प०, 1·1, 121

5. क· अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
   प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। - वा० प०, 1·130

   ख· परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः · · · · आदि । - वही, हरिवृत्ति

6. वा० प०, 1·142

7. व्या० म० भा०, आ०-1

8. वा० प०, 1·130

9. क· तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
   तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ।। - वा० प०, 1·131

   ख· महता देवेन नः साम्यं यथा स्याद् इत्यध्येयं व्याकरणम् ।
   -व्या० म० भा०, आ०-1

इस प्रकार व्याकरण-दर्शन जगत् के परम कारण शब्दब्रह्म का स्वरूप, उससे नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि, विवर्तवाद, शब्दसाधुत्वज्ञान से धर्मप्राप्ति और उससे मोक्ष की अवधारणा का प्रतिपादन करता है । अतः आध्यात्मविषय पर विचार प्रस्तुत करने के कारण तथा पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ आदि लौकिक पदार्थों के समस्त विश्लेषण का पर्यवसान भी शब्दब्रह्म एवं उसकी प्राप्ति रूप मोक्ष में ही करने से व्याकरण के दर्शनत्व में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता है ।

4. व्याकरण-दर्शन का "शब्दाद्वैत" सिद्धान्त आचार्य शंकराभिमत निर्विशेष-ब्रह्माद्वैतवाद तथा शैवाद्वैत आदि सिद्धान्तों से अनेक दृष्टि से विशिष्ट है जो अद्वैतवादी दर्शनों में प्रमुख स्थान रखता है ।[1] आचार्य भर्तृहरि द्वारा "वाक्य-पदीय" जैसा दर्शनग्रन्थ रचने के उपरान्त व्याकरण-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को अन्य दर्शनों के प्रमुख दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में, यथा- पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका में, सोमानन्द ने शिवदृष्टि में, उमामहेश्वर ने तत्वदीपिका में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी में, शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में तथा मण्डनमिश्र ने स्फोट-सिद्धि में[2] आदर के साथ समर्थन या अपने-अपने दर्शनानुसार समीक्षा करते हुए प्रतिपादित किया है । यह तथ्य व्याकरण-दर्शन के दर्शनत्व को ही नहीं बल्कि इस बात को भी सिद्ध करता है कि दर्शन-निकाय में व्याकरण-दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है ।

इसी कारण सर्वदर्शनों के तलस्पर्शी विद्वान् माधवाचार्य ने सर्व-दर्शनसंग्रह में व्याकरण-दर्शन को पाणिनि-दर्शन के नाम से संगृहीत करके इसके सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है । व्याकरण-दर्शन के प्रमाणभूत दार्शनिक-

---

1. आचार्यभर्तृहरेः शब्दब्रह्मवादः शैवाद्वैतादिदर्शनाद् - आचार्य श्रीशंकराभि-मतनिर्विशेषब्रह्माद्वैतदर्शनाच्च यथोक्तं स्वीयं वैशिष्ट्यं धारयति । येनाद्वैतवादि-दर्शनेषु श्रीभर्तृहरेः शब्दाद्वैतवादोऽयं प्रमुखं स्थानं लभत इति ।

- श्री शंकरात्प्रागद्वैतवादः, पृ0 270

2. द्रष्टव्य - प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम अध्याय ।

वैयाकरण भर्तृहरि ने स्वयं भी व्याकरण को अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त आगम कहकर इसके सिद्धान्तों को "दर्शन" शब्द से अभिहित किया है ।[1] इस प्रकार "व्याकरण-दर्शन" का दर्शनत्व सुतराम् सिद्ध है ।

व्याकरण-विभाग

वैदिककाल से आज तक रचे गये जितने संस्कृत व्याकरण उपलब्ध होते हैं, उन्हें लक्ष्यों की दृष्टि से निम्न तीन वर्गों में रखा जा सकता है -

1. वैदिक व्याकरण - ऋक्तन्त्र, प्रातिशाख्य आदि
2. लौकिक व्याकरण - कातन्त्र आदि
3. उभयविध व्याकरण - पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि

वैदिक व्याकरण :

उपलब्ध वैदिक व्याकरण के ग्रन्थों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं -

1. प्रातिशाख्य और 2. ऋक्तन्त्र आदि

प्रातिशाख्य :

प्रातिशाख्य में वेद की किसी एक चरण की सभी शाखाओं के मन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों तथा पदपाठ और क्रमपाठ आदि के नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख मिलता है । प्राचीनकाल में चरण के अर्थ में प्रतिशाखा शब्द का प्रयोग होता था तथा जिन्हें सम्प्रति शाखा कहा जाता है, उन्हें अवान्तरशाखा या अनुशाखा कहा जाता था ।[2] प्रातिशाख्य के लिए

---

1. न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
   प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ।। - वा०प०, 2·482
2. क) विष्णुपुराण अंश 3 अ० 4 श्लोक-5
   ख) सं० व्या० शा० इति० भाग-1 पृ० 328

प्राचीनकाल में पार्षद शब्द का प्रयोग भी होता था ।[1] इस समय केवल निम्न प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं -

1. ऋक्प्रातिशाख्य - शौनककृत ।
2. वाजसनेयप्रातिशाख्य - कात्यायनकृत ।
3. सामप्रातिशाख्य - वररुचिकृत ।
4. अथर्वप्रातिशाख्य - कर्ता अज्ञात ।
5. मैत्रायणीयप्रातिशाख्य - कर्ता अज्ञात ।
6. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य - कर्ता अज्ञात ।

इनके अतिरिक्त निम्न चार प्रातिशाख्यों के मात्र नाम विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु ये प्रातिशाख्य सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं ।-

7. आश्वलायनप्रातिशाख्य[2] - कर्ता अज्ञात ।
8. वाष्कलप्रातिशाख्य[3] - कर्ता अज्ञात ।
9. शांखायनप्रातिशाख्य[4] - कर्ता अज्ञात ।
10. चारायणप्रातिशाख्य[5] - कर्ता अज्ञात ।

प्रातिशाख्यतुल्य वैदिक व्याकरण :

उक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त इन्हीं की तरह का विवेचन करने वाले अन्य वैदिक व्याकरण निम्न नामों से वर्तमान में उपलब्ध हैं -

---

1. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि । - निरु. 1.17
2. नात्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धम् । - वाज० प्रा०, अनन्तभाष्य मद्रास संस्करण, पृ. 4
3. उपद्रुतो नाम सिन्ध्वबाष्कलादीनां प्रसिद्धस्तस्योदाहरणम्.... । - शांखायन श्रौतभाष्य 12.13.5
4. अलवर राजकीय हस्तलेख-संग्रह, सूचीपत्र, क्रिया-17
5. "तथा च चारायणिसूत्रम् ...पुरुकृते च्छ्रयोः, इति पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छे परतः । - देवपालकृत लौगाक्षिगृह्यभाष्य में उद्धृत (5.1 पृ. 101, 102)

1· ऋक्तन्त्र – शाकटायन या औदव्रजि प्रणीत ।
2· लघु ऋक्तन्त्र – कर्ता अज्ञात ।
3· अथर्वचतुरध्यायी – शौनक अथवा कौत्स प्रणीत ।
4· प्रतिज्ञासूत्र – कात्यायनकृत
5· भाषिकसूत्र – कात्यायनकृत
6· सामतन्त्र – औदव्रजि या गार्ग्य कृत
7· अक्षरतन्त्र – आपिशलि कृत ।

इनमें से ऋक्तन्त्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है । नागेश ने[1] इसका कर्ता शाकटायन तथा हरदत्त ने[2] इसका लेखक शाकटायन को ही बताया है । परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इसका कर्ता औदव्रजि बताया है । अथर्वचतुरध्यायी के व्हिटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम है, परन्तु बालशास्त्री गदरे के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में इसका कर्ता कौत्स लिखा है ।[3] सामतन्त्र का कर्ता हरदत्त ने औदव्रजि को बताया है,[4] परन्तु अक्षरतन्त्र की भूमिका में इसका कर्ता गार्ग्य बताया गया है[5]।

उक्त सात ग्रन्थों में से प्रथम पांच में प्रातिशाख्यों की तरह ही प्राय: वैदिक स्वरों और संहितापाठ में होने वाले विकारादि का उल्लेख है । अन्तिम दो में सामगान के नियमों का वर्णन है । पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने इन्हें प्रातिशाख्यों की तरह के ही वैदिक व्याकरण माना है ।[6] उनके विचार से ये ग्रन्थ प्रातिशाख्य इसलिए नहीं है, क्योंकि इनके लिए प्रातिशाख्य शब्द का प्रयोग परम्परा से नहीं हुआ है और न ही एक शाखा के दो-दो

1· ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि-इदमक्षरं छन्दो··· । -ल·श·शे·भाग-1, पृ·7
2· सामसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र, पृ·3
3· द्र·-न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, सित·1938 में पं० सदाशिव एल·कात्रे का लेख
4· सामवेदसर्वानुक्रमणी पृ·4
5· सामतन्त्रं तु गार्ग्येणेत्येवं वयमुपदिष्टा: प्रमाणिकैरिति सत्यव्रत: ।
-अक्षरतन्त्र भूमिका, पृ·2
6· सं·व्या·शा·इति·भाग-1, पृ·69

प्रातिशाख्य हो सकते हैं ।[1] परन्तु विषय की दृष्टि से प्रातिशाख्यों के सदृश अवश्य हैं । डा० सत्यकाम वर्मा ने इन्हें भी प्रातिशाख्य ही माना है ।[2]

प्रातिशाख्य व्याकरण है या भिन्न :

प्रातिशाख्य ग्रन्थ व्याकरण ही हैं अथवा यह व्याकरण से भिन्न विधा है, इस विषय में विद्वानों के तीन वर्ग हैं । कुछ विद्वान् प्रातिशाख्यों को व्याकरण ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न मानते हैं, कुछ इन्हें व्याकरण मानते हुए भी प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से किंचिद् भिन्न मानते हैं तो कुछ इन्हें वैदिक-व्याकरण ही कहते हैं । कीथ[3] और गोल्डस्टूकर ने इन्हें सर्वथा व्याकरण से भिन्न माना है । गोल्डस्टूकर का तर्क केवल इस बात पर आधारित है कि परम्परारूप में प्रातिशाख्यों को प्राचीन व्याकरणों से भिन्न माना जाता रहा है ।[4]

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रातिशाख्यों को तत्-तत् चरणों के व्याकरण मानते हुए भी उन्हें व्याकरण-ग्रन्थों में परिगणित करना उचित नहीं माना है । वह कहते हैं - यद्यपि प्रातिशाख्य तत्-तत् चरणों के व्याकरण हैं, तथापि उनमें मन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है, जिससे पदपाठस्थ मूल पदों के परिज्ञान में सुविधा होते । इसी प्रकार इनमें पदपाठ एवं क्रमपाठ सम्बन्धी आवश्यक नियमों का निर्देश है । प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा पदसाधुत्व के अनुशासन की इनमें आवश्यकता ही नहीं पड़ी । अतः इनकी गणना प्रधानतया शब्दानुशासन ग्रन्थों में नहीं की जा सकती ।[5] परन्तु मैक्डोनल ने प्रातिशाख्यों को व्याकरण के अन्तर्गत ही

1· सं·व्या·शा·इति·भाग--2, पृ·334 द्वितीय संस्करण

2· सं·व्या·उ·वि·, पृ·63

3· कीथ, इति, पृ·502-3

4· पाणिनि : संस्कृत साहित्य में उसका स्थान, (अंग्रेजी) पृ· 195-97

5· मीमांसक, सं·व्या·शा·इति·भाग-1, पृ·67

स्वीकार किया है ।[1] डा० सत्यकाम वर्मा भी प्रातिशाख्यों को व्याकरण-ग्रन्थ ही मानते हुए कहते हैं कि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही एकमात्र व्याकरण की कसौटी नहीं है । वस्तुत: वाक्यपदीय के अनुसार[2] प्राचीनकाल में व्याकरणों की दो कोटियां थी - सविभाग और अविभाग । सविभाग-व्याकरण वार्हस्पत्य-व्याकरण(शब्दपारायण) आदि हैं । ऐन्द्र, पाणिनीय आदि व्याकरण सविभाग व्याकरण हैं । डा० वर्मा के अनुसार प्रातिशाख्य सविभाग व्याकरण में आते हैं ।[3]

वैदिकाभरण[4] ग्रन्थ और उव्वट[5] ने प्रातिशाख्यों को व्याकरण पर आधारित कहा है तथा इसे व्याकरण का ही एक विशेषरूप माना है । परन्तु ह्विटने का कथन है कि प्रातिशाख्य पूर्णरूप से व्याकरणिक प्रबन्ध नहीं हैं अपितु बड़ी उन्नत अवस्था के व्याकरण पर आधारित हैं ।[6] डा० सिद्धेश्वर-वर्मा ने इसी मत को स्वीकार किया है ।[7] पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय ने व्याकरण को अंगी तथा प्रातिशाख्य, शिक्षा और निरुक्त को इसके अंग बताया है ।[8]

प्रातिशाख्यों का रचनाकाल :

ऋक्प्रातिशाख्य तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य निश्चितरूप से पाणिनि से प्राचीन हैं । शेष प्रातिशाख्य भी अपने मूलरूप में पाणिनि से प्राचीन हैं, परन्तु इनमें बाद में पाणिनीय शब्दानुशासन के प्रभाव से परिवर्तन परिवर्धन

1· मैक्डोनल, इति· पृ·224-25

2· वा·प·, 1·144-46

3· सं·व्या·उ·वि· पृ·10

4· एक-श्रुतिस्वरेण प्रयोक्तव्यमिति पूर्वेषां मतम्, पूर्वे वैयाकरणा:, एतच्छास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं कृतवन्तो हि ते । - तैति·प्राति·15·7 पर ह्विटने

5· वाज·प्राति· 1·169 पर ह्विटने

6· वही, पृ·579

7· प्राचीन वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों····· । - पृ·19, पा·टि·4

8· सं·व्या·द·भूमिका, प्राक्कथन पृ·3

होते रहे हैं, जिससे इनका रचनाकाल निर्धारित करने में विद्वानों ने कठिनाई महसूस की है ।[1]

प्रातिशाख्यों आदि में स्मृत प्राचीन व्याकरणकार :

प्रातिशाख्य तथा कतन्त्र आदि ग्रन्थ व्याकरण का ही एक विशेष रूप या विधा है जिसे अविभाग व्याकरण भी कहा गया है । प्रकृति और प्रत्यय के विभाग के साथ शब्दसंस्कार करने वाले मूल व्याकरण इन प्रातिशाख्यों और कतन्त्र आदि से अतिरिक्त रहे, जो पाणिनीय भास्कर के उदित होने पर तारों के समान लुप्त हो गए, यद्यपि अपने में वे भी जाज्वल्यमान थे । प्रातिशाख्यों और कतन्त्र आदि उपलब्ध ग्रन्थों में 59 आचार्यों के नाम और उनके मतों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें से अनेक सविभाग व्याकरणों के रचयिता रहे होंगे । इनके नाम इस प्रकार हैं -

1· अग्निवेश्य
2· अग्निवेश्यायन
3· अन्यतरेय
4· आगस्त्य
5· आत्रेय
6· इन्द्र
7· उखय
8· उत्तमोत्तरीय
9· औदव्रजि
10· औपशवि
11· काण्डमायन
12· कात्यायन
13· काण्व
14· काश्यप
15· कौण्डिन्य
16· कौहलीपुत्र
17· गार्ग्य
18· गौतम
19· जातूकर्ण्य
20· तैत्तिरीयक
21· दाल्भ्य
22· नैगी
23· पंचाल
24· पाणिनि
25· पौष्करसादि
26· प्राच्य पंचाल
27· प्लाक्षायण
28· प्लाक्षि
29· बाभ्रव्य
30· बृहस्पति
31· ब्रह्मा
32· भरद्वाज
33· भारद्वाज

1· क) मीमांसक सं·व्या·शा· इति·, पृ· 347 भाग-2
ख) सिद्धेश्वर वर्मा, प्रा·भा·वै·व्या·वि·वि·अ·, पृ·25-34
ग) डा·सत्यकाम वर्मा, सं·व्या·उ·वि·, पृ·41

34• माक्षव्य	35• मात्याकीय	36• माण्डूकेय
37• माध्यन्दिन	38• मीमांसक	39• यास्क
40• वाडबीकर	41• वात्स्य	42• वाल्मीकि
43• वेदमित्र	44• व्याडि	45• शाकटायन
46• शाकल	47• शाकल्य	48• शाकल्यपिता
49• शांखमित्रि	50• शांखायन	51• शूरवीर
52• शूरवीर-सुत	53• शैत्यायन	54• शौनक
55• स्थविर कौण्डिन्य	56• स्थविर शाकल्य	

पाणिनि से प्राचीन और अर्वाचीन व्याकरणकार :

उपरिलिखित वे आचार्य हैं जिनका प्रातिशाख्यों में उल्लेख हुआ है । इनमें अधिकांश व्याकरणकार ही रहे होंगे । महावैयाकरण पाणिनि से पूर्व लगभग 85 ऐसे सविभाग व्याकरणकारों के नाम या उनके मतों एवं व्याकरण ग्रन्थों के प्रमाण संस्कृत-वाङ्•मय के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं परन्तु उनमें से एक भी व्याकरण दुर्भाग्य से आज उपलब्ध नहीं है । जबकि पाणिनि का शब्दानुशासन तथा उनसे अर्वाचीन व्याकरण के प्रवक्ताओं के व्याकरण ग्रन्थ आज भी उपलब्ध होते हैं । पाणिनि को केन्द्र बिन्दु मान कर व्याकरण के प्रवक्ताओं को हम अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न तीन वर्गों में रख सकते हैं -

1• पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणकार और उनके व्याकरण
2• पाणिनि और उनका शब्दानुशासन {अष्टाध्यायी}
3• पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरण-प्रवक्ता और उन द्वारा प्रोक्त व्याकरण ।

पाणिनि से पूर्ववर्ती जिन व्याकरणकारों द्वारा व्याकरण ग्रन्थ रचने या उनके मतों के विविध पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है -

1• पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित परन्तु अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित आचार्य ।

2· पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लिखित आचार्य ।

अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित प्राचीन व्याकरणकार :

पाणिनि से पूर्ववर्ती, परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनुल्लिखित, तथापि विभिन्न प्रमाणों और साक्ष्यों से सिद्ध होने वाले व्याकरणकारों के नाम यहां दिये जा रहे हैं । इनके व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, तथापि इन आचार्यों द्वारा व्याकरण रचे जाने के या उनके मत से सम्बन्धित स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं । उनमें से कुछ स्रोत भी साथ दिये जा रहे हैं । ये आचार्य इस प्रकार हैं -

आदिवक्ता ब्रह्मा

भारतीय ऐतिह्य के अनुसार सभी विधाओं का आदि वक्ता ब्रह्मा ही है । तदनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि वक्ता भी ब्रह्मा ही माना जाता है । ऋक्तन्त्रकार ने भी व्याकरण का आदि वक्ता ब्रह्मा माना है जिसने सर्वप्रथम व्याकरण का प्रवचन बृहस्पति को किया था । बृहस्पति ने व्याकरण का प्रवचन इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को तथा उन्होंने ब्राह्मणों को किया ।[1] ब्रह्मा को मात्र शब्दों का उपदेश देने वाला माना जाता है ।[2] बृहस्पति अविभाग व्याकरण के रचयिता तथा इन्द्र सविभाग व्याकरण के प्रथम रचयिता[3] माने जाते हैं । इन व्याकरणकारों के नाम और प्रमाण इस प्रकार हैं -

---

1· ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज: ऋषिभ्य:, ऋषयो ब्राह्मणेभ्य: । - ऋक्तन्त्र, 1·4

2· बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्त्र प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच·····। - व्या·म·भा·, 1·1·1 आ·1

3· तैति· संहिता, 6·4·7 द्रष्टव्य- इसी प्रबन्ध के इसी अध्याय में भोगोलिक का कारण प्रकरण, पृ·3

व्याकरणकार	प्रमाण
1. शिव या महेश्वर	1. महाभारत शान्तिपर्व 284.92
	2. पाणिनीय शिक्षा का अन्तिम श्लोक
	3. हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि पृ.3
	4. ऋग्वेद कल्पद्रुम, यामलाष्टक 10-12
2. बृहस्पति	1. कातन्त्र, 1.4
	2. व्याकरण महाभाष्य आह्निक-1
3. इन्द्र	1. व्याकरण महाभाष्य आह्निक-1
	2. तैत्तिरीय संहिता 6.4.7
	3. जैनशाकटायन व्याकरण 1.2.37
	4. यशस्तिलक चम्पू, 1, पृ.90
	5. कविकल्पद्रुम आरम्भिक श्लोक-1 -
	इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥
	6. श्रीतत्त्वनिधि -
	ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम् ॥
4. वायु	1. तैत्तिरीय संहिता 6.4.7
	2. वायुपुराण 2 44
5. भरद्वाज	कातन्त्र 1.4
6. भागुरि	1. न्यास 6.2.37
	2. धातुवृत्ति, इणधातु पृ.247
	3. शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि के सात मत
7. पौष्करसादि	1. महाभाष्य, 8.4.48
	2. शांखायन आरण्यक, 7.8

8· पारायण | 1· लौगाक्षिगृह्य की देवपालकृत टीका 5·1
2· व्याकरण महाभाष्य, 1·1·73

9· काशकृत्स्न | 1· व्याकरण महाभाष्य आह्निक-1
2· वोपदेवकृत कविकल्पद्रुम, आदि

10· वैयाघ्रपद्य | काशिका 7·1·94, 4·2·65 पर

11· माध्यन्दिनि | काशिका, पा·सू·7·1·94 पर

12· रौढ़ि | काशिका, पा·सू·6·2·37 पर

13· शौनकि | चरक संहिता का टीकाकार जज्झट, चिकित्सा-स्थान 2·27 की व्याख्या

14· गौतम | 1· महाभाष्य, पा·सू· 6·2·36 पर
2· मैत्रायणीप्रातिशाख्य, 5·40

15· व्याडि | 1· भाषावृत्ति, 6·1·70
2· ऋक्प्रातिशाख्य, 2·23, 28, 6·43, 13·31

अष्टाध्यायी में उल्लिखित प्राचीन व्याकरणकार :

पाणिनि से प्राचीन तथा इनकी अष्टाध्यायी में उल्लिखित आचार्यों की संख्या दस है । इनके द्वारा व्याकरण के लक्षणग्रन्थ रचने के प्रमाण या इनके विशेष मत महाभाष्य आदि अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं । प्रमाण के रूप में यहां इनके समक्ष पाणिनि के केवल एक-एक सम्बन्धित सूत्र को उद्धृत किया जा रहा है जबकि इनमें से कुछ को पाणिनि ने एक से अधिक सूत्रों में निर्दिष्ट किया है । ये व्याकरणकार इस प्रकार हैं -

1· आपिशलि - वा सुप्यापिशलेः, पा·सू· 6·1·92
2· काश्यप - तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य । पा·सू· 1·2·25
3· गार्ग्य - ओतो गार्ग्यस्य । पा·सू·8·3·20
4· गालव - अड्गार्ग्य-गालवयोः । पा·सू· 7·3·99

5· चाक्रवर्मण - ई चाक्रवर्मणस्य । पा·सू·6·1·130
6· भारद्वाज - अतो भारद्वाजस्य । पा·सू· 7·2·63
7· शाकटायन - लङ· : शाकटायनस्यैव । पा·सू· 3·4·111
8· शाकल्य - लोपः शाकल्यस्य । पा·सू· 8·3·19
9· सेनक - गिरेश्च सेनकस्य । पा·सू· 5·4·11
10·स्फोटायन - अवङ· स्फोटायनस्य । पा·सू·6·1·123

पाणिनीय शब्दानुशासन :

संस्कृत व्याकरण-वाङ·मय में पाणिनि का शब्दानुशासन प्रख्यात है । इसे ही त्रिमुनि-व्याकरण भी कहा जाता है, जिसमें पाणिनि के सूत्रों के साथ कात्यायन के वार्तिक और महाभाष्यकार की इष्टियां पूरक लक्षणों के रूप में साथ सम्मिलित हैं । इन आचार्यों और इनके ग्रन्थों का परिचय तृतीय अध्याय में विस्तार से दिया जाएगा ।

पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकार :

पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकार और इनके व्याकरणग्रन्थ निम्न प्रकार से हैं -

क्रम	आचार्य	व्याकरण	समय
1·	अज्ञात/अनिर्णीत	कातन्त्रव्याकरण	अनिर्णीत
2·	चन्द्रगोमी	चान्द्रव्याकरण	अनिर्णीत
3·	क्षपणक	क्षपणकव्याकरण	वि0 प्रथम शताब्दी
4·	देवनन्दी	जैनेन्द्रव्याकरण	सं0 500
5·	वामन	विश्रान्तविद्याधरव्याकरण	सं0 400-600
6·	अकलंक	अकलंकव्याकरण	सं0 700-800
7·	पाल्यकीर्ति	जैनशाकटायनव्याकरण	सं0 871-924
8·	शिवस्वामी	- - - -	सं0 914-940

9. भोजदेव	सरस्वतीकण्ठाभरणव्याकरण	सं0 1075-1110
10. बुद्धिसागर	बुद्धिसागरव्याकरण	सं0 1080-
11. हेमचन्द्र	हैमव्याकरण	सं0 1145-1220
12. भद्रेश्वरसूरि	दीपकव्याकरण	सं0 1200- से पूर्व
13. अनुभूतिस्वरूप	सारस्वतव्याकरण	सं0 1300 ---
14. वोपदेव	मुग्धबोधव्याकरण	सं0 1300-1350
15. क्रमदीश्वर	जौमर व्याकरण	वि0 तेरहवीं शताब्दी
16. पद्मनाभ	सुपद्मव्याकरण	वि0 चौदहवीं शताब्दी

उक्त वैयाकरणों का यह काल मीमांसक जी ने निर्धारित किया है ।[1]

दार्शनिक वैयाकरण और ग्रन्थ :

पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरणकारों का एक भी सविभाग व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । प्रातिशाख्यों और कातन्त्र आदि में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित विवेचन अत्यल्प हुआ है । यास्क के निरुक्त में औदुम्बरायण और शाकटायन के गिने चुने मत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित हैं ।

पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकारों के व्याकरण यद्यपि सम्प्रति भी उपलब्ध हैं परन्तु इनमें शब्द-व्युत्पादन एवं प्रक्रिया - पक्ष को ही प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है । यद्यपि ये व्याकरण भी पाणिनीय शब्दानुशासन की भान्ति शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही रचे गए हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में या इनके आधार पर रचे गये किसी भी अन्य ग्रन्थ में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विशद विवेचन नहीं किया गया है ।

पाणिनि के शब्दानुशासन की यह महत्ता है कि न केवल यह व्याकरण, शब्दार्थ सम्बन्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर खड़ा है, अपितु इसको आधार बनाकर पतंजलि आदि अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों ने व्याकरण-दर्शन के विभिन्न तत्वों को भी प्रतिपादित किया तथा भर्तृहरि, कौण्डभट्ट,

---

1. सं.व्या.शा.इति. भाग-1, संस्करण-3, पृ.545 से

नागेश आदि ने तो इस परम्परा में व्याकरण-दर्शन पर ग्रन्थ ही रच डाले हैं । जिससे इस दर्शन का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया । पाणिनि के समकालीन व्याडि ने विशेषतया व्याकरण के दर्शनपक्ष पर "संग्रह" नाम का विशालकाय ग्रन्थ रचा जो दुर्भाग्य से कालान्तर में लुप्त हो गया ।[1] वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतंजलि ने पाणिनि और व्याडि की परम्परा से प्राप्त व्याकरण-दर्शन को भी अपने-अपने ग्रन्थों में पर्याप्त स्थान दिया है । बाद में कैयट, भोजराज और भट्टोजिदीक्षित आदि ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्या करते हुए क्रमशः अपने-अपने प्रदीप, §महाभाष्यटीका§, श्रृंगारप्रकाश आदि ग्रन्थों में अन्य प्रतिपाद्य विषय के साथ व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों की भी व्याख्या की है । वैयाकरण भर्तृहरि ने अपने अमरग्रन्थ वाक्यपदीय में, उनके अनुयायी पुण्यराज, हेलाराज आदि ने वाक्यपदीय की व्याख्याओं में, मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि में, कौण्डभट्ट ने भूषणग्रन्थों में, जगदीश तर्कालंकार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में और रामाज्ञा-पाण्डेय ने व्याकरणदर्शन भूमिका आदि में व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों को विस्तार से निरूपित एवं विवेचित किया है । कुछ अन्य भी ऐसे अनेक विद्वान् हुए हैं जिन्होंने इस व्याकरण-दर्शन का किसी न किसी रूप में विवेचन किया है । इस प्रकार व्याकरणदर्शन का एक स्वतन्त्र निकाय ही स्थापित हुआ है, जिसमें शताधिक दार्शनिक वैयाकरणों ने इस दर्शन के सिद्धान्तों को प्रतिपादित, विवेचित और प्रतिष्ठापित करने में अपने-अपने तौर पर महत्त्वपूर्ण योगदान किया है ।

अन्य स्रोत :

पाणिनि, और व्याडि से पूर्व व्याकरणदर्शन के बीज तथा इसका प्रारम्भिक विकास हमें उपलब्ध प्रातिशाख्यों तथा अन्य वैदिक व्याकरणों के अतिरिक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्वेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, महाभारत और

1· वा·प·, 2·479

यास्क के निरूक्त में विशेषतया उपलब्ध होता है । अतः व्याकरण-दर्शन के उद्भव और प्रारम्भिक विकास के इतिहास के अध्ययन के लिए उक्त व्याकरण-भिन्न ग्रन्थ भी प्रस्तुत शोध के अंग बन जाते हैं ।

युग-विभाजन

उक्त विषय सामग्री को देखते हुए व्याकरण-दर्शन के उद्भव और क्रमिक विकास के इतिहास का युग-विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं -

पाणिनिपूर्वयुग	:	उद्भवकाल
पाणिनीययुग	:	विकासकाल
भर्तृहरियुग	:	पूर्णताकाल
उत्तर-भर्तृहरियुग	:	व्याख्या एवम् विश्लेषणकाल

अगले अध्यायों में इसी आधार पर व्याकरण-दर्शन के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा ।

-:-:-:-:-:-:-

द्वितीय-अध्याय

पाणिनिपूर्वयुग : व्याकरणदर्शन का उद्भव-काल

द्वितीय अध्याय

पाणिनिपूर्वयुग : व्याकरणदर्शन का उद्भव-काल

महावैयाकरण पाणिनि (700 ई०पू०)[1] से पूर्ववर्ती लगभग पचासी व्याकरणकारों के नामों का संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, जिनमें से लगभग छब्बीस व्याकरणकारों द्वारा व्याकरणग्रन्थ रचे जाने के पर्याप्त प्रमाण पाणिनि की अष्टाध्यायी या अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें से दस व्याकरणकार पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लिखित हैं, जबकि सोलह के प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। प्रकृतिप्रत्यय विभाग पूर्वक शब्दों का संस्कार करने वाले इन सभी व्याकरणों का पठन-पाठन और अनुलेखन पाणिनि के शब्दानुशासन के उदित होने पर बन्द हो गया, जिससे ये धीरे-धीरे लुप्त हो गये। अतः उनके आधार पर व्याकरणदर्शन की पाणिनि से पूर्व की स्थिति जानने से हम वंचित हो गये हैं।

पाणिनि से पूर्ववर्ती कुछ प्रातिशाख्य तथा उनके सदृश विषय वाले ऋक्तन्त्र आदि ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनका विषय वेदों के चरण-विशेष से सम्बन्धित संहिता पाठ में होने वाले ध्वनि विकारों तथा पदपाठ, क्रमपाठ आदि के नियम बताना है। अतः व्याकरण के दार्शनिक पक्ष की जानकारी इनमें अत्यल्प है। तथापि वेदमन्त्रों ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों और निरुक्त से पाणिनि से पूर्व की व्याकरणदर्शन की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इनके अध्ययन से विदित होता है कि व्याकरण-दर्शन का उद्भव और प्रारम्भिक विकास पाणिनि और व्याडि से सुदूर प्राचीनकाल में ही हो चुका था। पाणिनि के समकालीन महान् दार्शनिक वैयाकरण व्याडि का संग्रह नामक विशाल ग्रन्थ व्याकरण-दर्शन के इन्हीं प्राचीन परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों का संग्रह था, जो दुर्भाग्य से भर्तृहरि के युग से पूर्व ही अनुपलब्ध है।[2] अतः वेद-संहिताएं, ब्राह्मण, उपनिषद, निरुक्त आदि जिन प्राचीनग्रन्थों से पाणि

---

1. पाणिनि के समय पर चतुर्थ अध्याय में विचार किया गया है।
2. .....संग्रहे स्तमुपागते। - वा०प०, 2.476

और व्याडि से पूर्ववर्ती व्याकरणदर्शन की स्थिति का ज्ञान होता है, उनके कुछ सन्दर्भ यहां विवेचित एवं प्रस्तुत करना अपेक्षित है ।

वैदिक साहित्य और व्याकरणदर्शन

ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, विभिन्न ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में व्याकरणदर्शन के प्रतिपाद्य वाक्तत्त्व के स्वरूप, विभिन्न गुणों, अद्वैतभाव, जगत्कारणत्व, उससे सायुज्य, अभ्युदयप्राप्ति आदि पर अत्यन्त विस्तार से व्यापक एवं गम्भीर चिन्तन हुआ है । अतः यहां पहले विभिन्न वैदिक ग्रन्थों के "वाक्तत्त्व"-सम्बन्धी दर्शन को प्रमुख सन्दर्भों के साथ एक-एक करके प्रतिपादित किया जा रहा है । अनन्तर इन ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले व्याकरणिक-विश्लेषण से सम्बन्धित विचार-संकेतों को एक साथ एक शीर्षक में प्रतिपादित किया जाएगा ।

ऋग्वेद और शब्ददर्शन :

व्याकरण दर्शन के वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में वाक्तत्त्व के विषय में जितना गम्भीर एवं तात्त्विक विचार-चिन्तन उपलब्ध होता है, ऋग्वेद में उसके मात्र बीज ही प्राप्त नहीं होते हैं अपितु यहां इस विषय पर विस्तृत, सूक्ष्म, महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक विचार प्राप्त होते हैं । यहां वाक्तत्त्व के व्यवहारिक तथा पारमार्थिक रूप को बड़े ही सहज परन्तु मार्मिकरूप से प्रतिपादित किया गया है, जो वैदिक ऋषियों की विशिष्ट शैली रही है । इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के कुछ प्रमुख सन्दर्भ इस प्रकार हैं -

वाक् सभी प्राणियों में :

ऋग्वेद में कहा है कि वाक् को न केवल मनुष्य अपितु अन्य प्राणी भी अर्थबोधन के लिए प्रयोग में लाते हैं । मन्त्र इस प्रकार है -

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा: पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ।।[1]

अर्थात् देवों ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया । उसको ही सभी प्रकार के पशु बोलते हैं । वह दिव्य वाक्तत्त्व ऐश्वर्य और बल- दोनों को देने वाला है । वाक् कामधेनु है । वह सभी कामनाओं को पूर्ण करती है ।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने निरुक्त में कहा है कि उस वाक् को सभी व्यक्त वाणी वाले (मनुष्य) तथा अव्यक्त वाणी वाले (पशु) बोलते हैं ।[2] शतपथ ब्राह्मण ने पशु का अर्थ करते हुए कहा है कि अग्नि ने पुरुष, अश्व, गाय, भेड़ और बकरी - इन पांच को देखा, इसलिए ये सब पशु कहलाए ।[3]

उक्त मन्त्र से विदित होता है कि ऋग्वेद के ऋषि सभी प्रकार की वाक् को अर्थात् सभी प्राणियों की वाक् को अर्थबोधन का कारण मानते थे, जो स्फोटतत्त्व और प्रतिभा की ओर संकेत करता है ।

वाक्-तत्त्व अचेतनों में भी :

ऋग्वेद के अनुसार वाक्तत्त्व चेतन प्राणियों में ही नहीं अपितु अचेतनों में भी विद्यमान है । व्याकरणदर्शन का यही सिद्धान्त है कि समस्त जगत् शब्दमय है, ।[4] ऋग्वेद में कहा है -

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।[5]

---

1. ऋ0, 8.100.11
2. तां सर्वरूपा: पशवो वदन्ति, व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च । -निरु. 12.29
3. (अग्नि:) एतान् पंच पशूनपश्यत । पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत् तस्मादेते पशव: । - शत0 ब्रा0, 6.2.1.2
4. वा.प., 1.123, 124
5. ऋ., 8.100.10

अर्थात् अचेतन पदार्थ भी वाक् का उपयोग करते हैं । वे भी शब्दमय हैं । वाक्तत्त्व देवों में ऐश्वर्य एवं दिव्यता का आधायक है । वह आनन्दरूप होकर स्थित है ।

वाक्तत्त्व और अर्थ :

ऋग्वेद में शब्दों के प्रयोग और श्रवण की सफलता अर्थ के साथ ही बताई गई है । कहा है -

उत त्वं सख्ये स्थिर-पीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥[1]

जो वाक् के साथ सख्य (मैत्री) को प्राप्त होता है, वह स्थिर आनन्द को प्राप्त करता है । बड़े से बड़े तत्त्वज्ञान के विषय में कोई भी उसकी स्पर्धा नहीं कर सकता है । जो इसके विपरीत वाक्तत्त्व की माया में ही विचरण करता है, उसका अर्थ नहीं जानता, वह मात्र पुष्परहित और फलरहित वाणी को सुनता है । उसका अध्ययन और श्रवण निष्फल है । वस्तुतः अर्थतत्त्व वाक्तत्त्व का फूल और फल है ।[2]

वाक् का संस्कार :

ऋग्वेद में कहा है - सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।[3] अर्थात् वाक् सहस्रधाराओं में फैली है । उसमें जो असंस्कृत अंश या विकार आ जाता है, उसे मनीषी कवि अर्थात् विद्वान्, वैयाकरण कवि आदि दूर करके वाक् (भाषा) को पवित्र करते हैं । इस प्रकार ऋग्वेद में वाणी की विविधता के साथ वैयाकरणों द्वारा अपभ्रंशों के अपाकरण से साधुशब्दों के संस्कार की बात कही गयी है ।

---

1. ऋ., 10.71.5
2. निरु. 1.20 के अनुसार
3. ऋ., 9.73.7

चार पद :

ऋग्वेद में वाक् और उसके चार पदों के बारे में कहा है -

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।[1]

वाक् के चार पद हैं अर्थात् यह चतुर्धा विभक्त है । उन पदों को वेदवेत्ता मनीषी ब्राह्मण जानते हैं । उनमें तीन गुहा में निहित हैं - वे प्रकाशित नहीं होते । केवल चौथे पद या अंश को सामान्य मनुष्य व्यवहार में लाते हैं । वे चार पद कौनसे हैं इस प्रश्न पर यास्क ने कहा है कि आर्ष मत के अनुसार चार पद हैं - ओंकार और भूः, भुवः, स्वः - ये महाव्याहृतियां । वैयाकरणों के अनुसार चार पद हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।[2] भाष्यकार पतंजलि ने भी चार पद नाम आख्यात आदि ही बताए हैं ।[3] नागेश ने चार पदों का अर्थ "निपाताश्च" के "च" से - परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, ये चार प्रकार की वाणियां भी किया है ।[4]

शब्द के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूपों का विश्लेषण :

ऋग्वेद में ब्रह्म को शब्दमय बताते हुए उससे जैविक सृष्टि तथा वैखरी शब्दों के विश्लेषण को इस प्रकार कहा है -

चत्वारि शृंगा त्रयोस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ।।[5]

---

1. ऋ०, 1.164.45
2. कतमानि तानि चत्वारि पदानि । ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । - निरु०, 13.9
3. चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । - व्या०म०भा०, आ०।
4. पदजातानि परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः । - वही, उद्योत
5. ऋ०, 4.58.3

इस मन्त्र में शब्द का वृषभ के रूप में निरूपण किया गया है ।[1] व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस शब्दवृषभ के चार सींग हैं - चार प्रकार के पद, ।नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । इसके तीन पैर हैं - भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल । इसके दो सिर हैं - दो प्रकार के शब्दात्मा, नित्य औरकार्य । इसके सात हाथ हैं - सात विभक्तियां । यह तीन स्थानों पर छाती, कण्ठ और माथे पर बंधा है । यह वृषभ शब्द करता है अर्थात् कहलाता है कि वह महान् देव शब्द मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है । उस महान् देव से तादात्म्य हो, इसलिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है ।[2]

महाभाष्यकार ने वह महान देव "शब्द" माना है जिसे कैयट ने पर ब्रह्म बताया है ।[3] उद्योतकार नागेश इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - वह महान् देव शब्द-ब्रह्म अन्तर्यामी रूप है । महान् देव शब्द ब्रह्म व्याकरण द्वारा ज्ञाप्य है, अतः व्याकरण उसमें आविष्ट सा होता है । चार पद हैं - परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[4]

आचार्य सायण ने भी ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है - शाब्दिक लोग शब्दब्रह्म-परकता से इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं - चार पद- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि । इस अर्थ को भी यहां देखना चाहिए ।[5] इस प्रकार सायण ने पतंजलिकृत व्याख्या का समर्थन किया है ।

---

1. शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम् । - व्या·म·भा·आ·-। चत्वारि शृंगा-पर
2. चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादाः - त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । ···· महान्देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्य-ध्येयं व्याकरणम् + -व्या·म·भा· आ·-। चत्वारि शृंगा-पर
3. महतेति - परेणब्रह्मणेत्यर्थः । - वही, पदीप
4. महतो देवस्य शब्दब्रह्मणो व्याकरणज्ञाप्यतया व्याकरणमस्तदाविष्ट इव भवतीति यावत् । पद-जातानि पराप्रयान्तीमध्यमावैखरोरूपाणि । -वही उ
5. शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि ····। - वही, सायणभाष्य

ऋग्वेद के उक्त मन्त्र से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के ऋषि ब्रह्म को शब्दतत्त्वात्मक मानते हैं तथा उसी का मनुष्यों में आवेश बताते हैं । वे शब्द के नाम आख्यात आदि पदविभाग तथा तीन काल आदि से भी भली प्रकार परिचित हैं । वे शब्द के नित्य और अनित्य इन दो रूपों को मानते हैं । व्याकरण-दर्शन भी मुख्यतया शब्द और अर्थ के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का इसी आधार पर और इसी प्रकार विश्लेषण करता है ।

वाक् त्रिरूप और नित्य :

ऋग्वेद ने वाक्तत्त्व को विरूप और नित्य कहा है -

वाचा विरूप-नित्यया ।[1] अर्थात् वाक् नित्य और विरूप है । विरूप के दो अर्थ हैं - निरूप अर्थात् निराकार तथा निराकार होते हुए भी अनेक रूपभेदों वाली है ।

वाक्तत्त्व का आधार ब्रह्म :

ऋग्वेद में एक सन्दर्भ में प्रश्न किया गया है कि इस वाक्तत्त्व का परम तत्त्व या परम आधार क्या है ? वहीं उत्तर दिया गया है कि वाक्तत्त्व का परम आधार ब्रह्म है । -

पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।।[2]

ब्रह्म और वाक् की एकता :

"ब्रह्म" की जगत्कारणता, एकत्व और उसके स्वरूप के विषय में ऋग्वेद में अनेक सूक्त एवं मन्त्र रचे गये हैं । एक मन्त्र में ब्रह्म और शब्दतत्त्व

1· ऋ०, 8·75·6

2· ऋ०, 1·164·34-35

{वाक्} की एकता इस प्रकार प्रतिपादित की गयी है -

सहस्रधा पंचदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत् ।
सहस्रधा महिमान: सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ।।[1]

अर्थात् वाक्तत्त्व सहस्र प्रकार से व्याप्त है । जहां तक द्युलोक और पृथिवी स्थित है, वहां तक वाक्शक्ति भी स्थित या व्याप्त है । इसकी सहस्रों महिमाएं सहस्र प्रकार से हैं । जितना और जहां तक ब्रह्मतत्त्व व्याप्त है, उतना और वहां तक वाक्तत्त्व भी व्याप्त है ।

वाक्ज्ञान से सायुज्य-प्राप्ति :

भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन के प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ "वाक्यपदीय" में कहा है कि वह महान् अम शब्दमय नित्य एवम् अद्वितीय शब्दब्रह्म प्रतिबिम्ब के रूप में अथवा घट में अवरुद्ध दीपक के प्रकाश की भान्ति अवस्थित है । ब्रह्म की भोगशरीर को धारण करने वाली यह अवस्था जीव है । ऋषि लोग उस परम ब्रह्म से सायुज्य {ऐक्य} चाहते हैं । वाणी के योग को जानने वाला वैयाकरण शब्दब्रह्म और जीवात्मा की अभिन्नता के ज्ञान द्वारा अहंकार ग्रन्थियों को काटकर अत्यन्त विनिभाग के रूप से उस शब्दब्रह्म से ऐक्य को प्राप्त करता है[2]। वैयाकरण अपभ्रंशों का परिहार करके साधु शब्दों का प्रयोग करता है । इससे धर्मविशेष की प्राप्ति होती है, जिससे उसका अभ्युदय निश्चित है[3]। व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्त को ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में प्रकट किया गया है । -

---

1· ऋ·, 10·114·8

2· इह द्वौ शब्दात्मानौ - नित्य: कार्यश्च । तत्र कार्यो व्यावहारिक: पुरुषस्य वागात्मन: प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु ····सर्वेषामन्त: संनिवेशी····घटादिनिरुद्ध इव प्रकाश: परिगृहीतभोगशरीरावधि:, ···· तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहंकारग्रन्थीनत्यन्तविनिभागेण संसृज्यन्ते ।
-वा·प·, 1·130 पर हरिवृत्ति

3· व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संक्रियमाणे शब्दतत्त्वेपभ्रंशोपघातापगमा-दाविर्भूत धर्मविशेषे नियतोभ्युदय: । - वा·प·, 1·131 पर हरिवृत्ति ।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।[1]

जिस प्रकार चलनी से सत्तू को चालकर शुद्ध एवं स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार धीर वैयाकरण वाणी को शुद्ध करके अर्थात् असाधु शब्दों से साधु शब्दों को पृथक् करके उनका उच्चारण करते हैं । वाक् के साथ हुए सख्यभाव (सायुज्य) को प्राप्त होते हैं । उनकी वाणी में भद्र लक्ष्मी का वास है । इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्य में पूछा गया है कि वे सख्यभाव को कहां प्राप्त होते हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है कि जो यह दुर्गम मार्ग है, जो एकमात्र ज्ञान द्वारा गम्य है और वाक्तत्त्व का विषय है (उस शब्दब्रह्म से वे सख्य को प्राप्त होते हैं) ।[2]

स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में साधुशब्दों से अपभ्रंशों को हटाकर उनके संस्कारपूर्वक ज्ञान द्वारा तथा शब्द के वास्तविक नित्य रूप शब्दब्रह्म के अधिगम के ज्ञान द्वारा ज्ञाता (वैयाकरण) और शब्दब्रह्म के जिस सायुज्य (स्वरूप मोक्ष) का प्रतिपादन किया है, उस सिद्धान्त का मूल ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में यथावत् स्थित है । कैयट और नागेश ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वैयाकरणों के एतद्विषयक दार्शनिक सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है ।[3]

ऋग्वेद का वाक्सूक्त :

ऋग्वेद के दशम मण्डल के "वाक्सूक्त" के प्रारम्भिक आठ मन्त्रों में वाक्तत्त्व के आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक स्वरूप पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं । इस सूक्त का देवता परमात्मा और ऋषि (द्रष्टी) "वाक्" है,

---

1· ऋ·, 10·71·2

2· अत्र सखाय: सन्त: सख्यानि जानते । क्व ? य एष दुर्गो मार्ग:, एकगम्यो वाग्विषय: ।। के पुनस्ते ? वैयाकरणा: । - व्या·म·भा·, आ·-1

3· वही, प्रदीप तथा उद्योत

जो अम्भृण की पुत्री और ब्रह्मज्ञानी थी ।[1] वाक्सूक्त के इन आठ मन्त्रों में वाक्तत्त्व का विवेचन इस प्रकार है -

वाक्तत्त्व देवों और शक्तियों के रूप में :

इस सूक्त के देवता "परमात्मा" से तादात्म्य का अनुभव करती हुई ऋषि वाक्, शब्दतत्त्व का स्वरूप प्रकट करते हुए कहती है -

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।।[2]

अर्थात् मैं वाक् ग्यारह रुद्रों के रूप में विचरण करती हूं । मैं आठ वसुओं के रूप में विचरण करती हूं । मैं बारह आदित्यों के रूप में और विश्वेदेवों के रूप में विचरण करती हूं । मैं मित्र और वरुण - इन दोनों देवताओं को धारण करती हूं । मैं इन्द्र और अग्नि को धारण करती हूं और दोनों अश्विनी देवताओं को धारण करती हूं ।[3]

वाक्तत्त्व सोमादितत्त्वों का पोषक :

परमात्मरूप वाक्तत्त्व ही सोमादि तत्त्वों का पोषक है । यही शब्दार्थतत्त्वज्ञों का भी पोषक है । कहा है -

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्य यजमानाय सुन्वते ।।[4]

अर्थात् मैं वाक् ही सोमतत्त्व का पालन और रक्षण करती हूं । मैं त्वष्टा अर्थात् रचयिता एवं विवेचक तत्त्व, पूषन् (पोषकतत्त्व) तथा भग

---

1. ऋ॰, 10.125.1 पर सायणाचार्य
2. ऋ॰, 10.125.1
3. वही, सायणभाष्य के अनुसार
4. ऋ॰, 10.125.2

अर्थात् रयितत्त्व, ऐश्वर्य की पालक हूं । मैं वाक् यज्ञिय पुरुषों अर्थात् शब्दार्थतत्त्वज्ञों को ऐश्वर्य से समृद्ध करती हूं ।

वाक् जगत् की ईश्वरी :

यह परमात्मरूप अद्वितीय वाक् ही जगत् की ईश्वरी है और विभिन्न रूपों में व्याप्त है । कहा है -

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।।[1]

मैं वाक् सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूं, धनों को प्राप्त कराने वाली हूं । खोज करने वाली और ज्ञान से सम्पन्न हूं । यजन करने योग्यों में सबसे प्रमुख हूं । मैं अनेक रूपों में अवस्थित हूं, वस्तुओं को अपने अन्दर आवेशित करने वाली हूं । ऐसे गुणों वाली मुझको देवताओं ने विभिन्न स्थानों में रखा है । अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की जो पूजा की जाती है, वहवस्तुतः मेरी ही पूजा है ।[2]

शब्दतत्त्व ही अन्तर्यामी है :

यह वाग्ब्रह्म ही सभी प्राणियों में अन्तर्यामिरूप से अवस्थित होकर विविध भोगों और क्रियाओं का साक्षी या कर्ता बनता है - दार्शनिक वैयाकरणों के द्वारा[3] प्रतिपादित इस सिद्धान्त को ऋग्वेद में यूं कहा है -

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।।[4]

---

1. ऋ०, 10·125·3
2. वही, सायणभाष्य एवं पीटर्सनकृत अनुवाद ।
3. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ।। -वा·प·, 1·4
4. ऋ०, 10·125·4

हे विद्वान्, सुनो । श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन को मैं कहती हूं । इस जगत् में जो अन्न को खाता है अर्थात् संसार के विभिन्न भोगों को भोगता है वह मेरे (वाक्तत्त्व) द्वारा ही ऐसा करता है । जो देखता है, वह मेरे द्वारा ही देखता है । जो श्वास लेता है, मेरे द्वारा ही लेता है और जो वचनों को सुनता है मेरे द्वारा ही सुनता है । जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझको नहीं जानते हैं या मानते हैं, वे संसार में हीनता को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार वाक्सूक्त के इस मन्त्र में शब्दब्रह्म की जीवरूप में स्थिति तथा जीव और ब्रह्म की अभिन्नता को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है ।

वाक्तत्त्व से श्रेष्ठत्वप्राप्ति :

वाक्तत्त्व में ही वह शक्ति है जिससे व्यक्ति ऋषि, ब्रह्मा एवं जगत् का कर्ता तक बन जाता है । कहा है -

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।[1]

मैं परमात्मा से अभिन्न वाक् स्वयं कहती हूं कि देव और मनुष्य मेरी ही उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं और मेरा उपयोग करते हैं । मैं जिसको चाहूं, उसे प्रचण्ड, तेजस्वी या सर्वश्रेष्ठ बना देती हूं । उसको ब्रह्म (ब्रह्मवित्) बना देती हूं । मैं उसे ऋषि, मेधावी और प्रतिभाशाली बना देती हूं ।

वाक्तत्त्व व्यापक और परात्पर :

वाग्ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है तथा परात्पर तत्त्व है । कहा है -

---

1. ऋ०, 10.125.5

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ।।[1]

मैं परमात्मरूप वाक् कारणरूप होने से समस्त लोकों या पंच महाभूतों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान स्वयमेव प्रवृत्त होती हूं । अर्थात् इन सृष्ट पदार्थों में वायु के समान व्याप्त हो जाती हूं । द्युलोक से परे और इस पृथिवीलोक से परे इन्हें अतिक्रान्त करती हुई मैं अपनी महिमा से इतने बड़े परिणाम वाली हो जाती हूं ।[2]

इस प्रकार वाक्सूक्त के ये मन्त्र व्याकरणदर्शन के प्रतिपाद्य शब्दब्रह्म एवं शब्दाद्वय सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं । इन मन्त्रों में वैयाकरणसम्मत सिद्धान्त को संकेतमात्र नहीं किया गया है अपितु स्पष्ट शब्दों में विस्तार से बताया गया है कि समस्त जगत् तथा उसका कारण परमात्मा शब्दतत्त्वात्मक है । यही वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित होकर भोक्ता और द्रष्टा बना हुआ है । यही जगत् के विभिन्न पदार्थों और भोग्यवस्तुओं के रूप में प्रकट हुआ है । यह समस्त संसार में व्याप्त है तथा इसमें संसार को उत्पन्न करने, पालन करने तथा संहार करने की शक्तियां विद्यमान हैं । इस वाग्ब्रह्म को जानने वाले और चाहने वाले इसे प्राप्त कर लेते हैं जबकि ऐसा न करने वाले हारा और दुःख को प्राप्त होते हैं । यह अद्वितीय वाग्ब्रह्म समस्त देवताओं, मनुष्यों, आकाश, जल आदि तत्त्वों के रूप में प्रकट हुआ है । इस प्रकार व्याकरण-दर्शन के शब्दाद्वयवादी भर्तृहरि आदि दार्शनिक वैयाकरणों ने बाद में जिस प्रकार शब्दब्रह्म के स्वरूप, उसके अद्वैतभाव, जगत्कारणत्व और शक्तिमत्त्व का वर्णन किया है, वह सारा प्रकारान्तर से ऋग्वेद के वाक्सूक्त में पूरी तरह प्रतिपादित है । स्पष्ट है कि व्याकरणदर्शन का पारमार्थिक तत्त्व-विवेचन वेदों पर, विशेषतया ऋग्वेद पर आधारित है ।

---

1. ऋ०, 10.125.8

2. वही, सायणभाष्य के अनुसार

यजुर्वेद और वाक्तत्त्व :

यजुर्वेद में भी वाक्तत्त्व के विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है । एक सन्दर्भ में यजुर्वेद कहता है -

समुद्रोसि विश्वव्यचा अजोस्येकपादहिरसि बुध्न्यो
वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ ।[1]

हे वाक्, तुम समुद्र हो । अर्थात् समुद्र के समान विशाल, विस्तृत, अगाध और दुर्बोध हो । तुम सर्वव्यापक हो, अजन्मा हो, एक हो । तुम ऐन्द्र अर्थात् इन्द्रप्राण से सम्पन्न हो । सदस् हो अर्थात् तुम्हारे कारण मनुष्य में सदस्यता, शिष्टता आदि गुण आते हैं । तुम ऋत अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का प्राण और अपान रूप से द्वार हो । इस प्रकार यजुर्वेद ने वाक्तत्त्व को एक साथ सर्वव्यापक, अनादि, नित्य तथा ऋतप्राप्ति का उपाय बताया है ।

एक अन्य सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ में पुनः शब्दतत्त्व के प्रतिभारूप का वर्णन इस प्रकार किया है -

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि
यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी ।[2]

अर्थात् तुम (वाक्तत्त्व) चेतनतत्त्व हो, बुद्धि हो, यज्ञिय हो, अविनाशी हो, अदिति हो, दोनों ओर से सिर वाले हो । अर्थात् स्फोटात्मक और ध्वन्यात्मक - दोनों प्रकार के गुण वाले हो ।[3]

वाक्तत्त्व विश्वस्रष्टा :

यजुर्वेद के मन्त्र संख्या 13·33 में कहा है - वाग्वै विश्वकर्मर्षिः ।

1· यजु·, 5·33

2· यजु·, 4·19

3· कपिलदेव द्विवेदीकृत अर्थवि· व्या· द· पृ·48 के अनुसार

अर्थात् वाक्तत्त्व विश्वकर्मा ऋषि है । शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के इस वचन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वाक्तत्त्व को विश्वकर्मा इसलिए कहते हैं, क्योंकि इस संसार में जो कुछ दीख रहा है, वह सब वाक् द्वारा रचित है ।[1]

वाक्तत्त्व-ज्ञान से परमतत्त्व का ज्ञान :

ऋग्वेद के "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि -"[2] मन्त्र को पूर्व पृष्ठों में उद्धृत और विवेचित किया गया है । इसमें कहा गया है कि पद चार हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । वाक् की भी चार अवस्थाएं नागेश ने प्रतिपादित की हैं । इसी बात को यजुर्वेद भी इन शब्दों में कहता है -

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ।[3]

अर्थात् तीन पद - नाम, आख्यात आदि के तीन भाग अथवा परा (पर पश्यन्ती) पश्यन्ती और मध्यमा - ये तीन भेद गुहा में निहित हैं । जो इनको भी जानता है, इनका साक्षात्कार करता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है । अर्थात् परमतत्त्वज्ञ हो जाता है ।

मेधा-तत्त्व प्रतिभा :

यजुर्वेद में कहा है -

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।।[4]

जिस मेधा (बुद्धितत्त्व) की देवगण और पितृगण उपासना करते हैं, हे अग्नि, मुझे उस मेधा से मेधावी बना । इस प्रकार यजुर्वेद के ऋषि ने जिसे मेधातत्त्व

1. वाचा हीदं सर्वं कृतम् । - शत॰ब्रा॰, 8.1.2.9
2. ऋ॰, 1.164.45
3. यजु॰, 32.9
4. यजु॰, 32.14

कहा है, उसे ही दार्शनिक वैयाकरणों ने प्रतिभातत्त्व के रूप में विस्तार से निरूपित किया है ।[1]

अथर्ववेद और वाक्तत्त्व :

अथर्ववेद ने भी वाक् को त्रिपाद और व्यापक तत्त्व मानते हुए कहा है -

त्रिपाद ब्रह्मपुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।[2]

अर्थात् शब्दब्रह्म तीन पदों वाला है - वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती । वह ब्रह्म है, सर्वव्यापक है और विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ प्रतिष्ठित है । अथर्ववेद का यह वचन वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित शब्द-विवर्त के सिद्धान्त[3] को सूचित करता है । इस मन्त्र में आगे कहा है कि उसी वाक्तत्त्व से चारों दिशाओं और प्रदिशाओं में व्याप्त समस्त प्राणिजगत जी रहा है । उक्त मन्त्र के इस अंश से व्याकरणदर्शन में प्रतिपादित दिक्तत्त्व[4] की पुष्टि होती है ।

वाक्तत्त्व से सृष्टि :

अथर्ववेद मानता है कि दैवी और आसुरी सृष्टि इसी वाग्ब्रह्म से होती है । कहा है - इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्म-संशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ।।[5]

---

1. वाक्यपदीय काण्ड-3, जातिसमुद्देश
2. अथर्व., 9.10.19
3. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । - वा.प., 1.1
4. वाक्यपदीय काण्ड-3, दिक्समुद्देश
5. अथर्व., 19.9.3

अथर्ववेद के इस मन्त्र में ऋषि ने वाक्तत्त्व को परमेष्ठी प्रजापति मानते हुए कहा है कि यह वाक् देवी है । यह ब्रह्मतत्त्व के द्वारा संशित है । उसी से घोर की उत्पत्ति है और उससे ही हम लोगों के लिए शांत सृष्टि होती है । अर्थात् दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की सृष्टि वाग्ब्रह्म से ही होती है । इस प्रकार अथर्ववेद भी शब्दब्रह्म को जगत् का कारण मानता है ।[1]

वाक्तत्त्व और ब्रह्मगवी :

अथर्ववेद के एक तिहत्तर मन्त्रों के बड़े सूक्त में ब्रह्मगवी का विभिन्न प्रकार से भव्य वर्णन किया गया है । यहां ब्रह्मगवी का तात्पर्य ब्रह्मविद्या, वाग्ब्रह्म एवं प्रतिभा से है । इस ब्रह्मगवी की श्रम और तपस्या से सृष्टि कही गयी है । ब्रह्म या ब्रह्मवेत्ता ही उसे जान जाता है । यह ऋत में आश्रित है, सत्य से आवृत है, श्री से प्रावृत है और यश से परिवृत है । वह स्वधा से परिधान वाली है, श्रद्धा से ढोई गयी है और दीक्षा के द्वारा गुप्त अर्थात् सुरक्षित है । इसे अथर्ववेद ने इस प्रकार कहा है -

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्तेश्रिता ।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता,
स्वधया परीहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता ।[2]

विश्वरूप ही वाक् का रूप :

एक अन्य सन्दर्भ में अथर्ववेद में कहा है -

"एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ।"[3] अर्थात् यह विश्व का रूप और

---

1. अथर्व., 12.5. के सन्दर्भ में कपिलदेव द्विवेदी, अथर्व. व्या. द., पृ. 50
2. अथर्व., 12.5.1-3
3. अथर्व., 9.7.25

सभी जड़-चेतन जगत का रूप गोरूप अर्थात् वाक्रूप ही है । अथर्ववेद के इसी नवम काण्ड के सातवें सूक्त में छब्बीस मन्त्रों में वाक्तत्त्व के विराट्रूप का भव्य वर्णन किया गया है । इसे एक अद्वितीय तत्त्व बताकर समस्त जगत का कर्ता और कारण कहा गया है ।[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थ और वाक्तत्त्व :

व्याकरण से परिचित और वाक्तत्त्व के साक्षात्कर्ता मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वाक् को ब्रह्म कहा है और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका उसी प्रकार विवेचन प्राप्त होता है । ऐतरेय,[2] शतपथ[3] और गोपथ ब्राह्मण[4] में वाक् को ब्रह्म कहा गया है । जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जिसे हम वाक् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है ।[5] ऐतरेय का कथन है कि वाक् ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों ही है ।[6] इसलिए वाक् को सुब्रह्मण्या कहा जाता है ।[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्रह्म ही वाक्तत्त्व का परम तत्त्व है ।[8] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों ने बार-बार वाक् को ब्रह्म और ब्रह्म को ही वाक् कहकर शब्द और ब्रह्म की अभिन्नता प्रतिपादित की है ।

वाक्तत्त्व से सृष्टि :

काठक संहिता तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण में कहा गया है कि

---

1. अथर्व., 9.7.1-26
2. वाग्वैब्रह्म । - ऐ. ब्रा., 6.3
3. वाग्वैब्रह्म । - शत.ब्रा., 2.1.4.10
4. वाग्ब्रह्म । - गो. ब्रा.पू., 2.10
5. सा या सा वाग् ब्रह्मैव तत् । -जै.ब्रा. 2.13.2
6. वाग्वैब्रह्म च सुब्रह्म चेति । -ऐ.ब्रा.,6.3
7. वाग्वै सुब्रह्मण्या । - ऐ.ब्रा., 6.3
8. ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम । - तै. ब्रा., 3.9.5.5

प्रजापति अकेला था । वाक् ही द्वितीया थी । वाक् और प्रजापति के ऐक्य से प्रजा की सृष्टि हुई ।[1] ऐतरेय ब्राह्मण ने कहा है कि वाक् ही समस्त अर्थजगत् का कारण है । व्याकरण-दर्शन में भी इसी प्रकार शब्दब्रह्म से जगत् का विकास बताया गया है ।[2]

वाक्तत्व विभिन्न रूपों में :

ऐतरेय,[3] कौषीतकि[4] आदि अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् को सरस्वती कहा है । शतपथ में इसे सुपर्णी अर्थात् माया-शक्ति कहा है ।[5] इसी ब्राह्मण ने इसे मनन्शक्ति भी कहा है ।[6] शतपथ ब्राह्मण ने इसे विराट कहा है ।[7] गोपथ[8] और शतपथ[9] ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इसे प्रकाशकतत्व "अग्नि" भी कहा है ।

वाक्तत्व के भेद और स्थिति :

यास्क ने अपने निरुक्त में एक ब्राह्मण ग्रन्थ का सन्दर्भ उद्धृत किया है, जिसमें लिखा है कि वाक्तत्व की सृष्टि होने पर वह चतुर्धा विभक्त हो गया । उसके तीन भाग विभिन्न लोकों में हैं और चौथा भाग पशुओं, मनुष्य, गौ, बकरी आदि में है । उस वाणी का एक अंश जो पृथ्वी में है,

---

1· क॰ प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्तस्य वागेव स्वमासीद् वाग् द्वितीया स ऐक्षत ।
-काठकसंहिता, 12·5·27

ख॰ प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत् तां मिथुनं समभवत्, सा गर्भमधत्त, सास्माद्पाक्रामत्सेमाः प्रजाअसृजत । -ताण्ड्य ब्रा·, 20·14·2

2· विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । -वा·प·, 1·1

3· वाक् तु सरस्वती । - ऐ·ब्रा·, 3·1

4· वाग्वै सरस्वती । - कौ·ब्रा·, 5·2

5· वागेव सुपर्णी । - शत·ब्रा·, 3·6·2·2

6· वाग्वै मतिः । वाचा हीदं सर्वं मनुते । - शत·ब्रा·, 8·1·2·7

7· वाग् वै विराट । - वही, 3·5·1·34

8· या वाक् सोऽग्निः । - गो·ब्रा·, [illegible]·11

9· वागेवाग्निः । -शत·ब्रा·, 3·2·2·13

वही अग्नि में और वही रथन्तर साम में है । उसका जो दूसरा अंश अन्तरिक्ष में है, वही वायु में है और वही वामदेव्य साम में है । उसका एक अंश द्युलोक में है, वही आदित्य में है, वही बृहत साम में है और वही विद्युत में है । जो चतुर्थांश पशुओं (मनुष्य, गौ आदि) में है उसके अतिरिक्त जो वाणी के तीन अंश अवशिष्ट रहे, वे ब्राह्मणों अर्थात केवल ब्रह्मवेत्ताओं में स्थापित हुए । अत एव ब्राह्मणलोग दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं, एक देवताओं की और दूसरी मनुष्यों की ।[1] व्याकरण-दर्शन के आचार्य नागेशभट्ट ने भी ऋग्वेद के "चत्वारि श्रृंगा –" मन्त्र के भाष्यकार पतंजलि द्वारा किये गये अर्थ की व्याख्या करते हुए वाणी के चार भेद बताए हैं – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[2] भर्तृहरि ने भी व्यवहारगम्य वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती – इन तीन वाणियों का प्रतिपादन करके चौथी पर पश्यन्ती नाम की व्यवहारातीत वाणी का प्रतिपादन किया है ।[3] सभी दार्शनिक वैयाकरणों ने ब्राह्मण के उक्त वचन के अनुसार वैखरी को छोड़कर शेष तीन वाणी का साक्षात्कार वाग्योगविद वैयाकरणों द्वारा ही शक्य बताया गया है ।[4]

शब्दाख्य परम ज्योति :

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञवृत्ति में अनेकत्र व्याकरणदर्शन की पुष्टि में श्रुति वचन उद्धृत किए हैं, जिनमें अधिकांश ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं । वह ब्रह्मकाण्ड की एक मूल कारिका में शब्द को पुण्यतम ज्योति बताकर[5] उसकी पुष्टि हेतु वृत्ति में श्रुतिवचन को उद्धृत करते हैं

---

1. सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे । .....अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः । तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम् । – निरु., 13.9 पर उद्धृत ब्राह्मणवाक्य
2. पदजातीनि परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः । – व्या.म.भा. आ.–1 उद्योत
3. इस विषय में प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के पंचम अध्याय में "त्रयीवाक्" प्रकरण में पादटिप्पणियों सहित विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।
4. वै.सि.म., शक्त्याश्रय-निरूपण

जिसमें कहा गया है कि इस संसार में स्वरूप और पररूप के अवद्योतक तीन प्रकाश है । यथा - एक जो जातवेदा है §पार्थिव अग्नि, विद्युत और सूर्य§[1] दूसरी ज्योति पुरुषों में आभ्यन्तर प्रकाश है § अर्थात जीवात्मा§ तीसरा शब्द नाम का प्रकाश है जो प्रकाश और अप्रकाश को भी प्रकाशित करता है । यही सर्वोत्तम प्रकाश है । समस्त स्थावर और जंगम उसी शब्द नाम के प्रकाश में निबद्ध है ।[2]

उपनिषद और शब्द तत्त्व :

वेदों के ज्ञानकाण्ड को मुख्य विषय बनाकर उपनिषदों की रचना हुई है । वाक या शब्दतत्त्व के सम्बन्ध में वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में जो विचार आए हैं, उपनिषत्कारों ने उन पर उसी प्रकार सूक्ष्म, दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचन विस्तार से किया है । मुख्यतया यहां भी सिद्धान्त वही हैं जो पीछे वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में कह आए हैं । तथापि कुछ विशिष्ट दृष्टान्त दर्शनीय है -

शब्द की महत्ता :

छान्दोग्य उपनिषद के एक सन्दर्भ के अनुसार ब्रह्मज्ञानी सनत्कुमार नारद को कहते हैं कि यदि सृष्टि में वाक तत्त्व न होता तो न धर्म और न अधर्म की व्यवस्था होती, न सत्य और असत्य में अन्तर होता, न साधु और असाधु की पहचान होती, न हृदयज्ञ और अहृदयज्ञ के अन्तर की व्यवस्था होती ।

---

1. स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते ततो नु मध्यम: ।····अथासावादित्य: । -निरु०, 7·20
2. इह त्रीणि ज्योतींषि त्रय: प्रकाशा: स्वरूपपररूपयोरवद्योतका: । तद्यथा - योयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तर: प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयो: प्रकाशयिता शब्दाख्य: प्रकाशस्तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च । इति । - वा·प·, 1·12 की हरिवृत्ति पर उद्धृत

यह वाक् तत्त्व ही है जिससे इन सब की विवेचना, व्यवस्था एवं पहचान होती है । इसलिए जो वाणी की ब्रह्म रूप से उपासना करता है, वह वाणी में पारंगत होता है तथा वाक्ब्रह्म की शक्ति से वह सभी कामनाओं को पूर्ण कर लेता है ।[1]

प्रतिभातत्त्व :

व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थ वाक्यपदीय में प्रतिभा तत्त्व को विस्तार से विवेचित किया गया है ।[2] ऐतरेय उपनिषद् में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रज्ञान अर्थात् प्रतिभा के ही ये सब नाम हैं - संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु (प्राण), काम और वश[3] स्पष्ट है कि व्याकरणदर्शन में प्रतिपादित प्रतिभा के स्वरूप का सिद्धान्त मूलत: वैदिक साहित्य में प्रतिपादित है ।

वाक् की ब्रह्म से अभिन्नता :

ब्रह्मवेत्ता उपनिषत्कारों ने वेदों में प्रतिपादित वाक्तत्त्व की ब्रह्मरूपता का अनेकत्र समर्थन किया है । बृहदारण्यकोपनिषद् में घोषणा की गयी है कि वाक्तत्त्व ही सृष्टि का सम्राट् है, वह परम ब्रह्म है -

वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म ।[4]

---

1. यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति । स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ।
   - छा॰उप॰, 7·1-2
2. वा॰प॰ काण्ड-3 जातिसमुद्देश ।
3. संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं - .... इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। - ऐ॰उप॰, 3·2
4. बृ॰उप॰, 4·1

शब्दाद्वैत की पुष्टि :

दार्शनिक वैयाकरणों ने शब्दाद्वैत के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है, जिसे अगले पृष्ठों में पांचवें अध्याय में विस्तार से प्रतिपादित किया जाएगा । कैवल्योपनिषद ने व्याकरणदर्शन के इस शब्दाद्वयवाद का समर्थन इस प्रकार किया है -

> स ब्रह्मा स शिव: सेन्द्र: सोऽक्षर: परम: स्वराट् ।
> स एव विष्णु: स प्राण: स कालोऽग्नि: स चन्द्रमा: ।।
> स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।[1]

अर्थात् वही एक अद्वितीय तत्त्व ब्रह्मा हैं, वही शिव है, वही अक्षर शब्दतत्त्व है, वही परम स्वराट् है । उसी को विष्णु, प्राण, काल, अग्नि तथा चन्द्रमा कहा जाता है । वर्तमान, भूत और भविष्यत् में जो कुछ है वह सनातन अक्षरतत्त्व ही है ।

वैदिक वाङ्मय में व्याकरणिक विश्लेषण :

पूर्व पृष्ठों में हुए विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में वाक्तत्त्व पर दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से व्यापक और गहन विचार हुआ है । क्योंकि ये ग्रन्थ व्याकरण या शब्दशास्त्र तो हैं नहीं, इसलिए इनमें व्याकरणिक विश्लेषण का न होना स्वाभाविक है । पहले बताया जा चुका है कि इसके लिए उस युग में भी, विशेषतया उत्तरवैदिक काल में पृथक् से व्याकरणग्रन्थ थे जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है तथापि वैदिक वाङ्मय के कुछ सन्दर्भ उस युग के दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बने उच्चकोटि के व्याकरणों की सत्ता को तथा उनके तात्त्विक विश्लेषणों को सूचित करते हैं ।

तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि प्राचीन युग में वाणी अव्याकृत [अविभक्त, अखण्ड, प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से रहित] ही बोली

---

1. के॰उप॰, 1॰809

जाती थी । देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की कि वह उनके लिए इस अखण्ड वाणी को व्याकृत करें । इन्द्र ने भी उस वाक् को मध्य से तोड़कर व्याकृत कर दिया ।[1] सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से विच्छिन्न करके सर्वत्र प्रकृति प्रत्यय के विभाग वाली बना दिया ।[2] स्पष्ट है कि इन्द्र ने वाणी का यह विभाग पहले पदों में और फिर धातु, प्रत्यय आदि में किया, जो निश्चय ही अर्थ पर आधारित होगा । इन्द्र ने अन्वय-व्यतिरेक के साधन से पदांशों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध निश्चित करके ही वाणी का व्याकरण ﴾विभाग﴿ और विश्लेषण किया होगा । क्योंकि संस्कृत का व्याकरण जिस प्रकार अर्थ-सहित प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के उपरान्त पुन: इनके योग से शब्द संस्कार का साधन बनता है, वह सब शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध के तात्त्विक विश्लेषण से ही सम्भव है ।

व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन बताते हुए वरुण की स्तुति वाला एक वैदिक मन्त्र इस प्रकार उद्धृत किया है -

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धव: ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।।[3]

इसकी व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं कि हे वरुण तुम सत्यदेव हो । तुम्हारे सात सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियां तालु से निकलती हैं ।[4]

1· वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति । ······ तामिन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् ।
- तै· सं·, 6·4·7

2· तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् ।
-वही, सायणाचार्यकृत व्याख्या ।

3· ऋ·, 8·69

4· सुदेव: असि वरुण सत्यदेव: असि । यस्य ते सप्त सिन्धव: सप्त विभक्तय: । अनुक्षरन्ति काकुदम् । काकुदं तालुम् । - व्या·म·भा·आ·।

अथर्ववेद में भी "हे त्रिषप्ता:" से सात विभक्तियां और उनके त्रिक [तीन-तीन वचन] अभिप्रेत है ।[1] इसी प्रकार -

वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मीमते सप्तवाणी: ।[2]

यह ऋग्वेदीय वचन भी उस युग के ऋषियों के व्याकरण-विश्लेषण-सम्बन्धी ज्ञान को सूचित करता है ।

पूर्व पृष्ठों में ऋग्वेद का "चत्वारि श्रृंगा" मन्त्र शब्द के ब्रह्मरूप महान् देव के स्वरूप के प्रसंग में उद्धृत किया गया है । इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार पतंजलि लिखते हैं कि - इस शब्दवृषभ के चार सींग चार पद हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । इसके तीन पाद तीन काल हैं - भूत, भविष्यद और वर्तमान । इसके दो सिर दो शब्दात्मा हैं- नित्य और कार्य । इसके सात हाथ हैं - सात विभक्तियां ।[3] इस प्रकार यह मन्त्र वैदिक ऋषियों के व्याकरणिक विश्लेषण के ज्ञान का परिचायक है ।

गोपथ ब्राह्मण में एक महत्त्वपूर्ण वचन इस प्रकार उपलब्ध होता है -

"ओंकारं पृच्छाम:, को धातु:, किं प्रातिपादिकं, किं नामाख्यात, किं लिंगं, किं वचनं, का विभक्ति:, क: प्रत्यय:, क: स्वर:, उपसर्गो, निपात:, किं वै व्याकरणं, को विकार:, को विकारी, कतिमात्र, कतिवर्ण:, कत्यक्षर:, कतिपद:, क: संयोग:, किं स्थाननादानुप्रदानकरणम् ···· ।"[4]

1· सं·व्या·उ·वि·, पृ·24

2· ऋ·, 1·164·24

3· चत्वारि श्रृंगाणि । चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादा: । त्रय: काला भूतभविष्यद्वर्तमाना: । द्वे शीर्षे । द्वौ शब्दात्मानौ नित्य: कार्यश्च । सप्त हस्तासो अस्य । सप्त विभक्तय
- व्या·म·भा·आ·-1, पृ·24

4· गो·ब्रा·पू·, 1·24

ये सभी प्रश्न उस युग के व्याकरणिक विश्लेषण की स्थिति को दर्शाते हैं। प्रश्न है तो इनके उत्तर भी उस युग के वैयाकरणों को अवश्य विदित होंगे जो व्याकरण-दर्शन के पद-पदार्थ विषयक तात्विक चिन्तन को सूचित करते हैं।

प्रातिशाख्य और व्याकरण-दर्शन :

प्रातिशाख्यों की प्रवृत्ति वेदमन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले ध्वनि विकारों के ज्ञान के लिए हुई है। वाक्य और वाक्यार्थ, पद और पदार्थ, प्रकृति और प्रकृत्यर्थ, प्रत्यय और प्रत्ययार्थ का विश्लेषण इनका उद्देश्य नहीं रहा है और न ही इन में वाक्तत्त्व की पारमार्थिक एवम् आध्यात्मिक चर्चा है जैसे कि वेदमन्त्रों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में मिलती है। तथापि व्याकरण-दर्शन जब व्यावहारिक दृष्टि से पद-पदार्थ का तात्त्विक विवेचन करता है तो ध्वनि विज्ञान एवं वर्णविषयक ज्ञान भी उसका अंग बन जाता है। इसी कारण तो कौण्डभट्ट,[1] नागेशभट्ट[2] आदि दार्शनिक वैयाकरणों ने वर्णस्फोट को भी व्यावहारिक दृष्टि से मान्यता दी है। वैयाकरणों ने संक्षेप में वर्ण पर चर्चा की है परन्तु प्रातिशाख्याकारों ने वर्णों पर सूक्ष्म एवं तात्त्विक विश्लेषण किया है। यहां इसके दो-तीन दृष्टान्त प्रस्तुत हैं।

ह्रस्वत्वादि का आधार कालावधि :

व्याकरण में प्रथमतः स्वरों के तीन भेद माने हैं, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनमें एक मात्रा के समय में उच्चार्यमाण "उ" आदि स्वर को

---

1. यद्यपि वर्णस्फोटः, पदस्फोटः, वाक्यस्फोटः····इत्यष्टौ पक्षाः सिद्धान्तसिद्धा······। - वै.भू.सार, स्फोट-निरूपण पृ.45।
2. किं च व्यंजक-ध्वनिगत-कत्व-गत्वादिकं स्फोटे भासते। - प.ल.म., स्फोट-निरूपणम्, पृ.~~555~~103

ह्रस्व, द्विमात्रिक को दीर्घ तथा त्रिमात्रिक को प्लुत कहा जाता है ।[1] मात्रा का न्यूनतम मानक अणु कहा गया है परन्तु यह इन्द्रिय से अगम्य है ।[2] दो अणुओं के बराबर को परमाणु कहा गया है जो अर्धमात्रा का मानक है[3] और यह व्यक्त-मात्र है ।[4] इस प्रकार दो परमाणु एक मात्रा का मानक हुआ । ये अणु या परमाणु सूक्ष्म कालावधि के मानक हैं । इस प्रकार ध्वनियों के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत के वर्गीकरण का आधार कालावधि है ।[5]

कालभेद से वृत्तिभेद :

इसी कालावधि की दृष्टि से मानवीय भाषा को तीन प्रकार का माना है - द्रुत, मध्यम और विलम्बित । इसे वृत्ति भी कहा जाता है । ऋकतन्त्र, जोकि प्रातिशाख्यों की कोटि का वैदिक व्याकरण है, के अनुसार इस तीन प्रकार की वाक् का अनुपात क्रमशः 3:4:5 है ।[6] अर्थात् द्रुत वाक् के उच्चारण होने तक यदि पानी की तीन बून्दें गिरती हैं तो मध्यमा में समय कुछ अधिक लगने से चार बून्दें गिरती हैं, जबकि विलम्बित के उच्चारण में और अधिक समय लगने से इस अवधि में जल की पांच बून्दें गिरती हैं । कैयट ने यह अनुपात 9:12:16 का बताया है ।[7] ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार

---

1. ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घप्लुतः । -- पा॰सू॰, 1·2·27
2. इन्द्रियाविषयो योसावणुरित्युच्यते बुधैः । - शम्भु शिक्षा, पृ॰46
3. परमाण्वर्धमात्रा । - वाज॰प्राति॰, 1·61
4. मात्रार्धव्यक्तमात्रकम् । -- व्यास शिक्षा 27·2
5. ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ।पा॰शि॰सं॰, पृ॰379
6. द्रुतायां मात्रा त्रिकला, चतुष्कला मध्यमायां, पंचकला विलम्बितायाम् ।
   -ऋकतन्त्र, पृ॰10
7. द्रुतं श्लोकं यं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्या नवपानीयफलानि स्रवन्ति तस्या एवं मध्यमायां वृत्तौ द्वादश फलानि स्रवन्ति ।
   - व्या॰म॰भा॰प्रदीप, 1·1·70 पर

द्रुतवाक् का प्रयोग वैदिक मन्त्रों के गान में, मध्यमा का व्यवसाय में तथा विलम्बित का शिक्षणकाल में किया जाता था ।[1] प्राचीन वैयाकरणों एवम् प्रातिशाख्यकारों का यह ध्वनि-विषयक विश्लेषण विधिवत परीक्षणों पर आधारित था ।[2]

वायु ही शब्द है :

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यकारों आदि के तीन मत दर्शाए हैं । इनमें प्रातिशाख्यकार वायु से, शिक्षाकार परमाणु से तथा वैयाकरण लोग ज्ञान से शब्द की उत्पत्ति मानते है ।[3] इनमें प्रातिशाख्यकारों का मत है कि वायु ही शब्द के रूप में परिणत होता है । शुक्लयजु: प्रातिशाख्य में कहा है कि वायु: संघातों को प्राप्त होने पर शब्द के रूप में परिणत होता है ।[4] अर्थात् जिस प्रकार वायु शंख, वेणु आदि से घर्षण के उपरान्त शब्द का रूप धारण करता है, उसी समान वह संघातों अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों और कण्ठ-ताल्वादि स्थानों को प्राप्त करके वाक् या वर्णरूप को प्राप्त होता है । प्रातिशाख्य के इस वचन को भर्तृहरि और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वक्ता की इच्छा के अनु-सरण करने वाले प्रयत्न से वायु: सक्रिय हो उठता है और वह उच्चारण स्थानों से टकरा करके ध्वन्यात्मक शब्द के रूप में परिणत होता है ।[5] प्रातिशाख्यकारों ने वर्णों के उत्पत्ति-स्थान, प्रयत्न, आक्षरिक विभाजन, आक्षरिक मात्रा, स्वर-भक्ति, अभिनिधान, स्वराघात, उच्चारणप्रकार, वृत्ति, वर्णदोष आदि का सूक्ष्म, विस्तृत और तात्त्विक विश्लेषण किया है ।

---

1. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ।
   शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ।। - ऋ॰प्राति॰, 5.2।
2. प्रा॰भा॰वै॰ध्व॰वि॰वि॰अ॰, पृ॰196
3. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते । - वा॰प॰, 1.107
4. स संघातादीन् वाक्...... । -यजु॰प्राति॰अ॰1 सूत्र-9
5. लब्धक्रिय: प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
   स्थानेष्वभिहतो वायु: शब्दत्वं प्रतिपद्यते ।। - वा॰प॰, 1.108

यास्क का निरुक्त एवं व्याकरणदर्शन

मात्र ध्वनि-विकारों और संहितापाठ तथा पदपाठ आदि के नियमों का विवेचन करने वाले प्रातिशाख्य ग्रन्थों को छोड़कर शेष पाणिनि से पूर्वकालीन व्याकरणों के सम्प्रति उपलब्धन होने पर भी पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्कीय निरुक्त व्याकरणदर्शन के सम्बन्ध में पर्याप्त एवं महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। यास्क न केवल शाकटायन और औदुम्बरायण जैसे वैयाकरणों के व्याकरणदर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों से हमें अवगत कराता है, अपितु निर्वचन और उससे सम्बन्धित विचार-विश्लेषणों से स्वयं भी व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को उजागर करता है ।

परिचय :

आचार्य यास्क के जीवन, कुल आदि के विषय में इतिहासकारों को कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हुई है । कुछ विद्वानों ने सम्भावना व्यक्त की है कि यास्क पारस्कर देश के रहने वाले थे, क्योंकि निरुक्त के परिशिष्ट कहे जाने वाले चौदहवें अध्याय के अन्त में "नमः यास्काय नमः पारस्कराय च" पाठ मिलता है ।[1]

समय :

यास्क के समय के विषय में वर्तमान में प्रायः सभी इतिहासकारों का यह निष्कर्ष है कि निरुक्तकार यास्क पाणिनि से कम से कम 100-200 वर्ष पूर्व हुए हैं । बोथलिंक, रूडोल्ड आदि विद्वानों ने यास्क के पाणिनि से उत्तरवर्ती होने की सम्भावना व्यक्त की थी । इसी आधार पर श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने निरुक्तालोचन में यास्क को पाणिनि से उत्तरवर्ती बताया है। परन्तु बाद के विद्वानों की नवीन अन्वेषणाओं से अब उक्त

---

1. निरुक्त, मेरठ संस्करण 1978 की कपिलदेव शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका पृ. 24

मत अमान्य हो चुका है । पाणिनि की अष्टाध्यायी में आया "परः सन्निकर्षः संहिता" सूत्र[1] निरुक्त में[2] भी इसी रूप में प्राप्त होता है । मुख्यतया इसी आधार पर उक्त विद्वानों की यास्क को पाणिनि से उत्तरकालीन मानने की धारणा बनी थी । परन्तु बाद के विद्वानों ने यह सूत्र पाणिनिकृत नहीं माना है अपितु बताया है कि यह पाणिनि ने पूर्व परम्परा से प्राप्त किया है । पाणिनि द्वारा "यास्कादिभ्यो गोत्रे" सूत्र[3] में यास्क का उल्लेख करने के अतिरिक्त प्रायः सभी बाद के इतिहासकारों ने निरुक्त और पाणिनि की भाषा शैली और इनके प्रतिपाद्य सन्दर्भों की व्यापक छानबीन और तुलना करके तथा पाणिनि से पूर्ववर्ती वाङ्मय और उनके रचयिताओं से यास्क के पौर्वापर्य की विस्तृत समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि निरुक्त का इतिहास निश्चितरूप से पाणिनि से पूर्ववर्ती है । [4]गिरधर शर्मा चतुर्वेद ने भी महाभाष्य की संस्कृत में निबद्ध विस्तृत भूमिका में निष्पक्षता के साथ उक्त दोनों पक्षों की प्रमाणों के साथ समीक्षा करने के बाद यही सम्भावना व्यक्त की है कि यास्क ही पाणिनि से पूर्ववर्ती हो सकते हैं[5]। जार्ज कार्डोना ने अपने पाणिनि-ग्रन्थ में दोनों पक्षों के विद्वानों के मतों को उद्धृत करने के बाद यद्यपि यास्क के पाणिनि से पूर्ववर्ती होने के पक्ष को ही उत्तरपक्ष में रखा है, तथापि उन्होंने इस निर्णय को स्थायी एवं अन्तिम मान्यता देने के लिए बहस जारी रखने का सुझाव दिया है ताकि और अधिक प्रमाण तथा निष्कर्ष सामने आ सकें ।[6]

---

1. पा॰सू॰, 1·4·109
2. निरु॰, 1·17
3. पा॰सू॰, 2·4·63
4. द्रष्टव्य – क) मीमांसक, सं॰व्या॰शा॰इति॰भाग-1 पृ॰203 से
   ख) डा॰वर्मा, सं॰व्या॰उ॰वि॰ पृ॰87-92
   ग) अभ्यंकर, ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर पृ॰292
5. तत्रात्याधिक्येन यास्कस्यैव पूर्वभवत्वं सम्भाव्यते । –व्या॰म॰भा॰चौखम्बा सं॰ 1954 की गिरधर शर्मा चतुर्वेदकृत भूमिका पृ॰23
6. कार्डोना, पाणिनि – ए सर्वे आफ रीसर्च, पृ॰270-73

निरुक्त :

निरुक्त आचार्य यास्क की प्रख्यात रचना है । यास्क ने पहले वेद के निर्वाच्य शब्दों का "निघण्टु" नाम से संग्रह करके उनकी व्याख्या और विवेचन के रूप में निरुक्त ग्रन्थ की रचना की है । निरुक्त एक प्रमुख वेदांग है, यह उन्होंने स्वयं कहा है - जब केवल उपदेश से काम चलाना कठिन हो गया तो अध्येताओं की सुविधा की दृष्टि से यह ग्रन्थ तथा अन्य वेदांग रचे गये ।[1] निरुक्त के बिना वेदमन्त्रों के अर्थ का ज्ञान करना कठिन हो जाता है ।[2] अत: वेदार्थ के ज्ञान की व्युत्पत्ति बनाना निरुक्त का प्रमुख उद्देश्य है ।

व्याकरण का कार्त्स्न्र्य :

यद्यपि निरुक्त और व्याकरण भिन्न-भिन्न वेदांग माने जाते है, तथापि इनमें से निरुक्त व्याकरण का ही अंग है और व्याकरण इसका अंगी है । यास्क ने स्वयं कहा है कि यह व्याकरण का कात्स्न्र्य भी है और स्वार्थसाधक भी है ।[3] अर्थात यह अपना उद्देश्य भी पूरा करता है और व्याकरण में भी पूर्णता लाता है । व्याकरण केवल प्रकृति-प्रत्यय और उनके अर्थ का विभाजन करते हुए शब्द-संस्कार का कार्य करता है जबकि निरुक्त उन नियमों का व्यापक प्रयोग करता है, निर्वचन की शैली बताता है, और विपुल शब्दराशि के निर्वचन प्रस्तुत करता है । निरुक्त यह सब अर्थ की संगति बताते हुए ही करता है ।

व्याकरण-दर्शन की सूचनाएं :

क्योंकि निरुक्त प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का औचित्य और अर्थ की

---

1. उपदेशाय ग्लायन्तोवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषु: वेदं च वेदांगानि च । - निरु., 1.20
2. अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते । - निरु., 1.17
3. व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वार्थसाधकं च । - निरु., 1.15

संगति बताते हुए निर्वचन प्रस्तुत करता है, इसलिए इसे इस दृष्टि से व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है । यास्क के निरुक्त से जो व्याकरणदर्शन सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त होती हैं, उनके कुछ दृष्टान्त इस प्रकार हैं -

पद-चतुष्टयोद्देश :

यास्क ने पद चार प्रकार के माने हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।[1] इनमें से आख्यात भावप्रधान होता है तथा नाम द्रव्यप्रधान होते हैं ।[2] जहां क्रिया और द्रव्य दोनों का बोध होता है, वहां दोनों भावप्रधान होते हैं ।[3] यथा - व्रजति, पचति आदि द्वारा कर्ता प्रारम्भ से लेकर अन्त तक होने वाली सभी अवान्तर साध्य क्रियाओं का बोध कराता है । परन्तु "व्रज्या" "पक्ति" आदि नाम शब्दों से वह मूर्त एवं द्रव्य के समान बने सिद्धभाव को कहता है ।[4] "अद:" {यह} सर्वनाम के प्रयोग से सिद्धभावों {द्रव्य} का कथन होता है और "भवति" से साध्य भाव का कथन होता है ।[5] इस प्रकार यास्क ने अत्यन्त संक्षेप में ही नाम और आख्यात पदों के सामान्य पदार्थ का इतना सुन्दर और सटीक विश्लेषण किया है जो व्याकरण-दर्शन के अर्वाचीन ग्रन्थों में इसी प्रकार ले लिया गया है ।

शब्द-नित्यत्व :

यास्क ने औदुम्बरायण के मत का उल्लेख किया है जो शब्द को नित्य मानने के कारण नाम आख्यात आदि के पदविभाग को उपपन्न नहीं

---

1. तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति । - निरु; 1.1.1
2. भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि । - वही, 1.1.1
3. तद्यत्रोभे, भावप्रधाने, भवत: । - वही, 1.1.1
4. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभि:, व्रज्या पक्तिरिति । - वही, 1.1.1
5. अद इति सत्त्वानामुपदेश: । ....भवतीति भावस्य । - वही, 1.1.1

मानता है ।[1] औदुम्बरायण को नित्य स्फोटतत्त्व के प्रतिपादक प्राचीन आचार्य के रूप में परिचित कराने का श्रेय मात्र निरुक्तकार यास्क को जाता है । यास्क स्वयं भी शब्द को व्याप्तिमान् होने से अर्थात् वक्ता और श्रोता- सब के अन्तःकरण में (स्फोटरूप में) स्थित होने से नित्य मानते हैं[2] ।

षड्भाव-विकार :

यास्क ने आचार्य वार्ष्यायणि के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि भावविकार छः प्रकार के होते हैं - उत्पन्न होना, स्थिति, परिणति, बढ़ना, घटना और नष्ट होना ।[3] इनमें से प्रत्येक भाव का विवेचन यास्क ने पृथक्-पृथक् रूप से किया है । इन भावविकारों का विश्लेषण भी अर्वाचीन व्याकरण-दर्शन में इसी प्रकार मान्य है ।[4]

उपसर्ग वाचक या द्योतक ?

निरुक्तकार यास्क कहते हैं कि वैयाकरण शाकटायन के मत में उपसर्ग निश्चित अर्थों का अभिधान नहीं करते हैं, क्योंकि ये मात्र धात्वर्थ को द्योतित करते हैं । परन्तु नैरुक्त गार्ग्य के मत से उपसर्ग भी वाचक है ।[5] इस प्रकार व्याकरणदर्शन में उपसर्गों को द्योतक मानने का सिद्धान्त सर्वप्रथम निरुक्त में ही मिलता है ।

---

1. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः । - निरु०, 1.1.1
2. व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य । - निरु०, 1.1.2
3. षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः । जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति । - निरु०, 1.1.3
4. अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
   जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।। - वा०प०, 1.3
5. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः । ...उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः । -निरु०, 1.1.4

सभी नाम आख्यातज :

यास्क कहते हैं कि वैयाकरणों में शाकटायन और सभी निरुक्तकार सभी नामों को धातु से निष्पन्न मानते हैं ।[1] परन्तु निरुक्त-कारों में से गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण कहते हैं कि अधिकांश "नाम" शब्द आख्यात हैं परन्तु सभी नहीं ।[2] इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों में दोष और उनके परिहार, विशेषतया शाकटायन आदि के पक्ष में बताए दोषों का परिहार यास्क ने विस्तार से किया है । इस प्रकार क्रिया की प्रधानता के कारण और साध्य क्रियावाचक धातु से सिद्धभावार्थक नामों को निष्पादित का यह सिद्धान्त सर्वप्रथम निरुक्तकार यास्क ने शाकटायन और नैरुक्तों के नाम से प्रस्तुत किया है ।

निर्वचन-प्रकार :

यास्क कहते हैं कि जिन शब्दों के स्वर और संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय-विभाग) व्याकरण-पद्धति के अनुसार होते हैं, उनका निर्वचन व्याकरण के अनुसार करना चाहिए । परन्तु जिनमें ऐसी बात प्रतीत न हो वहां भी अर्थ को प्रधान मानकर किसी भी वृत्ति या क्रिया की समानता से परीक्षा करके निर्वचन कर लेना चाहिए ।[3] यास्क ने पदांशों की समानता के आधार पर उसके अर्थ से कोई न कोई सम्बन्ध ढूंढते हुए शब्दोंका निर्वचन करने के उपाय उदाहरण देकर सुझाए हैं ।[4] यास्क ने शब्दों की अर्थों के साथ संगति बैठाते हुए तथा व्याकरणशास्त्र के नियमों का अधिकाधिक उपयोग करते हुए जिस कौशल से विपुल शब्दराशि का निर्वचन किया है, वह भी व्याकरणदर्शन के पद-पदार्थ के विश्लेषण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

---

1. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । -निरु., 1.4.12
2. न सर्वाणीति गार्ग्य:, वैयाकरणानां चैके । - निरु., 1.4.12
3. तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् । अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्य: परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन । -- निरु. 2.1.1
4. निरु., 2.1.1-4

प्रतिभा, शब्दतत्त्व एवं सृष्टि :

व्याकरणदर्शन के प्रमुख प्रतिनिधिग्रन्थ वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने प्रतिभा-तत्त्व का स्वरूप विस्तार से प्रतिपादित किया है।[1] इसे शब्दब्रह्म से अभिन्न बताते हुए इस अद्वितीय परम-तत्त्व को समस्त सृष्टि का मूलकारण बताया है।[2] व्याकरण-दर्शन का यह सिद्धान्त आचार्य यास्क ने निरुक्त में पर्याप्त विस्तार से इस प्रकार बताया है -

"प्रतिभा समस्त लिंगों अर्थात् लक्षणों से बढ़कर है। वह महान् आत्मा है।[3] यह प्रतिभातत्त्व सत्त्वलक्षण है। अर्थात् "सत्ता" ही प्रतिभा है। वही पर ब्रह्म है। वही सत्य है। वही सलिल है। वह अव्यक्त है। उसे स्पर्शशून्य, रूपशून्य, रसशून्य तथा गन्धरहित भी कहा जाता है। वह अमृत अक्षर तत्त्व है। वह शुक्ल है - भास्वर है। वह ब्रह्म अपरनाम "प्रतिभा" पंचभूतों के शरीरों में रहने वाली आत्मा है। इसी को कुछ लोग (सांख्य) भूतों की प्रकृति कहते हैं। उसी को (गीता आदि में) क्षेत्र कहा गया है तथा उसके ज्ञान से ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है। यह प्रतिभारूप महान् आत्मा (ब्रह्म) तीन प्रकार का है - सत्त्व, रजस् और तमस्। अर्थात् यह सात्त्विक राजस और तामस - त्रिगुणात्मक है। प्रतिभा महान् आत्मा है, अतिलिंग है। अथवा इसका निश्चित लिंग (चिन्ह) आकाश है।[4]

---

1. वाक्यपदीय काण्ड-3, जातिसमुद्देश।
2. काचित् स्वाभाविकी प्रतिभा। परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं - सुषुप्तावस्थायामेव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः। - वा॰प॰, 2·152 की वृत्ति
3. प्रतिभातिलिंगो महानात्मा। - निरु॰, 13·16
4. अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद्ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं तदरसं तदगन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रं तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकम्। त्रिविधो महानात्मा त्रिविधो भवति। सत्त्वं रजस्तमः इति। सत्त्वं तु मध्ये। विशुद्धं तिष्ठति। अभितो रजस्तमसी इति।" - निरु॰, 13·16

निरुक्त में आगे लिखा है कि शब्द आकाश का गुण है, आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु से ज्योति की, ज्योति से जल की, जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इनके गुण बताने के बाद कहा है कि पृथ्वी से स्थावर और जंगम - समस्त भूतग्राम (भौतिक-तत्त्वों) का विकास होता है। यह "अह:" - एक सहस्र युग तक स्थित रहता है। उसके अन्त में सोने की इच्छा से अंगों का प्रत्याहरण प्रारम्भ होता है। भौतिक तत्त्व पृथिवी में लीन हो जाते हैं। पृथिवी तत्त्व जल में, जल ज्योति: में, ज्योति: वायु में और वायु आकाश में क्रमश: लीन होते चले जाते हैं। आकाश मनस्तत्त्व में और मन विद्या में लीन हो जाता है। विद्या महान् आत्मा को प्राप्त हो जाती है। आत्मा प्रतिभा को और प्रतिभा प्रकृति को प्राप्त होती है। यह शयन (प्रलय) एक सहस्र युग तक चलता रहता है जो रात्रि है। ये सृष्टिरूप अह: (दिन) और प्रलयरूपी रात्रि निरन्तर बदल-बदल कर आते-जाते रहते हैं। यह अन्तिम तत्त्व काल है जो अह: के रूप में सृष्टि का कारण है।[1]

7

निरुक्तकार यास्क के इस तत्त्वचिन्तन में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि-दर्शन की निम्न बातें समान रूप से मिलती हैं -

1. निरुक्त में प्रतिभा को अतिलिंग, महान् आत्मा तथा सत्ता शब्दों से जानने योग्य कहा है। भर्तृहरि ने भी इसी प्रकार प्रतिभा को सत्ता, महासत्ता और शब्दब्रह्म का पर्याय बताया है।[2]

---

1. आकाशगुण: शब्द:। आकाद वायुर्द्विगुण: स्पर्शेन। वायोर्ज्योतिस्त्रिगुण: रूपेण। ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन। अद्भ्य: पृथिवी पंचगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमा:। तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति म तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नगांनि प्रत्याहरति। भूतग्रामा: पृथिवीमपि यन्ति। पृथिव्यप:। आपो ज्योतिषम्। ज्योतिर्वायुम्। वायुराकाशम्। आकाशो मन:। मनो विद्याम्। विद्या महान्तमात्मानम्। महानात्मा प्रतिभाम्। प्रतिभा प्रकृतिम्। सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रि:। तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालस्तदेतदहर्भवति। -- निरु०, 13.17

2. देखें - पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या-2

2. निरुक्त में इस परम तत्त्व को प्रकृति भी कहा है जबकि वाक्यपदीय में इसे "परा प्रकृति" कहा है ।[1]

3. निरुक्त ने परम तत्त्व को काल कहा है और भर्तृहरि ने भी शब्दब्रह्म को "काल" शब्द से अभिहित किया है ।[2]

4. निरुक्त में इस अद्वितीय मूल तत्त्व से स्थूल सृष्टि का विकास बताया है और भर्तृहरि आदि के दर्शन के अनुसार भी अद्वितीय शब्दब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का विकास होता है ।[3]

5. निरुक्त के तत्त्व-विवेचन के समान ही भर्तृहरि ने ब्रह्म की सर्व-व्यवहारातीत, निष्क्रिय एवं एक प्रकार की सुषुप्ति की अवस्था को शान्तब्रह्म और उसकी सर्वशक्तिसम्पन्न और जागरावस्था को शब्दब्रह्म कहकर इसे सृष्टि का कारण बताया है ।[4]

6. निरुक्त में शब्द को जो आकाश का गुण कहा गया है, व्याकरणदर्शन में वह शब्द का स्थूलरूप है।

इस प्रकार निरुक्त में प्रतिपादित प्रतिभा, काल, अद्वैतभाव, प्रलय, मूलतत्त्व की स्वप्नावस्था, सृष्टि उसकी जागरावस्था - ये सब बातें व्याकरण-दर्शन के ही मान्य सिद्धान्त हैं जो आगे चलकर पतंजलि, भर्तृहरि और नागेश के दर्शन में क्रमशः और अधिक विकास को प्राप्त हुए हैं । अतः निरुक्त न केवल व्याकरण का अंग है, अपितु पद-पदार्थ विश्लेषण और पारमार्थिक चिन्तन की दृष्टि से वस्तुतः व्याकरण और इसके दर्शन का कार्त्स्न्य है ।

---

1. तस्माच्च - प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।
-वा.प., 1.142 की हरिवृत्ति

2. अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः । - वा.प., 1.3

3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। - वा.प., 1.1

4. परस्याः प्रकृतेः प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं - सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्रायाः ।
- वा.प., 2.152 की वृत्ति

शाकटायन

पाणिनि और निरुक्तकार यास्क से पूर्व शाकटायन एक ऐसा वैयाकरण हुआ है जो सभी नाम -पदों को धातुजन्य मानने के सिद्धान्त के कारण व्याकरण-वाङ्मय में अत्यन्त ख्यात हुआ है । जिस आधार पर उन्होंने ऐसा माना है, वह व्याकरणदर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है ।

समय :

पाणिनि ने तीन सूत्रों में शाकटायन का उल्लेख किया है ।[1] ऋक्प्रातिशाख्य, जिसे निश्चय ही पाणिनि-पूर्ववर्ती हम बता चुके हैं, में भी शाकटायन के मतों का अनेकत्र उल्लेख मिलता है ।[2] पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्क[3]ने निरुक्त में शाकटायन के विशिष्ट मतों का उल्लेख किया है ।[4] इससे सिद्ध होता है कि शाकटायन इन सबसे पूर्ववर्ती है ।

परिचय :

महाभाष्य में लिखा है - व्याकरण में शकट का छोकरा भी ऐसा ही कहता है ।[5] इससे विदित होता है कि शाकटायन के पिता का नाम शकट था । शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यकार अनन्तदेव ने शाकटायन को काण्व का शिष्य कहा है तथा शिष्य शाकटायन और गुरु काण्व को एक मत के बताकर पक्षान्तर में उसे ही काण्व कहा है ।[6]

---

1. लङः शाकटायनस्यैव । -पासू०, 3·4·111 तथा 8·3·50 और 8·4·18
2. प्रथमं शाकटायनः । - ऋक्प्राति०, 1·16
3. यास्क के समय पर इसी अध्याय में यास्क के प्रकरण में विचार किया गया है
4. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । - निरु०, 1·12
5. व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । - व्या·म·भा०, 3·3·1
6. ....शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन । काण्वशिष्यः सः, पुराणे दर्शनात् । तेन शिष्याचार्ययोरैकमतत्वात् काण्वमतेनाप्ययमेव । यद्वा शाकटायन इति काण्वाचार्यस्यैव नामान्तरम् उदाहरणम् । - यजु·प्राति·भाष्य, 4·129

रचनाएं :

शाकटायन द्वारा व्याकरणग्रन्थ के रचने के अनेक प्रमाण हैं । काशिका में कहा है कि सभी व्याकरणकार शाकटायन के पीछे या उनसे न्यून हैं ।[1] नागेशभट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में तथा हरदत्त ने सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में ऋक्तन्त्र का कर्ता शाकटायन को लिखा है, परन्तु भट्टोजि-दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इस ग्रन्थ का कर्ता औदव्रजि बताया है ।[2] नागेश-भट्ट[3] तथा श्वेत वनवासी[4] आदि अनेक विद्वानों ने पंचपादी उणादिसूत्र भी शाकटायन द्वारा विरचित बताए हैं । इसका व्याकरणग्रन्थ अनुपलब्ध है ।

दार्शनिक सिद्धान्त :

यास्क के निरुक्त से हमें शाकटायन के व्याकरणदर्शन-सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का ज्ञान होता है जिनमें उपसर्गों की द्योतकता और सभी नाम-शब्दों की आख्यातजन्यता प्रमुख है । व्याकरण-दर्शन के अनुसार उपसर्ग वाचक नहीं होते हैं अपितु वे मात्र धात्वर्थ को द्योतित करते हैं । महाभाष्यकार पतंजलि[5] और वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने[6] कहा है कि पच् आदि धातु ही क्रिया-वाचक है, प्र आदि उपसर्ग मात्र उस धात्वर्थ की विशेषता का द्योतक है । जहां उपसर्ग जुड़ने से तिङन्त का अर्थ भिन्न हो जाता है, वहां भी अर्थ धातु का ही होता है, क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं ।[7] यास्क के निरुक्त के

---

1. अनुशाकटायनं वैयाकरणाः । उपशाकटायनं वैयाकरणाः । - काशिका 1·4·86 88
2. इसके प्रमाण इसी अध्याय में प्रातिशाख्य-परिचय की पादटिप्पणियों में देखें ।
3. एवं च कृत्वा "कृवापा" इत्युणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम् । -व्या·म·भा·, 3·3·1 पर उद्योत
4. येयं शाकटायनादिभिः पंचपादी विरचिता । - उणादिवृत्ति पृ·1
5. क्रियाविशेषक उपसर्गः पचतीति क्रिया गम्यते, तां प्रो विशिनष्टि । .... -व्या·म·भा·, 1·3·1
6. वा·प·, 2·187
7. अनेकार्था हि धातवो भवन्ति । - व्या·म·भा·, 1·3·1

उल्लेख के अनुसार वैयाकरण शाकटायन इस मत का प्रबल समर्थक था जबकि गार्ग्य आदि नैरुक्त उपसर्गों को भी वाचक मानते थे ।[1] परन्तु शाकटायन का मत था कि उपसर्ग जब स्वतन्त्ररूप में प्रयुक्त होते हैं तो ये कभी भी अर्थ को प्रकट नहीं करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि ये वाचक नहीं है । उपसर्ग तो नाम या तिङ्न्त के साथ प्रयुक्त होने पर भी अर्थबोधक नहीं होते अपितु उनके विशिष्ट अर्थ को द्योतित करते हैं ।[2] इस प्रकार उपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में उपसर्गों को द्योतक मानने वालों में शाकटायन प्रथम वैयाकरण हैं ।

निरुक्तकारों में गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के मत में केवल वे नाम शब्द ही धातु से निष्पन्न होते हैं जिनका स्वर और प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग रूप संस्कार सुसंगत हो और प्रादेशिक गुण अर्थात् क्रिया से संयुक्त हो । शेष अश्व, पुरुष आदि शब्द तो रूढ़ि हैं ।[3] परन्तु वैयाकरणों में शाकटायन का मत था कि सभी नाम शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं ।[4] जिनको रूढ़ कहा जाता है, उनके मूल में भी कोई न कोई धातु अवश्य है । नागेश आदि के उल्लेख के अनुसार उणादिसूत्रों का कर्ता शाकटायन को मानने पर वैयाकरणों में केवल वही एक ऐसा वैयाकरण था जिसने सभी नामों को धातुज मानने की घोषणा करके उणादि सूत्रों की रचना के द्वारा अन्य वैयाकरणों की दृष्टि में अश्व, पुरुष आदि अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों की भी व्युत्पत्ति कर दी है । एक नवीन विचारक्रान्ति के रूप में शाकटायन का यह सिद्धान्त उल्लेखनीय है ।

---

1. उच्चावचाः पदार्था: भवन्तीति गार्ग्यः । -निरु०, 1.1.4
2. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंग्रहद्योतका भवन्ति । - निरु०, 1.1.4
3. न "सर्वाणि" इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके । तद् यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्याताम्, संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति । - निरु०, 1.4.12
4. नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।
   -निरु०, 1.4.12

औदुम्बरायण "स्फोटायन"

महत्त्व : व्याकरणदर्शन के विकास में जिन दार्शनिक वैयाकरणों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है उनमें आचार्य औदुम्बरायण अग्रणी हैं । औदुम्बरायण ने ही सर्वप्रथम अनित्य ध्वन्यात्मक शब्द से परे सूक्ष्म नित्य एवम् अखण्ड स्फोट का प्रतिपादन करके व्याकरणदर्शन को तथा इसके शब्दनित्यत्ववाद को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है । इसी महान् उपलब्धि एवं खोज के कारण औदुम्बरायण व्याकरण निकाय में "स्फोटायन" नाम से ख्यात हुए ।

परिचय : उदुम्बर शब्द पाणिनि के "नडादिगण" में पठित है । इससे सन्तान अर्थ में फक् प्रत्यय करने पर "औदुम्बरायण" शब्द निष्पन्न होता है, जिससे विदित होता है कि औदुम्बरायण के पिता का नाम उदुम्बर था ।[1] स्फोट सिद्धान्त का प्रथम अन्वेषक एवं प्रतिपादक होने के कारण इस आचार्य का नाम "स्फोटायन" पड़ा - यह अनन्तर स्पष्ट किया जायेगा । इस आचार्य के विषय में इससे अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता है ।

स्फोटायन नाम : स्फोटायन नाम से इस वैयाकरण का उल्लेख पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में "अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र[2] में साक्षात् रूप से किया है । इस सूत्र की काशिका वृत्ति की व्याख्या में पदमंजरीकार हरदत्त ने स्फोटायन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए लिखा है कि स्फोट जिसका अयन अर्थात् परायण है वह आचार्य स्फोटायन कहलाया । अर्थात् स्फोट तत्व का प्रतिपादन करने वाला वैयाकरणाचार्य ।[3] हरदत्त ने प्रकारान्तर से व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि जो लोग इसे "स्फौटायन" पढ़ते हैं, वे नडादिगण या अश्वादिगण में स्फोट पद का पाठ मानकर उससे अपत्यार्थक फक् (=आयन) करके स्फौटायन की निष्पत्ति करते हैं ।[4] इस पक्ष में स्फोटायन के पूर्वज का नाम "स्फोट" मानना होगा,

---

1. उदुम्बरस्य युवापत्यमौदुम्बरायण: । यञिञोश्चेति यूनि फक् । -नि0, दुर्गा 1.1
2. पा0 सू0 6.1.123
3. स्फोटोयनं परायणं यस्य स स्फोटायन: । स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्य: । - काशिका, पदमंजरी, पा0 सू0 6.1.123
4. ये स्फौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते । -वही

तभी स्फोटायन शब्द निष्पन्न हो सकेगा । परन्तु यह पक्ष चिन्त्य है, क्योंकि "स्फोट" तथा "स्फोटायन" नाम के व्यक्तियों का उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता है । इसीलिए हरदत्त ने भी "ये तु" कहकर इस पक्ष में अनास्था दिखाई है और प्रथम व्युत्पत्ति को ही प्रथमत: सिद्धान्तरूप में उपस्थापित किया है जिसके अनुसार जो आचार्य स्फोट सिद्धान्त का उपज्ञाता एवं प्रवर्तक था वह इस क्रान्तिकारी गवेषणा के कारण "स्फोटायन" नाम से प्रख्यात हुआ । ऐसा आचार्य "औदुम्बरायण" ही था, यह यास्क,[1] भर्तृहरि[2] और भरतमिश्र के[3]वचनों से ज्ञात होता है ।

समय :

यद्यपि स्फोटायन या औदुम्बरायण के काल के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, तथापि यास्क तथा पाणिनि द्वारा इस आचार्य केउल्लेख से यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि वह उन दोनों आचार्यों से प्राचीन है । अधिकांश विद्वानों ने यास्क का समय ई0पू0 तथा पाणिनि का समय 700 ई0 पू0 के लगभग माना हैं, अत: स्पष्ट है कि इन द्वारा उल्लिखित स्फोटायन या औदुम्बरायण इससे पूर्व हुआ ।

रचना :

स्फोटायन की कोई भी रचना वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, तथापि पाणिनि का "अवङ् स्फोटायनस्य" सूत्र (6·1·123) ज्ञापित करता है कि यह आचार्य भी अवश्य व्याकरणकार हुआ है । यास्क, भर्तृहरि और भरतमिश्र आदि के वचनों से प्रमाणित होता है कि औदुम्बरायण अपने समय में व्याकरणदर्शन का प्रख्यात प्रवक्ता एवम् उपज्ञाता रहा ।

दार्शनिक देन :

स्फोटायन नाम से प्रख्यात आचार्य औदुम्बरायण ने व्याकरण-दर्शन को नित्य एवं अखण्ड स्फोट का सिद्धान्त प्रदान किया है । इससे पूर्व केवल ध्वन्यात्मक शब्दों का विवेचन उपलब्ध होता है । यास्क ने निरुक्त में औदुम्बरायण के मत का उल्लेख इस प्रकार किया है - "इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायण:" ।[4]

1· निरु0 1·6

2· वा0 प0 2·243

3· स्फो0 सि0 पृ0 ।

4, नि0 1·6

अर्थात् वचन [शब्द] तब तक ही नित्य है जब तक वह वागिन्द्रिय में नियत है। अर्थात् उच्चार्यमाण शब्द वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित होने के उपरान्त नष्ट हो जाता है, अतः अनित्य है। निरुक्त के टीकाकारों ने केवल उक्त वाक्य के आधार पर ही भ्रान्ति से औदुम्बरायण को शब्द को नित्य मानने वाला दर्शाया है।[1] वस्तुतः औदुम्बरायण शब्दनित्यत्ववादी है। वह एक अखण्ड वाक्य-स्फोट का प्रतिपादन करता है।[2] स्फोटवादी वैयाकरण अनित्य ध्वनि की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। औदुम्बरायण का "इन्द्रियनित्यं वचनम्" यह मत वाणी के ध्वनिपक्ष को लक्ष्य करके प्रस्तुत किया गया है। औदुम्बरायणसम्मत अखण्ड वाक्यस्फोट को लक्ष्य करके उसने उक्त वाक्य के साथ ही "तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते" [3] यह कहा है। औदुम्बरायण वाणी के नाम, आख्यात आदि वाह्यविभाग की अपेक्षा उसके अखण्डत्व और अविभाज्य स्वरूप को नित्य मानते थे, इसलिए उन्होंने तात्विक दृष्टि से नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात- इन चार पदों के विभाग को उचित नहीं माना। यह तथ्य न समझते हुए टीकाकारों ने और उनकी देखादेखी मीमांसक आदि अन्य विद्वानों ने भी औदुम्बरायण को शब्द-अनित्यत्ववादी घोषित कर दिया[4]। इस भूल को डा० सत्यकाम वर्मा ने प्रथम बार देखा;[5] जिसपर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने भी अपने पहले विचार पर पुनर्विचार करके 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के तीसरे संस्करण में डा० वर्मा द्वारा उद्घाटित तथ्य को सही स्वीकार किया है।[6]

---

1. वाग्रूपे नित्यं नियतं, यावद् वाग् तावद् वचनं, न ततः परमाशुविनाशित्वा-दिति औदुम्बरायण आचार्यो मन्यते। - निरुक्त, दुर्गाचार्य टीका पृ॰6
2. भरतमिश्र स्फो० सि० पृ०।
3. नि० 1.1
4. सं० व्या० शा० इति०, प्रथम संस्करण, प्रकरण स्फोटायन
5. - वही, संस्करण तृतीय भाग-1। पृ० 119
6. - वही, पृ० 176-77

डा० वर्मा ने औदुम्बरायण-मत-सम्बन्धी यास्कवचनों की उक्त व्याख्या में भर्तृहरि को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है । भर्तृहरि ने औदुम्बरायण के सही आशय को स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि वाक्य की बुद्धिगत अखण्डता, नित्यता और एकता तथा अर्थ के साथ उसके शाश्वत सम्बन्ध को देखकर ही औदुम्बरायण कहते हैं कि वस्तुतः चार प्रकार के पदों का विभाग उपपन्न नहीं है । इसी कारण आख्यात की क्रियाप्रधानता, नामों की सत्व-प्रधानता, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ये चार प्रकार के पद - ये सब वार्ताक्षा और औदुम्बरायण आचार्यों के मत में उपपन्न नहीं है ।[1] ऐसे चतुर्विध पदों के विभाग वाला व्यवहार तो लोक और शास्त्र में केवल लाघव के लिए सरलता से शब्दज्ञानरूप कार्य निर्वाह हेतु कल्पित किया गया है ।[2] स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने औदुम्बरायण को 'नित्य एवं अखण्ड वाक्य' - सिद्धान्त के प्रतिपादक के रूप में प्रस्तुत किया है ।

भरतमिश्र ने अपने स्फोटसिद्धि ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है - "भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि .... अपलपितम् .... ।" इस वाक्य से भी स्पष्ट होता है कि औदुम्बरायण ने शब्द के अखण्डभाव का उपदेश किया था ।

इस प्रकार हरदत्त द्वारा दर्शायी गयी स्फोटायन शब्द की व्युत्पत्ति के साथ भर्तृहरि, भरतमिश्र और यास्क के साक्ष्यों की संगति बैठने से सिद्ध हो जाता है कि औदुम्बरायण ही स्फोटात्मक नित्य शब्द का उपज्ञाता हुआ, अतः स्फोटपरायण होने से वही स्फोटायन नाम से ख्यात हुआ । नागेश भट्ट ने भी स्फोटवाद को स्फोटायन ऋषि का मत कहा है । नागेश ने

---

1. क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्वप्रधानता ।
   चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद्विरुध्यते ।।
   वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगंच शाश्वतम् ।
   दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ।। -वा० प०, 2·342-43

2. व्याप्तिमांश्च लघुश्च व्यवहारः पदाश्रयः ।
   लोके शास्त्रे च कार्यार्थं विभागेनैव कल्पितः ।।

   - वा· प· 2·344

स्फोटसिद्धान्त पर "स्फोटवाद" नाम से एक लघु ग्रन्थ रचा है जिसमें उन्होंने लिखा है कि वह स्फोटायन ऋषि के मत को ही परिष्कृत करके प्रतिपादित कर रहे हैं ।[1]

इस प्रकार स्फोटायन नाम से विख्यात औदुम्बरायण ऋषि की नित्य एवं अखण्ड वाक्यस्फोट के सिद्धान्त के रूप में व्याकरणदर्शन को अपूर्व देन है ।

1· वैयाकरणनागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम् ।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः ।।
– नागेश, स्फोटवाद, पृ0 102

निष्कर्ष :

व्याकरण-दर्शन का पद-पदार्थ विश्लेषण वैदिक साहित्य में बीज और उसके उद्भव के रूप में पाते हैं, परन्तु शब्दतत्त्व के पारमार्थिक स्वरूप का विचार-चिन्तन वहां विकास की अवस्था को प्राप्त है । प्रातिशाख्यों में जहां ध्वनि पर बहुमुखी तात्त्विक विचार हुआ है, वहां निरुक्त में पद-पदार्थ विश्लेषण का प्रयोगात्मकरूप पर्याप्त विकास की स्थिति में पाते हैं । प्रतिभा तथा सृष्टि के विषय में भी यहां गिन-चुने सन्दर्भों में विचार हुआ है जो गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है । शाकटायन ने व्याकरणदर्शन में नवीन क्रान्तिकारी विचार लाये हैं तो स्फोटायन - औदुम्बरायण ने व्याकरण-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्फोट सिद्धान्त प्रदान किया है । कुल मिलाकर पाणिनिपूर्व युग व्याकरणदर्शन के उद्भव और प्रारम्भिक विकास का काल रहा है ।

-:-:-:-:-:-:-:-

तृतीय-अध्याय

पाणिनीययुग : व्याकरणदर्शन का विकासकाल

तृतीय अध्याय

पाणिनीय-युग : व्याकरण-दर्शन का विकासकाल

पाणिनि : अष्टाध्यायी (लगभग 650-700 ई0 पू0)

महत्त्व :

उद्भव के उपरान्त व्याकरणदर्शन का विकास अष्टाध्यायीकार महामुनि पाणिनि, उनके युगसाथी संग्रहकार व्याडि, उनके ही अनुयायी वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतंजलि की रचनाओं में उपलब्ध होता है । उपजीव्य तथा रचनाकाल की दृष्टि से पाणिनि की अष्टाध्यायी इनमें सर्वप्रथम है । वर्तमान में उपलब्ध व्याकरण-वाड्•मय में व्याकरणदर्शन का स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित रूप महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी से ही प्रारम्भ होता है । यद्यपि विश्लेषणपूर्वक वाक्यसंस्कारोपयोगी पदों के व्यवस्थापक लक्षणों (सूत्रों) की रचना करना पाणिनि का मुख्य ध्येय रहा, तथापि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध, वृत्ति, कारक आदि भाषा के अनेक दार्शनिक तत्त्व भी सदा उनके ध्यान में रहे । प्रसंगवश उन्होंने यत्र-तत्र उनको प्रकट या सूचित किया । व्याडि, कात्यायन, पतंजलि तथा भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व के दार्शनिक पक्ष को जो खुलकर विस्तार से उद्घाटित किया है, उसकी आधारभूमि पाणिनि ने तैयार कर दी थी । भाषा सम्बन्धी कुछ वे दार्शनिक विचार एवम् सिद्धान्त जो पाणिनि को प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुए तथा अधिकांश वे नवीन उद्भावनाएं एवं दृष्टियां जो उन्हें व्याकरण रचना के प्रयास से स्वभावत: स्फूर्त हुई, उन्हें हम उनकी अपनी भव्य सूत्रात्मकशैली में कहीं न कहीं अवश्य अनुस्यूत पाते हैं । इसे ही मूल आधार मानकर अर्वाचीन आचार्यों ने व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को अपने प्रयासों से उत्तरोत्तर विकास की ऊंचाइयों तक पहुंचाया है, जहां सम्पूर्ण दर्शननिकाय में व्याकरणदर्शन ने अपना एक पृथक् एवं स्वतन्त्र स्थान प्राप्त किया है । व्याकरण-दर्शन की विकास-परम्परा में पाणिनि-दर्शन के महत्व को देखते हुए ही सर्वदर्शन-संग्रहकार ने व्याकरणदर्शन या वैयाकरणों के दर्शन को पाणिनीयदर्शन के नाम से संगृहीत एवं प्रतिपादित किया है ।

परिचय :

व्याकरण-दर्शन के क्रमिक विकास एवं आलोचनात्मक इतिहास के प्रसंग में व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों के क्रमिक विकास के साथ-साथ इन्हें प्रतिपादित करने वाले प्रतिनिधिग्रन्थों का तथा उनके रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में दार्शनिक वैयाकरणों के जीवन आदि पर नातिविस्तृत एवं नातिसंक्षिप्त परिचय देना अपेक्षित है। इस कारण पाणिनि तथा उनकी रचनाओं का सप्रमाण परिचय साररूप में इस प्रकार है।-

पाणिनि के नाम :

त्रिकाण्डशेष नाम के कोश में पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के छः नाम पर्याय रूप में दिए हैं - पाणिनि, पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालंकि, शालातुरीय, और आहिक।[1] पाणिनीय शिक्षा के याजुष पाठ में पाणिनेय नाम भी उपलब्ध होता है।[2] इनमें से "पाणिनि" नाम अत्यन्त लोक-विश्रुत है तथा अष्टाध्यायीकार को शताधिक ग्रन्थों में इसी नाम से अभिहित किया गया है। पाणिन नाम काशिका[3] और चान्द्रवृत्ति[4] में भी मिलता है। पाणिनि के लिए "दाक्षीपुत्र" नाम का उल्लेख महाभाष्य,[5] कृष्णचरित[6] और पाणिनीय शिक्षा[7] में भी मिलता है।

वंश :

महामहोपाध्याय शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि का "शालंकि" नाम पितृव्यपदेशज मानते हुए उसके पिता का नाम "शलंक" लिखा है।[8] हरदत्त और कैयट

1· त्रि0 का0 शे0, पृ0 75
2· दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेदं व्याहृतं भुवि। -पा0 शि0, पृ0 38
3· काशि0, 6·2·14
4· चा0 वृ0, 2·2·68
5· सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। - व्या0 म0 भा0, 1·1·20
6· दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः। -मुनिकवि वर्णन, श्लो0 16
7· पा0 शि0, श्लो0 56
8· व्या0 म0 भा0, नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क0 की भूमिका पृ0 14

ने पाणिनि की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए पाणिनि के पिता का नाम "पाणिन" और दादा का नाम "पणिन्" बताया है ।[1] महाभाष्य आदि में पाणिनि को जो "दाक्षीपुत्र" कहा गया है, उससे विदित होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल की थी । छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता आचार्य पिंगल पाणिनि के अनुज थे ।[2] संग्रहकार "व्याडि" पाणिनि के मामा थे ।[3]

देश :

पाणिनीय अष्टाध्यायी के वाहिक ग्रामेभ्यश्च आदि सूत्रों से विदित होता है कि पाणिनि का वाहीक देश से पर्याप्त लगाव था अतः उनका देश वाहीक या तत्समीपस्थ कोई देश रहा होगा ।[4] भामह के काव्यालंकार,[5] काशिका-विवरण-पंचिका,[6] तथा गणरत्नमहोदधि[7] आदि में पाणिनि का एक नाम "शालातुरीय" भी कहा गया है । वर्धमान द्वारा दर्शायी "शालातुरीय" शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार "शलातुर" ग्राम पाणिनि का अभिजन था ।[8] अभिजन उसे कहते हैं जहां उसके पूर्वपुरुष रहते थे ।[9] परन्तु चीनी यात्री

1· क) पणोस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः । -पदमंजरी भाग-2, पृ० 14

ख) पणिनोपत्यमित्यण् पाणिनः । पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः । - व्या० म० भा०, प्र-दीप, 1·1·173

2· क) पा० शि०, प्रकाश टीका, शिक्षा-संग्रह, काशी सं०, पृ० 385

ख) ऋ० सर्वा० की वेदार्थदीपिका टीका, पृ० 70

3· द्र०, इसी प्रबन्ध में व्याडि का परिचय ।

4· सं० व्या० शा० इति०, I, पृ० सं०, पृ० 287

5· काव्यालंकार, 6·62

6· का० वि० प०, 5·1·1 (खण्ड-2)

7· शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः । - ग० र० महो०, पृ० ।

8· शलातुरो नाम ग्रामः, सोभिजनोस्यास्तीति शालातुरीयः तत्र भवान् पाणिनिः । -ग० र० महो०, पृ० ।

9· अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम् । - व्या० म० भा० 4·3·90

ग्यूआन चुआङ् सातवीं शताब्दी के आरम्भ में मध्य एशिया के स्थल मार्ग से भारत आते हुए "शलातुर" में ठहरा था ।[1] उसने लिखा है कि उद्भाण्ड नामक स्थान से चार मील की दूरी पर वह शलातुर स्थान है, जहां ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, उन्होंने शब्द-विद्या की रचना की थी ।[2] इससे विदित होता है कि शलातुर पाणिनि का अभिजन नहीं, बल्कि जन्म-स्थान था । पुरातत्त्व-विदों के मतानुसार पश्चिमोत्तर-सीमा प्रान्तस्थ अटक समीपवर्ती वर्तमान "लहुर" ग्राम प्राचीन शलातुर है ।[3]

समय :

पाणिनि की स्थिति एवं उनके द्वारा अष्टाध्यायी रचना के समय-निर्धारण में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । इनमें से पूर्वसीमा पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा तथा अन्तिम सीमा वेबर द्वारा स्वीकृत है । पाणिनि का समय व्याकरण के विद्वान् वेबर ने सिकन्दरकाल के बाद लगभग 315 ई० पू० तथा बाटलिंग ने महापद्म नन्द के समकालीन 350 ई० पू० के लगभग स्वीकार किया है, परन्तु बाटलिंग के मत को गोल्डस्टूकर ने तथा वेबर के मत को डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने खण्डित करके भ्रान्त एवं गलत सिद्ध किया है । डा० अग्रवाल ने अनेक बाह्य और अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत करके पाणिनीयाष्टाध्यायी की रचना बुद्धजन्म के बाद बौद्धसंस्था संगठन के भी बाद हुई मानकर पाणिनि का समय 480 से 410 ई० पू० माना है । अपने पक्ष में उन्होंने थीमे और राय-चौधरी तथा ग्रियर्सन को भी उद्धृत किया है जिन्होंने पाणिनि को 400-500 ई० पू० के मध्य हुआ बतलाया है । परन्तु मीमांसक जी ने एक-एक करके डा० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत तर्कों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है । मैकडोनल ने भी 500 ई० पू० के बाद पाणिनि को असंभव बताकर छठी या सातवीं शती ई०पू० उनकी सत्ता स्वीकार की है । व्याकरण, महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वान् गोल्ड-स्टूकर ने पाणिनि द्वारा परिचित पूर्वकालीन तथा अपरिचित अर्वाचीन वाङ्मय

---

1. वासुदेव शरण अग्रवाल, पा० का० भा० व०, पृ० 14
2. बील, सियुकि 1.114, पा० का० भा० व० में पृ० 14 पर उद्धृत
3. सं० व्या० शा० इति०, प्र० सं० पृ० [illegible]

के गम्भीर अध्ययन के साथ अपने "पाणिनि" ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया है और निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि बुद्ध से बहुत पूर्व हुए । बुद्ध को वह 543 ई0 पू0 में हुआ मानते हैं । इस प्रकार गोल्डस्टूकर के मत में पाणिनि का समय 700 ई0 पू0 या इससे भी कुछ पहले ठहरता है । इनके बाद श्री एस0 भट्टाचार्य, श्री रामकृष्ण भण्डारकर, श्री के0 बी0 पाठक ,श्री एस0 के0वेल्वेल्कर, म0 म0 काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर, श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने भी पाणिनि का समय 700 ई0 पू0 के लगभग ही स्वीकार किया है । राजवाडे और चिन्तामणि विनायक वैद्य ने पाणिनि को 900-800 ई0 पू0 माना है । श्री वी0 एस0 गोखले ने उन्हें बुद्ध से पांच-छः सौ वर्ष पूर्व ग्यारहवीं शती के लगभग माना है । पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि को आचार्य शौनक का समकालीन मानकर शौनक का काल महाभारतयुद्ध के 200 वर्ष बाद 2900 वि0पू0 प्रतिपादित किया है । मीमांसक जी ने जिन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है वे यद्यपि महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु अभी तक किसी अन्य विद्वान् ने इस मत को अन्तिम तथा निस्सन्दिग्ध नहीं माना है ।[1]

इस प्रकार वेबरमत से मीमांसक मत तक के इस पाणिनिकाल विवेचन में गोल्डस्टूकर, पाठक, भण्डारकर, वेल्वल्कर, अभ्यंकर आदि अनेक प्रामाणिक विद्वानों के बहुमत को देखते हुए हम पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी रचने का समय 650-700 ई0 पू0 के लगभग मानकर चल रहे हैं ।

---

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य :-
   (क) "पाणिनि" : गोल्डस्टूकर, संस्करण 1965, पृ0 37 से 247
   (ख) पाणिनि कालीन भारत वर्ष : डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल, 8वां अध्याय
   (ग) संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास : पं0 युधिष्ठिर मीमांसक पहला भाग, तृतीय संस्करण, पृ0 190 से 215
   (घ) पाणिनि : ए सर्वे आफ रिसर्च: जार्ज कार्डोना, पृ0 260-268
   (ङ) संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास : डा0 सत्यकाम वर्मा
   (च) संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला, पृ0 625
   (छ) पतंजलिकालीन भारत, डा0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पृ0 50

पाणिनि की रचनाएं :

पाणिनि की प्रमुख एवं प्रख्यात रचना "अष्टाध्यायी" है, जिसे पाणिनीयाष्टक भी कहा जाता है । अष्टाध्यायी के खिल के रूप में पाणिनि ने "धातुपाठ," "गणपाठ," "लिंगानुशासन" भी रचे हैं । कुछ लोगों के मत में उणादिसूत्र भी पाणिनि ने खिलपाठ के रूप में रचे हैं । इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायीवृत्ति, शिक्षासूत्र, जाम्बवतीविजय अथवा पातालविजय एवं द्विरूप-कोश भी पाणिनि की कृतियों के रूप में माने जाते हैं । काठियावाड़ से "पूर्वपाणिनीयम्" नाम का 24 सूत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है । इसके सम्पादक पं० जीवराम कालिदास राजवैद्य ने इसे पाणिनिकृत बताया है परन्तु परीक्षण के उपरान्त मीमांसक जी ने इसे अपाणिनीय कहा है और इसके एक हस्त-लेख के प्रारम्भ में "कात्यायनसूत्रम्" के उल्लेख से इसे किसी अर्वाचीन कात्यायन द्वारा विरचित कहा है[1] ।

अष्टाध्यायी :

पाणिनीय शब्दानुशासन के चार नाम मिलते हैं - अष्टाध्यायी, अष्टिका, अष्टक और शब्दानुशासन । इनमें से अष्टाध्यायी नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है तथा संज्ञा, परिभाषा, विधि, अतिदेश, अधिकार और नियम - इन छः प्रकार के सूत्रों से निबद्ध है । व्याकरण-दर्शन के अध्ययन की दृष्टि से पाणिनि की यही रचना उपादेय है ।

दार्शनिक सूचनाएं :

आपाततः ऐसा लगता है कि पाणिनि के शब्दानुशासन में "दर्शन" जैसी कोई खास बात नहीं है । यह सत्य भी है कि वाक्योपयोगी पदसंस्कार उनका मुख्य ध्येय रहा । व्याडि भर्तृहरि आदि की तरह भाषा के दार्शनिक पक्ष का विवेचन पाणिनि प्रधान लक्ष्य नहीं था । परन्तु सूक्ष्मता और गंभीरता से देखा जाए तो उनका यह विशाल भव्य प्रासाद शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध की उस सामग्री को लेकर ही बना है जो इस दर्शन के मूल तत्त्व हैं । जिस प्रकार पाणिनि ने विशाल शब्दराशि को अपने थोड़े से सूत्रों द्वारा संस्कार का लक्ष्य

---

1. द्र० - मीमांसक, सं० व्या० शा० इति० भाग-1, पृ० 207 से

बनाया है, उसी प्रकार अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों द्वारा उद्घाटित शब्द-तत्त्व सम्बन्धी दार्शनिक विचारों को भी उन्होंने प्रसंगवश सूत्रों में यथास्थान संकेतित किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक सूत्र व्याकरण-दर्शन के किसी प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। ऐसे सूत्रों में कुछ दर्शनतत्त्व प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार हैं :-

स्वतन्त्रः कर्ता।[1]
साधकतमं करणम्।[2]
तत्प्रयोजको हेतुश्च।[3]
चाद्योसत्वे।[4]
जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्।[5]
सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ।[6]
स्वं रूपं शब्दस्य अशब्दसंज्ञा।[7]
लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।[8]
अदर्शनं लोपः।[9]
विरामोवसानम्।[10]
सर्वादीनि सर्वनामानि।[11]
तस्य भावस्त्वतलौ।[12]
तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्।[13]
योगप्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात्।[14]
अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।[15]
प्रकारे गुणवचनस्य।[16]

1· पा0 सू0, 1·4·54
2· पा0 सू0, 1·4·42
3· पा0 सू0, 1·4·44
4· पा0 सू0, 1·4·57
5· पा0 सू0, 1·2·58
6· पा0 सू0, 1·2·64
7· पा0 सू0, 1·1·68
8· पा0 सू0, 3·4·69
9· पा0 सू0, 1·6·60
10· पा0 सू0, 1·4·110
11· पा0 सू0, 1·1·27
12· पा0 सू0, 5·1·119
13· पा0 सू0, 1·2·53
14· पा0 सू0, 1·2·55
15· पा0 सू0, 1·2·45
16· पा0 सू0, 8·1·12

शब्द-नित्यता :

पाणिनि शब्द को स्फोट के रूप में नित्य मानते थे । वे भी स्फोटायन के समान ही स्फोटवाद के समर्थक थे । उन द्वारा अपनाई आदेश-विधि इसका सबसे बड़ा प्रमाण है । वक्ता द्वारा उच्चारित और श्रोता द्वारा गृहीत (सुनी) वैखरीध्वनि श्रोता के अन्दर स्थित सूक्ष्म स्फोटात्मक शब्द को अभिव्यक्त करती है, वह स्फोट शब्द ही अर्थ को स्फुटित-प्रकट करवाता है । यह स्फोटवादियों का सिद्धान्त है । पाणिनि ने आदेशविधि का जो उपदेश किया, उससे उनका तात्पर्य है कि "जरा" के स्थान पर अर्थात् उसकी बजाय जरस्ध्वनि का प्रयोग हो तो वह भी उसी प्रकार स्फोटशब्द को अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार "जरा" ध्वनि । अतः दोनों जगह अर्थव्यंजक स्फोट शब्द एक ही है, जो नित्य है । पाणिनि के इस सिद्धान्त का पतंजलि ने महाभाष्य में दृढ़ता से प्रतिपादन किया है । इसीलिए आगमों से शब्दनित्यता को हानि उपस्थित होने पर वे "आगमरहित के स्थान पर आगमसहित आदेश होता है", यह समाधान प्रस्तुत करते हैं ।[1] अर्थात् आगमी पद के साथ आगम जुड़ जाने से उसमें विकार आता हो- ऐसा नहीं होता, अपितु आगमरहित की बजाय वहां आगमसहित सम्पूर्ण नयी वैखरीध्वनि का प्रयोग होता है ।[2]

पदार्थ-जाति और व्यक्ति :

पाणिनि के मत में पद का अर्थ जाति है या व्यक्ति-इस विषय में महाभाष्य में विचार किया गया है ।[3] भगवान् पतंजलि कहते हैं कि पाणिनि को पद के दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं - जाति भी और व्यक्ति भी ।

---

1. अनागमकानां सागमका आदेशाः भवन्ति । - व्या० म०, आ०-2
2. सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः ।
   एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ।। महाभाष्य, 7·1·27
3. आकाशवायुप्रभवः शरीरात्, समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
   स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो, वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ।।
   - पा० शि० सू०-1

जाति पदार्थ है- ऐसा मानकर उन्होंने जात्याख्यायाम् - यह सूत्र पढ़ा है । पद का अर्थ द्रव्य है - ऐसा मानने पर भी अनेक द्रव्यों (व्यक्तियों) के लिए उपस्थित अनेक सरूप पदों में से केवल एक शेष रखने के लिए उन्होंने "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" यह सूत्र बनाया है । किसी एक पक्ष से सर्वत्र व्यवस्था न हो सकने से उन्होंने कहीं जाति को और कहीं व्यक्ति (द्रव्य) को पदार्थ माना है । परन्तु यहां यह अवधेय है कि जहां जाति को पदार्थ माना है वहां व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है, तभी वहां क्रिया का अन्वय सम्भव होता है । जहां व्यक्ति पदार्थ है वहां जाति समवेत रहने से वह भी अर्थबोध में उपस्थित हो जाती है ।

अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ :

पाणिनितन्त्र से हमें यह भी विदित होता है कि उनके मत में अर्थबोधन में केवल पद सार्थक होते हुए भी अकेले अपूर्ण एवं पंगु हैं तथा वाक्य ही भाषा की अन्तिम और पूर्ण इकाई है । "सुप्तिङन्तं पदम्"[1] में उन्होंने पदसंज्ञा का उपदेश किया है । पर यह पद वाक्य का ही अभिन्न अंग है, इसकी पृथक् सत्ता कल्पित संस्कारावधि तक ही है । रामः, रामम् आदि में सुप् उस कारक का बोधक है जो क्रिया से अन्वित है । इसी प्रकार पचति, पच्यते आदि में तिङ् उस कर्तृत्व कर्मत्व रूप उपाधि से युक्त द्रव्य का बोधक है जिसकी आकांक्षा रामः रामेण, ओदनं आदि से पूरी होती है । इसी प्रकार समर्थः पदविधिः;[2] लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः;[3] कर्तुरीप्सिततमं कर्म[4] तथा स्वादिसन्धि के वाक्यसंस्कार पक्ष सूचक नियम पाणिनि के इस दर्शन की सूचनाएं देते हैं कि वे वाक्य एवं वाक्यस्फोट को ही सत्य तथा समुदित रूप से विवक्षित अर्थ (वाक्यार्थ) का प्रतिपादक मानते हैं । क्योंकि अर्थबोधक तमाम साधुशब्दों का सम्यग्ज्ञान करवाना व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन है और अखण्ड वाक्यार्थों के बोधक समस्त अखण्डवाक्यों का, उनके वाच्य-वाचक सम्बन्ध

1· पा0 सू0, 1·4·14 2· पा0 सू0, 1·4·42

3· पा0 सू0, 3·4·69 4· पा0 सू0, 1·4·49

का बोध इस व्याकरणशास्त्र के द्वारा करवाना असम्भव था । यदि ऐसा प्रयास किया भी जाता तो भी वह सरल उपाय द्वारा सम्भव नहीं था । अतः व्यावहारिक दृष्टि से वास्तव में, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से कल्पित रूप में पाणिनि ने पूर्व परम्परानुसार वाक्य में पदों का विभाग और पदों में प्रकृति और प्रत्ययरूप अवयवों का विभाग करके तथा इसी प्रकार अखण्ड वाक्यार्थ में कल्पना से पदार्थविभाग और पदार्थों में प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ का विभाग करके पहले पदसंस्कारपूर्वक पदज्ञान और फिर वाक्यसंस्कारपूर्वक वाक्य का ज्ञान करवाने वाले सरलतम उपायभूत व्याकरणशास्त्र का उपदेश किया है ।

पाणिनि की इस सरणि पर चलकर ही बाद के दार्शनिक वैया-करणों ने वर्ण, शब्द, धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ, नामार्थ, कारक, क्रिया, काल, लिङ्ग पदपदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ, वृत्ति, स्फोट आदि पर विस्तार से विचार किया है । दूसरे शब्दों में पाणिनि ने जिस शब्दार्थ दर्शन को सूत्रात्मक शैली में सूचित किया, अर्वाचीन आचार्यों ने उसे आधार बनाकर अनेक नई उद्भावनाओं एवं व्याख्याओं के साथ उसका प्रतिपादन किया । पाणिनि के इन भाषादर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों में अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जो उन्हें परम्परा से ज्ञात हुए हैं और निश्चय ही अनेक ऐसे हैं जो एक विशाल वाङ्मय पर दीर्घ अवधि तक की गयी उस अद्भुत मस्तिष्क की गवेषणा एवं साधना के फलस्वरूप प्रकाश में आए हैं और उत्तरकालीन प्रयासों के आधार बने हैं ।

-:-:-:-

व्याडि : संग्रह (लगभग 720-640 ई० पू०)

महत्त्व :

पाणिनि युग के दूसरे दार्शनिक वैयाकरण व्याडि हैं । इनका "संग्रह" नाम का महाकाय ग्रन्थ व्याकरणदर्शन के लिए सम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन होता,पर दुर्भाग्य से वह चिरकाल से लुप्त है । ऊपर बताया जा चुका है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में प्रसंगवश जहां-तहां भाषा के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है, परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य पदविश्लेषण रहा । इसके विपरीत व्याकरण के तमाम दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन एवं परीक्षण व्याडि का मुख्य ध्येय रहा । उन्होंने पाणिनि सहित अपने समय के तथा अपने से पहले के परम्परा से प्राप्त वैयाकरणों के मतों-सिद्धान्तों को अपने संग्रहग्रन्थ में संगृहीत करके अपनी मौलिक दृष्टि से उनका परीक्षण किया था । उनमें निस्सन्देह उनकी अपनी मौलिक उद्भावनाएं तथा स्थापनाएं भी थीं । बाद के दार्शनिक वैयाकरणों के लिए तो यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी से कहीं बहुत अधिक अपने दार्शनिक विवेचन का उपजीव्य एवं मुख्य आधार बना । कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि ने पदविश्लेषण आदि के लिए पाणिनि के शब्दानुशासन को उपजीव्य बनाया, पर दार्शनिक विवेचन के लिए उन्होंने मुख्य रूप से संग्रह को आधार बनाया । शैली की दृष्टि से भी वे व्याडि की सरणि पर ही बढ़े । तभी भर्तृहरि ने पातंजल महाभाष्य को संग्रह का प्रतिकंचुक कहा है ।[1]

अनेक व्याडि :

व्याडि नाम के तीन विभिन्न आचार्य हुए हैं - प्राचीनतम वैयाकरण व्याडि, ततः कोशकार व्याडि तथा अर्वाचीन रसाचार्य व्याडि । कोशकार व्याडि का कोशग्रन्थ यद्यपि सम्प्रति उपलब्ध नहीं है तथापि इसके उद्धरण अनेक कोशग्रन्थों की टीकाओं में मिलते हैं । आचार्य हेमचन्द्र के उल्लेख के अनुसार व्याडि के कोश में 24 बौद्ध जातकों के नाम मिलते हैं ।[2] स्पष्ट

1· संग्रहप्रतिकंचुके । - वाक्यपदीय, 2·87

2· अभिधानचिन्तामणि, देव काण्ड, श्लोक 147 की टीका

है कि यह व्याडि महात्मा बुद्ध [illegible] के बाद हुआ है। एक एतद् व्याडि का उल्लेख प्रसिद्ध यात्री अलबेरूनी ने अपनी भारतयात्रा में किया है।[1]

वैयाकरण - व्याडि :

वैयाकरण व्याडि का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य,[2] व्याकरण-महाभाष्य,[3] काशिकावृत्ति,[4] भाषावृत्ति[5], वाक्यपदीय[6] आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यह व्याडि [illegible] और पाणिनि का समकालीन था और इसने व्याकरण विषय पर 'संग्रह' नाम का विशालकाय ग्रन्थ रचा था[7] जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

अन्य नाम :

संग्रहकार व्याडि के दो अन्य नाम भी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं - दाक्षायण और दाक्षि। महाभाष्य में लिखा है - "शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।"[8] काशिका में दाक्षायण और दाक्षि को पर्याय-वाची कहा गया है।[9]

---

1. सं० व्या० शा० इति० भाग-1 पृ० 277
2. ऋ० प्रा० 2.23, 28/ 6.46/ 13.31, 37/
3. (क) आपिशल - पाणिनीय - व्याडीय - गौतमीयाः। - व्या० म० भा०, 6.2.36
   (ख) द्रव्याभिधानं व्याडिः - वही 1.2.64
4. काशि०, पृ० 132
5. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्
6. वा० प०, 2.84, 87
7. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थ परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्। - पुण्यराज, वा० प० टीका पृ० 163
8. व्या० म० भा०, 2.3.66
9. तत्रभवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा। - काशिका 4.1.17

वंश :

सायण ने अपनी धातुवृत्ति में "व्याडि" की जो व्युत्पत्ति दी है,[1] तदनुसार इसके पिता का नाम "व्यड" था। इसकी माता का नाम अज्ञात है। व्याडि का अपरनाम दाक्षायण या दाक्षि होने से इनके पूर्वपुरुष का नाम "दक्ष" प्रतीत होता है। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के उल्लेख के अनुसार दाक्षायण(व्याडि) का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। पाणिनि की माता का नाम "दाक्षी" था,[2] जो दाक्षायण या दाक्षि अर्थात् व्याडि की बहिन थी। इस प्रकार व्याडि पाणिनि के मामा थे।[3]

देश :

पुरुषोत्तम देव ने अपने त्रिकाण्ड शेष नामक कोश में व्याडि के पर्याय विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी लिखे हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने विन्ध्यस्थ के स्थान पर विन्ध्यवासी और केशव ने विन्ध्यनिवासी लिखा है। परन्तु ये पर्याय वैयाकरण व्याडि के नहीं हैं। इसीलिए पुरुषोत्तमदेव ने पर्याय के रूप में वहाँ दाक्षायण या दाक्षि नहीं लिखा है। पहले बताया जा चुका है कि पाणिनि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के रहने वाले थे। अत: उनके मामा व्याडि भी उसी के आसपास के क्षेत्र के रहने वाले प्रतीत होते हैं। काशिका में दाक्षिपलद, दाक्षिनगर, दाक्षिग्राम, दाक्षिह्रद, दाक्षिकन्था संज्ञक ग्रामों का निर्देश है[4]। काशिका के अनुसार ये ग्राम वाहिक देश में थे और वाहिकदेश महाभारत के एक वचन[5] के अनुसार सतलुज और सिन्धु नदियों के बीच में स्थित था। अत: दाक्षि व्याडि भी उसी देश के निवासी रहे होंगे।

---

1. विशिष्टोऽडस्तैक्ष्ण्यमस्य = व्यड:, तस्यापत्यं व्याडि:। अत इञ् ...।
   - धा० वृ०, चौखम्बा सं० पृ० 82
2. सर्वे सर्वपदादेशा: दाक्षीपुत्रस्य पाणिने:। - व्या० म० भा०, अ०-2
3. सं० व्या० शा० इति०, भाग-1 सं०-3 पृ० 273
4. काशिका, 4·2·142
5. पंचानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिता:।
   वाहिका नाम ते देशा: ...... ।।
   - महाभारत, कर्णपर्व

समय :

विद्वानों ने आचार्य व्याडि की सत्ता पाणिनि के समकालीन या उनके समीप स्वीकार की है । गोल्डस्टूकर ने व्याडि को पाणिनि से एक या दो पीढ़ी बाद बताया है ।[1] पतंजलि ने पाणिनि को दाक्षी का पुत्र[2] और संग्रहकार का दूसरा नाम दाक्षायण[3] कहा है । दक्ष के पुत्र को भी और पौत्र को भी दाक्षि कहा जाता है ।[4] पौत्र (गोत्रापत्य) अर्थ वाले दाक्षि की दूसरी या तीसरी पीढ़ी की (युव) संतान को दाक्षायण कहा जाता है ।[5] अर्थात् दक्ष की चौथी या पांचवीं पीढ़ी की संतान है दाक्षायण । जबकि पाणिनि की माता दाक्षी दूसरी पीढ़ी की तथा पाणिनि तीसरी पीढ़ी के हुए । इस प्रकार दाक्षायण व्याडि पाणिनि से एक या दो पीढ़ी बाद हुए । पतंजलि का "आपिशल-पाणिनीय-व्याडीय-गौतमीयाः" उदाहरण[6] भी पाणिनि तथा व्याडि के पूर्वोत्तर क्रम को सूचित करता है । मीमांसक जी ने गोल्ड-स्टूकर आदि के इस मत को अस्वीकृत करके व्याडि को पाणिनि से कुछ पूर्ववर्ती उनका "मामा" बताया है ।[7] उनका तर्क है कि पाणिनि की माता दाक्षी, दाक्षि या दाक्षायण (व्याडि) की बहिन थी । गोत्र और युव प्रत्यय के भेद से अर्थ की विभिन्नता प्रतीत होने पर भी पाणिन और पाणिनि तथा काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि आदि के समान दाक्षि और दाक्षायण दोनों नाम एक ही व्यक्ति (व्याडि) के वाचक हैं । इसकी पुष्टि काशिका (4·1·1) के "तत्र भवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा" उदाहरण से होती है । अतः व्याडि पाणिनि के मामा सिद्ध होते हैं । परम्परा व्याडिकृत संग्रह को पाणिनीय अष्टाध्यायी

1· गोल्डस्टूकर, पाणिनि - पृ० 228-232

2· सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः । -व्या० म० भा०, 1·1·20

3· शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः । -व्या० म० भा०, 2·1·66

4· अत इञ् । दक्षस्य पुत्रो दाक्षिः । दक्षस्य गोत्रापत्यं (पुमान्) दाक्षिः ।
- काशिका, 4·1·95

5· अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । जीवति तु वंश्ये युवा ।। पा०सू०-4·1·162-63

6· व्या० म० भा०, 4·2·36

7· सं० व्या० शा० इति०, -भाग-1, पृ० 273

पर किया विस्तृत व्याख्यान मानती हैं ।[1] अतः मीमांसक जी ने कहा है कि पाणिनि से कुछ वर्ष पूर्व से व्याडि की सत्ता स्वीकार की जाए, और उसका काल पाणिनीय व्याकरण की रचना के उपरान्त तक स्वीकार किया जाए ।[2] डा० सत्यकाम वर्मा ने भी अन्ततोगत्वा मीमांसक के इसी निष्कर्ष में औचित्य प्रतिपादित किया है ।[3] अपर हम विद्वानों के बहुमत और तर्कों को देखते हुए पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना का समय 650-700 ई० पू० के मध्य मानकर चले हैं, अतः व्याडि का समय 720-640 ई० पू० के लगभग तथा उन द्वारा संग्रह ग्रन्थ को रचने का समय अष्टाध्यायी के रचनाकाल से 10-15 वर्ष बाद का ठहरता है ।

व्याडि की रचनाएं :

व्याडि की निम्न रचनाएं ख्यात हैं -

1. संग्रह
2. व्याकरण (शब्दानुशासन)
3. बलचरित
4. परिभाषा-पाठ
5. लिंगानुशासन

व्याडि ने व्याकरण-दर्शन के विषय को लेकर संग्रह नाम का विशालकाय ग्रन्थ रचा था, जिसका परिचय अनन्तर कुछ विस्तार के साथ दिया जाएगा ।

व्याकरण - आचार्य शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं ।[4] पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषावृत्ति में गालव नामक व्याकरणकार के साथ व्याडि का एक नियम भी उद्धृत किया है ।[5] महाभाष्य में भी एक

---

1. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थ-परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् । [illegible] 113
2. सं० व्या० शा० इति० भाग-1, पृ० 297 [illegible]
4. ऋक्प्रा० 3.23, 28/6.43/13.31.37
5. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम् । परि० वृ० पृ० 76

स्थान पर "आपिशल" और "पाणिनीय" के साथ "व्याडीय" का भी उल्लेख है । ये सब शब्दानुशासन के कर्ता हैं, अतः इससे अनुमान होता है कि व्याडि ने भी कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था ।[1]

<u>बलचरित</u> - समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित की प्रस्तावना में मुनिकविवर्णन में लिखा है कि व्याडि ने बल चरित अर्थात् बलरामचरित का निर्माण करके भारत और व्यास को भी जीत लिया था और वह महाकाव्यनिर्माण के क्षेत्र में उस मार्ग का प्रदीप था । बलरामचरित का रचयिता प्रख्यात वैयाकरण प्राचीनतम व्याडि ही था - यह भी इसी श्लोक से[2] प्रमाणित होता है ।

<u>परिभाषा-पाठ</u> - व्याडि ने परिभाषा-पाठ भी लिखा था जो सम्प्रति उपलब्ध है । महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यंकर ने समस्त उपलभ्यमान पाठों तथा उनकी वृत्तियों को "परिभाषा-संग्रह" के नाम से प्रकाशित किया है[3], जिसमें सर्वप्रथम "व्याडिकृतं परिभाषासूचनम्" प्रकाशित किया गया है । इसमें केवल 93 परिभाषाएं हैं । उसके बाद इस संग्रह में "व्याडि-परिभाषा-पाठ" छपा है जिसमें 140 परिभाषाएं हैं । स्पष्ट है कि अभ्यंकर जी के अनुसार व्याडि द्वारा संगृहीत परिभाषा-पाठ उपलभ्यमान परिभाषापाठों से सबसे प्राचीन है ।

<u>लिंगानुशासन</u> - हेमचन्द्राचार्य, वामन और हर्षवर्धन आदि अनेक लिंगानुशासन के प्रवक्ताओं ने अपने-अपने लिंगानुशासन के ग्रन्थों में व्याडिकृत लिंगानुशासन का

1· सं· व्या· शा· इति· भाग-1 चतुर्थ सं· पृ· 144

2· रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥ 16 ॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥ 17 ॥
- कृ· च·, मुनि· कविवर्णन

3· सं· व्या; शा· इति·, भाग-2 ...

उल्लेख किया है, परन्तु यह ग्रन्थ तथा इसका कोई भी वचन सम्प्रति उपलब्ध नहीं है ।

व्याकरण-दर्शन ग्रन्थ "संग्रह" :

दाक्षायण अपरनाम व्याडि ने व्याकरण के दर्शन-पक्ष को लेकर "संग्रह" नाम का प्रख्यात ग्रन्थ रचा था, जिसके मात्र कुछ श्लोक अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । यह ग्रन्थ एक लाख श्लोकों में निबद्ध था -ऐसा नागेश[1] और पुण्यराज[2] आदि के उल्लेखों से विदित होता है । महाभाष्य में "सांग्रह सूत्रिक" उदाहरण आया है, जिसका अर्थ है संग्रह के सूत्र को पढ़ने और जानने वाला ।[3] इससे प्रतीत होता है कि संग्रह-ग्रन्थ सूत्रात्मक था । व्याडि ने ये सूत्र कारिकाओं के रूप में लिखे होंगे । अर्थात् संग्रह में श्लोकों के साथ-साथ कुछ सूत्र भी होंगे । चान्द्रव्याकरण की वृत्ति में दिये "पंचक:संग्रह:"[4] से विदित होता है कि यह ग्रन्थ पांच अध्यायों या खण्डों में निबद्ध होगा । पं0 युधिष्ठिर मीमांसक जी ने व्याडि के इक्कीस वचन संगृहीत किये हैं । उनमें से दस श्लोक अनुष्टुप् छन्द के हैं, तीन सूत्ररूप तथा आठ वचन गद्यमय हैं । इससे प्रतीत होता है कि व्याडि का संग्रह गद्य-पद्यात्मक था । इस बात का संग्रह को एक लाख श्लोक-परिमित बताने वाले पुण्यराज और नागेश के उल्लेखों से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि गद्य के अक्षरों की गणना करके उसे अनुष्टुप् की 32 अक्षरसंख्या से भाग देकर ग्रन्थपरिमाण बताने की प्राचीन परम्परा है ।

व्याडि ने यह संग्रह ग्रन्थ पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी रचने के उपरान्त इसको मुख्य आधार बनाकर एवं इसके व्याख्यान के रूप में लिखा था -

---

1· संग्रहो व्याडिकृत: लक्षसंख्यो ग्रन्थ: - इति प्रसिद्धि: ।
- व्या· म· भा· प्रदीपोद्योत, पृ0 55

2· व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् ।
- पुण्यराज, वा·प· काण्ड-2, पृ· 183

3· व्या· म· भा·, पा· सू· 4·2·60 पर

4· चा· व्या·, सू· सं· 4·1·62 की वृत्ति

यह पुण्यराज[1] तथा कृष्णचरित[2] के उल्लेखों से विदित होता है । नागेश के एक उल्लेख से सूचित होता है कि इस व्याख्यान के प्रसंग में व्याडि ने संग्रह ग्रन्थ में कहीं-कहीं अष्टाध्यायी से सम्बन्धित उदाहरण भी दिए थे ।

व्याडि ने "संग्रह" ग्रन्थ में मुख्यतया व्याकरण के दर्शन-पक्ष को विस्तार के साथ प्रतिपादित किया था - यह महाभाष्य के उल्लेखों से तथा व्याडि के सम्प्रति उपलब्ध वचनों से विदित होता है । महाभाष्य में "किं पुनर्नित्य: शब्द:, आहोस्वित् कार्य: ।" इस प्रश्न के समाधान में व्याख्यान देने की बजाय भाष्यकार ने कहा है - "संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्-नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति । तत्रोक्ता दोषा:, प्रयोजनान्यपि उक्तानि । तत्र त्वेष निर्णय:+ यद्येव नित्योऽथापि कार्य:, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम् ।"[3] महाभाष्य के इस उल्लेख से तथा वाक्यपदीय की भर्तृहरिकृत स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत किए गए संग्रह के वचनों के अध्ययन से विदित होता है कि संग्रह एक ऐसा ग्रन्थ था, जिसमें मुख्यरूप से व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया था । महाभाष्य के "संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्" इस वचन की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है - "चतुर्दश सहस्र पदार्थों की परीक्षा इस संग्रह ग्रन्थ में की गयी है ।"[4] चौदह हजार पदार्थों की परीक्षा करने वाला यह दर्शन ग्रन्थ सचमुच एक लाख श्लोक परिमाण वाला रहा होगा । संग्रह के वैशिष्ट्य को देखकर ही महाभाष्यकार ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है - "शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृति:" । महाभाष्यकार पतंजलि जैसे महावैयाकरण "संग्रह" को इतना मनोहर कहे तो निश्चय ही यह ग्रन्थ विशिष्ट

---

1. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् । - वा॰ प॰, पुण्यराज॰पृ॰ 283

2. रसाचार्य: कविर्व्याडि: शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनि: ।
   दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणी: ॥ 16 ॥
   - कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन

3. व्या॰ म॰ भा॰, आ॰-1, पृ॰ 37

4. चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे परीक्षितानि ।
   - व्या॰ म॰ भा॰, भर्तृहरि टीका

एवं महत्त्वपूर्ण था ।

दुर्भाग्य से यह शोभन कृति चिरकाल से लुप्त है । इसका कारण इस ग्रन्थ का बृहदाकार ही हो सकता है, जिसे उस युग में न तो पूरा पढ़ पाना सम्भव होगा और न ही इसके हस्तलेख उतारना । भर्तृहरि के वर्णन से विदित होता है कि प्राय: संक्षेप में ही रुचि रखने वाले और थोड़ी विद्या से ही सन्तुष्ट होने वाले वैयाकरणों को पाकर "संग्रह" ग्रन्थ अस्त को प्राप्त हो गया । उसके बाद तीर्थदर्शी पतंजलि ने प्रयास किया ·· आदि ।[1] इससे यह भी विदित होता है कि संग्रह पतंजलि के समय से पूर्व ही लुप्त प्राय: या दुर्लभ हो गया था । पतंजलि द्वारा शब्द की नित्यता-अनित्यता के सम्बन्ध में "संग्रह" ग्रन्थ का उल्लेख[2] जिस प्रकार किया गया है, उससे विदित होता है कि यह ग्रन्थ पतंजलि की दृष्टि में अवश्य रहा था ।

संग्रह के कुल इक्कीस वचन अब भी उपलब्ध होते हैं जिन्हें पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास भाग-3 में संगृहीत किया है । मीमांसक जी के कथनानुसार इनमें से दस वचन वाक्यपदीय के ब्रह्म-काण्ड की स्वोपज्ञ टीका में उपलब्ध हुए हैं और शेष वचन अन्य विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त हुए हैं । ये व्याडि-वचन उनके व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा संग्रह के प्रतिपाद्यविषय से परिचित कराने में सहायक हैं ।

दार्शनिक देन :

व्याकरण शास्त्र की भारतीय परम्परा पाणिनीय शब्दानुशासन को व्याडिकृत संग्रह का उपजीव्य तथा व्याडि को पाणिनि-सम्प्रदाय

1· प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान् ।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ।।
कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना । ··· आदि

- वा·प·, 2·478·77

2· व्या·म·भा·, आह्निक-1

का समकालीन आचार्य मानते हैं ।[1] यद्यपि समुद्रगुप्त,[2] नागेशभट्ट[3] तथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि[4] के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि व्याडि ने संग्रह में पाणिनि के कुछ या पर्याप्त सूत्रों की व्याख्या भी की थी और उनके उदाहरण भी दिए थे । परन्तु महाभाष्य के विवरण[5] से तथा संग्रह के उपलभ्यमान वचनों से यह प्रमाणित होता है कि इस विशालकाय ग्रन्थ में प्रधान-तया व्याकरण के भाषासम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन तथा परीक्षण किया गया था । यद्यपि संग्रहग्रन्थ के लुप्त हो जाने से सम्पूर्ण व्याडि-दर्शन के अध्ययन तथा ज्ञान से हमें वंचित होना पड़ा है, तथापि विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाली संग्रह की इक्कीस मौलिक कारिकाओं या पंक्तियों से तथा व्याडि के मत से सम्बन्धित अनेक उल्लेखों से हमें इस महान् दार्शनिक वैयाकरण की निम्नलिखित मान्यताओं तथा उपलब्धियों का ज्ञान भली प्रकार हो जाता है, जिससे व्याडि के सम्पूर्ण दर्शन का अनुमान सहज ही लग जाता है ।

द्रव्याभिधान : वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतंजलि ने आचार्य व्याडि और आचार्य वाजप्यायन के पदार्थ से सम्बन्धित मतों को विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है । वाजप्यायन के "शब्द का अर्थ जाति है"-इस मत की व्याख्या करते हुए वार्तिककार तथा भाष्यकार ने लिखा है कि व्याडि इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते । उनके मत में तो शब्द से द्रव्य (व्यक्ति) का अभिधान होता है;[6] आकृति अर्थात् जाति का नहीं । जब शब्द द्रव्य का

---

1. (क) संग्रहोप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः । - म.भा. दीपिका, पृ. 30
   (ख) इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थ-परिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् । -पुण्यराज, वा.प., काण्ड-2, पृ. 183
2. दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः । -कृ.च., प्रस्तावना, पृ. 16
3. एवंच संग्रहादिषु तदुदाहरणदानमसंगतं स्यात् । -म.भा.प्र.उ., 4.3.39
4. शवोभूति-व्याडि-प्रभृतयः श्रयुकः कितीत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्व-भूतो गकारः प्रश्लिष्टः इत्येवमाचक्षते । -का.वि.पंजिका (न्यास) 7.3.11
5. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्..आदि ।- म.भा.आह्निक-1
6. द्रव्याभिधानं व्याडिः । - वा. म.भा. वार्तिक, 1.2.64

बोध कराता है तो साथ में उसमें निष्ठ लिंग तथा संख्या का बोध भी सिद्ध होगा ।[1] जाति को द्रव्य मानने पर तो यह सम्भव नहीं है । द्रव्य को शब्द का वाच्यार्थ मानने में अन्य उपपत्ति देते हुए कात्यायन व्याडि के सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द श्रवण के अनन्तर श्रोता की द्रव्यरूप अर्थ में ही कार्य की प्रवृत्ति होती है, आकृति§जाति§में नहीं ।[2] अतः द्रव्य ही शब्द का वाच्य है । किंच द्रव्य अनेक होने से एक समय में अनेक स्थानों में रह सकते हैं, परन्तु जाति एक होने से एक समय में अनेक अधिकरणों में कैसे रह सकती है? व्याडि के द्रव्याभिधान पक्ष में अन्य तर्क देते हुए वार्तिककार कहते हैं कि शब्द का वाच्य यदि जाति को माना जाए तो "गौ उत्पन्न हुई;""गौ मरी" ऐसा कहने पर यहाँ तो अर्थ निकलेगा कि गोत्व उत्पन्न हुआ, गोत्व मरा जो संगत नहीं है । यदि क्रियाएं जात्याश्रय द्रव्य में मानें तो जाति के सभी द्रव्यों §व्यक्तियों§ में रहने के कारण'सभी गौएं उत्पन्न हुई, सभी मर गई'- ऐसा अर्थबोध होने लगेगा ।[4] आकृति एक और समान कही गई है परन्तु अनेक गौ आदि द्रव्यों में समानता नहीं बल्कि विरूपता होती है ।[5]

शब्द का वाच्यार्थ द्रव्य होता है, इसमें व्याडि के एक अन्य तर्क को प्रस्तुत करते हुए कात्यायन कहते हैं कि अनेक घोड़े आदि द्रव्यों को प्रकट करने के लिए व्याकरणशास्त्र में अश्वश्च अश्वश्च अश्वश्च - इस प्रकार विग्रह किया जाता है, और फिर "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इस नियम से एक विभक्ति के परे रहने पर एक-शेष का विधान किया जाता है । इस विग्रह से अर्थात् अनेक द्रव्यों के लिए उतने ही शब्दों का प्रयोग करने के व्याकरण परम्परा के व्यवहार से भी सिद्ध होता है कि शब्द का वाच्यार्थ जाति नहीं, अपितु द्रव्य §व्यक्ति§ होता है[6]।

1· तथा च लिंग-वचनसिद्धिः । -व्या·म·भा·वार्तिक, 1·2·64

2· चोदनासु च तस्यारम्भात् । - वही

3· न चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत् । - वही

4· विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात् । - वही

5· अस्ति च वैरूप्यम् । - वही

6· तथा च विग्रहः ।

आचार्य व्याडि द्वारा स्थापित इस द्रव्याभिधान सिद्धान्त के आधार पर वैयाकरणपरम्परा में व्याडि का दर्शन ही खड़ा हो गया । कात्यायन और पतंजलि के उपरान्त भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय के द्रव्य-समुद्देश में पृथक् से इस मत का प्रतिपादन किया है तथा हेलाराज ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है ।[1]

वाक्यार्थ की महत्ता : व्याकरणदर्शन में व्याडि ही ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने भाषा के स्वरूप और उसके अवयव पदों का निर्णायक तत्व वाक्यार्थ को ही माना है । वे कहते हैं कि पदों का रूप और अर्थ भी वाक्यार्थ से ही होता है ।[2] अर्थात् - वाक्यार्थ के बिना पद और पदार्थ की पृथक् सत्ता ही नहीं है ।

अद्वैतवाद : पाणिनि के शब्दानुशासन में कहीं भी स्पष्ट रूप से शब्द और अर्थ की एकता का उल्लेख नहीं मिलता । परन्तु आचार्य व्याडि ने -

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया ।
यत: शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ।।[3]

इस कारिका में जिस शब्द और अर्थ के अभिन्न - एक, अद्वैत तत्त्व को बतलाया है वह उस अद्वैत शब्दब्रह्म का ही तो स्वरूप है जिसे भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में

---

1. (क) आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि ।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ।। - वा.प., 3.।
(ख) संग्रहोक्तस्य तस्यार्थस्य अनुवादात् स्मृतमित्याह । -हेलाराज, वही ।
(ग) वाजप्यायनदर्शन-जातिं विशेषणभूतां पदार्थं व्यवस्थाप्य व्याडिदर्शनेन विशेष्यरूपं द्रव्यमपि पदार्थं व्यवस्थापयितुं यथादर्शनं तदेव पर्यायान्तरैरुद्दर्शाति । - हेलाराज, वा.प. पृ. 35 भाग-3
2. न हि किंचित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ।। - वा.प., 1.24 वृत्ति पर उद्धृत ।
3. वा.प.टीका लाहौर संस्करण - पृ.42
4. रसाचार्य: कविर्व्याडि: शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनि: ।
-कृष्णचरित, मुनि-कविवर्णन

शब्दनित्यता-विचार : शब्द को नित्य तथा अनित्य मानने वाले वैयाकरणों के दो पक्ष व्याडि से पहले ही प्रचलित थे। स्फोटायन आदि प्राचीन तथा पाणिनि आदि समकालीन आचार्य स्फोट को ही वास्तविक शब्द मानकर उसे नित्य मानते थे तो अनेक वैयाकरण ऐसे भी थे जो उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण ध्वन्यात्मक शब्द को ही शब्द मानकर उसकी अनित्यता को स्वीकार करते थे। आचार्य व्याडि ने अपने संग्रहग्रन्थ में इन दोनों मतों का संकलन करके विस्तारपूर्वक परीक्षा की कि शब्द नित्य हो सकता है या कार्य।[1] वहां दोनों पक्षों में प्रसक्त दोष भी कह दिए और शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रयोजन भी कह दिए। निष्कर्ष रूप में व्याडि ने यही निर्णीत किया कि शब्द को चाहे नित्य मानें या अनित्य, दोनों पक्षों में शास्त्रारम्भ होना ही चाहिए।[2] दोनों अवस्थाओं में जो दोष है उनका निराकरण किया जा सकता है।

व्याडि के इस उभयपक्षीय निर्णय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे पाणिनि के समान ही व्यवहारिक दृष्टि से वैखरी ध्वनि, जो कि कार्य है - उसे भी शब्द मानते हैं, शास्त्रनिर्वाहार्थ उसमें पद, वर्ण, रूप अवयवों की कल्पना भी करते हैं, परन्तु पारमार्थिक एवं तात्विक दृष्टि से स्फोट को, जोकि नित्य है, शब्द मानते हैं। तभी उन्होंने जहां एक ओर वाक्य और पद का लक्षण करते हुए लिखा है - "पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्,"[3] वहां दूसरी ओर इस प्राकृत ध्वनि को "स्फोट" के ग्रहण का हेतु बताया है।[4] व्याडि द्वारा तात्विक दृष्टि से शब्दनित्यता को स्वीकार करने वाली बात तब और अधिक

---

1. संग्रह एतत् प्रस्तुतं किं कार्यः शब्दोथ सिद्ध इति। -म॰भा॰दीपि॰, पृ॰23
2. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम् -नित्योवा स्यात् कार्योवेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः -यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति। - म॰भा॰, आह्निक-1।
3. वा॰ प॰ टीका लाहौर संस्करण पृ॰43 पर उद्धृत संग्रहवचन।
4. शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
   स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥ -- वही, पृ॰,79

प्रमाणित हो जाती है जब वे शब्द और अर्थ को अभिन्न और एक तत्त्व बतलाते हैं,[1] क्योंकि ऐसा शब्द को नित्य एवं ब्रह्मरूप मानने पर ही सम्भव है ।

इसके अतिरिक्त व्याडि के उपलब्ध वचनों से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि उन्होंने प्राकृतध्वनि, वैकृतध्वनि, शब्दार्थसम्बन्ध, मुख्य-गौणभाव, उपसर्गों की वाचकता या द्योतकता, निपात, कर्मप्रवचनीय, अर्थ आदि पर विचार किया था । उन्होंने दस प्रकार की अर्थवत्ता मानी थी ।[2] ज्ञान सम्यग् और असम्यक् - दो प्रकार का माना था ।[3]

आचार्य व्याडि की उक्त दार्शनिक मान्यताएं एवम् उपलब्धियां वर्तमान में उपलब्ध उनके मात्र इक्कीस वचनों से हमें ज्ञात होती हैं । यदि कहीं उनका सम्पूर्ण संग्रहग्रन्थ उपलब्ध होता तो एक और ग्रन्थरत्न सरस्वतीसदन को आलोकित एवं चमत्कृत करता तथा व्याकरणदर्शन के सम्बन्ध में अनेक नयी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हमें मिल पातीं । तथापि संग्रह के सर्वथा लुप्त हो जाने के बावजूद भी व्याडि और उनके संग्रह की प्रतिष्ठा में कमी नहीं आई है । उनके बाद कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि शब्द या वाक् के दार्शनिक विवेचन के लिए व्याडि की सरणि पर बढ़े । इन्होंने व्याडि के संग्रह को मुख्य आधार बनाकर अपनी विशिष्ट दृष्टि के साथ व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों को उत्तरोत्तर विकसित एवं प्रकाशित किया जिससे व्याडि और उनके संग्रह ग्रन्थ का स्थान और महत्त्व भी बढ़ा ही है ।

1· शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया ।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ।। -वा·प·टीका लाहौर सं· पृ·42

2· तदुभयं परिगृह्य दशधा अर्थवत्ता स्वाभाविभेदिका इति संग्रहे ···।
- वा·प·, 2·207, हरिवृत्ति, हस्तलेख ।

3· अत एव व्याडिः - "ज्ञानं द्विविधं सम्यगसम्यक् च" इति ।
- भाष्यव्याख्या प्रपंच । परिभाषावृत्ति आदि के अन्त में ।

कात्यायन : वार्तिक (लगभग 500-450 ई॰ पू॰)

महत्त्व :

महामुनि कात्यायन पाणिनि के अनुयायियों में तीसरे दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं। इनके वार्तिकों में हमें पाणिनि और व्याडि की परम्परा से प्राप्त शब्द-दर्शन के सिद्धान्तों के दर्शन कुछ अधिक स्पष्टता के साथ होते हैं। इन विचारों में इस दार्शनिक वैयाकरण की अपनी मौलिक मान्यताएं एवं उद्भावनाएं भी दृग्गोचर होती हैं। बाद में पतंजलि ने निस्सन्देह इस दर्शन को व्यापक रूप प्रदान किया है, परन्तु ऐसा उन्होंने प्राय: वार्तिकों के विस्तृत व्याख्यान के रूप में ही किया है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने पतंजलि को पाणिनीय सूत्रों की अपेक्षा कात्यायनीय वार्तिकों का भाष्यकार प्रतिपादित किया है। उपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में पाणिनि तथा व्याडि की परम्परा से प्राप्त शब्द के दार्शनिक चिन्तन को अपनी विशिष्ट दृष्टि और शैली के साथ प्रथम बार प्रकाशित करने का श्रेय कात्यायन को ही जाता है।

कात्यायन के नामान्तर :

पुरुषोत्तमदेव ने अपने त्रिकाण्डशेष कोश में कात्यायन के पांच नामान्तर लिखे हैं - कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित और वररुचि।[1] कात्य गोत्रप्रत्ययान्त नाम है और महाभाष्यकार ने भी इस नाम का प्रयोग किया है।[2] भाषावृत्ति में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय लिखा है[3] और वररुचि नाम कात्यायन का ही है। मेधाजित नाम केवल त्रिकाण्डशेष कोश में ही मिलता है। समुद्रगुप्त के अनुसार वररुचि वार्तिककार कात्यायन ही हैं तथा यह स्वर्गारोहण काव्य का रचयिता भी है।[4] आचार्य सायण ने भी अपनी ऋग्वेदभाष्य-भूमिका में स्पष्टरूप से वार्तिककार का अपर नाम वररुचि लिखा है।[5]

---

1. मेधाजित कात्यायनश्च सः पुनर्वसुर्वररुचिः। -त्रि॰का॰शे॰को॰
2. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु रे। -व्या॰म॰भा॰ 3·2·3
3. पुनर्वसुर्वररुचिः। - भा॰वृ॰, 4·3·34
4. कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन।
5. ऋ॰ वे॰भा॰भू॰, षडंग प्रकरण, पृ॰ 26

अनेक कात्यायन :

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में अनेक कात्यायनों का उल्लेख मिलता है । पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में ऐसे छः कात्यायनों का उल्लेख किया है । इनके मतानुसार पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वार्तिक रचने वाला कात्यायन याज्ञवल्क्य का पौत्र "वररुचि कात्यायन था ।[1]"

महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में भी वररुचि कात्यायन के एक व्यक्ति तथा स्वर्गारोहणकाव्य तथा वार्तिकग्रन्थ को एक कर्ता की कृतियां दर्शाते हुए लिखा गया है कि वररुचि ने स्वर्गारोहण काव्य रचकर स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार दिया है तथा इस कात्यायन ने दाक्षीपुत्र पाणिनि के व्याकरण को वार्तिकों से पुष्ट किया है ।[2] आचार्य पतंजलि ने वार्तिककार का नाम कात्यायन कहा है[3] तो इधर सायण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वार्तिककार का नाम "वररुचि" कहा है ।[4] उधर समुद्रगुप्त ने वररुचि और कात्यायन शब्द का प्रयोग वार्तिक रचने वाले एक ही व्यक्ति के लिए

---

1. सं० व्या० शा० इति०, भाग-1, सं० तृतीय, पृ० 278
2. यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
   काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ।।
   न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः ।
   काव्येपि भूयोनुचकार तं वै कात्यायनोसौ कविकर्मदक्षः ।।
   – कृ० च०, मु० क० वर्णनम्
3. न स्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह । स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति, किं वार्तिककारः प्रतिषेधेन करोति ...।
   – आ० म० भा० 3·2·118
4. तथैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिककारेण दर्शितः – रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।
   – ऋ० भा० भू०, षडंग प्र०, पृ० 26

किया है । स्पष्ट है कि अष्टाध्यायी पर वार्तिक रचने वाले इस वैयाकरण का व्यक्तित्वाचक नाम "वररुचि" है तथा कात्यायन इसका गोत्र है ।

कात्यायन गोत्र में वररुचि नाम का एक अन्य वैयाकरण कालान्तर में सम्वत् प्रवर्तक महाराजा विक्रमादित्य का सभापण्डित हुआ, जिसने अष्टा-ध्यायी पर एक वृत्ति तथा प्राकृत व्याकरण लिखा था । यह अर्वाचीन वररुचि (कात्यायन) निस्सन्देह प्राचीन वार्तिककार वररुचि कात्यायन से भिन्न था ।[1] पतंजलि चरित से भी इसी बात की पुष्टि होती है ।[2]

वंश :

वार्तिककार कात्यायन ने तथा भाष्यकार पतंजलि ने भी अपने बारे में तथा अपने से पूर्ववर्ती पाणिनि एवं कात्यायन के वंश काल आदि के विषय में कुछ भी परिचय नहीं दिया है । वार्तिककार वररुचि के दो नाम गोत्रप्रत्ययान्त हैं - कात्य और कात्यायन । इनसे विदित होता है कि वार्तिककार का पूर्व पुरुष "कत" था । पं0 युधिष्ठिर मीमांसक जी के मतानुसार वार्तिककार वररुचि कात्यायन के पिता "कात्यायन" तथा पितामह याज्ञवल्क्य थे । जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि संस्कृत वाङ्मय में कात्यायन नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं । स्कन्दपुराण के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र था और उसने वेद-सूत्र की रचना की थी ।[3] मीमांसक जी के अनुसार इस याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन ने श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुः-पार्षद आदि सूत्र-ग्रन्थों की भी रचना की थी ।[4] स्कन्दपुराण के वचनानुसार[5] इस याज्ञवल्क्यपुत्र

---

1. सं० व्या० शा० इति० भाग-1, पृ० 443
2. पतंजलिचरितम्, सर्ग, श्लोक-2
3. कात्यायनं सुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम् ।

   - स्क० पु०, नागर खण्ड, अ० 130 श्लो० 7।
4. सं० व्या० शा० इति०, भाग-1, पृ० 298
5. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम् ।

   पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः ।।

   - स्क० पु०, अ० 131, श्लो० 48,49

कात्यायन का अगे पुत्र हुआ "वररुचि कात्यायन" । बस यही कात्यायनपुत्र और याज्ञवल्क्य का पौत्र "वररुचि कात्यायन" पाणिनीय अष्टाध्यायी का वार्तिककार हुआ - यह पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने अन्तःसाक्ष्यों और वाह्य प्रमाणों की एक विस्तृत श्रृंखला के साथ सिद्ध किया है ।[1] इस प्रकार वार्तिककार "वररुचि कात्यायन" के पिता कात्यायन तथा पितामह याज्ञवल्क्य थे ।

स्थान :

कात्यायन दक्षिण भारतीय थे - यह महाभाष्य के उल्लेख से विदित होता है । व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में वार्तिककार कात्यायन का "यथा लौकिकवैदिकेषु" यह वार्तिक आया है । इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं - "ये दाक्षिणात्य लोग प्रियतद्धित होते हैं जो "यथा लोके वेदे" ऐसा प्रयोग करने की बजाय "यथा लौकिकवैदिकेषु" ऐसा तद्धितान्त प्रयोग किया करते हैं"।[2] इस प्रकार प्रमाणभूत आचार्य पतंजलि ने कात्यायन को स्पष्ट शब्दों में दाक्षिणात्य अर्थात् दक्षिण भारतीय कहा है । इस आधार पर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने कात्यायन का जन्म एवं निवासस्थान दक्षिण-भारत माना है ।[3] यद्यपि गोल्डस्टूकर ने उक्त तथ्य को ध्यान में न रखते हुए व्याकरण सम्बन्धी प्राच्य-परम्परा की समृद्धि आदि के कारण कात्यायन के प्राच्य अर्थात् पूर्वी भारतीय होने का अनुमान लगाया है ।[4] परन्तु इस मत को अस्वीकार करके रेनो, मीमांसक,[5] जार्ज कार्डोना[6] आदि आधुनिक विद्वानों ने महाभाष्य के, कात्यायन को "प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः" कहने वाले प्रबल प्रमाण के बल पर 'वार्तिककार कात्यायन' का जन्म तथा निवास स्थान दक्षिण-भारत ही माना है ।

---

1. सं॰ व्या॰ शा॰ इति॰, भाग-1 पृ॰ 299-301
2. व्या॰म॰भा॰, आ॰-1पृ॰46
3. "पतंजलिज़ महाभाष्य" , पत्रिका इण्डियन एण्टीक्वारी, बाम्बे 1927-33 1:121-24
4. "पाणिनि" हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ॰217,236
5. सं॰व्या॰शा॰इति॰, भाग-1 पृ॰305
6. पाणिनि - ए सर्वे आफ रीसर्च पृ॰269

समय :

स्कन्दपुराण में "कात्यायन" को याज्ञवल्क्य का पुत्र तथा "वररुचि-कात्यायन" को कात्यायन का पुत्र एवं याज्ञवल्क्य का पौत्र बतलाया गया है ।[1] मीमांसक जी ने इसी वररुचि कात्यायन को वार्तिककार कात्यायन माना है और याज्ञवल्क्य का काल पाणिनि से कुछ पहले प्रतिपादित किया है ।[2] इधर नागेश भट्ट ने कात्यायन को पाणिनि का साक्षात् शिष्य कहा है ।[3] इन दो के साक्ष्य पर मीमांसक जी ने वार्तिककार कात्यायन को पाणिनि के समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती, 2900 वि० पू० के आसपास हुआ बताया है ।[4] परम्परानुसार कात्यायन को महापद्मनन्द के समकाल माना जाता है । ऐसी स्थिति में 400 ई० पू० के लगभग उनका समय बैठता है । कीलहार्न, गोल्डस्टूकर, भण्डारकर आदि महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने सूत्रकार के बाद वार्तिककार द्वारा अपनाए गए नवीन शब्दों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वार्तिककार कात्यायन पाणिनि से लगभग 150-200 वर्ष बाद होना चाहिए ।[5] तदनुसार जिन विद्वानों ने पाणिनि का समय अपने-अपने मतानुसार 400 ई० पू० से 700 ई० पू० तक माना है वे कात्यायन का समय 250 ई० पू० से 500 ई० पू० में बताते हैं । युधिष्ठिर मीमांसक आदि द्वारा पाणिनि के बुद्ध से अर्वाचीन होने का खण्डन करके उन्हें बुद्ध से पर्याप्त पूर्ववर्ती सिद्ध करने से तथा विद्वानों के बहुमत के आधार पर हमने पाणिनि का समय 700-650 ई० पू० के लगभग माना है । अतः कात्यायन का समय 500 ई० पू० के आसपास मानना होगा ।

1· (क) कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम् ।
   (ख) कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम् ।
   पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः ।। -स्क·पु·, अ· 130-48,49

2· सं·व्या·शा· इति· भाग-2, पृ·299

3· लघुशब्देन्दुशेखर के अव्ययीभावप्रकरण में "संख्या वंश्येन" की व्याख्या ।

4· सं·व्या·शा· इति· भाग-2, पृ·307

5· "पाणिनि" हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ· 97-153

रचनाएं :

आफ्रेक्टकृत वृहद् हस्तलेख सूची आदि में कात्यायन तथा वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं । कात्यायन अनेक हुए हैं, उनमें से कौनसी रचना किस कात्यायन की है, यह अभी अन्तिम रूप से निश्चित होने को है । तथापि व्याकरणमहाभाष्य और महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित आदि के कथनों से यह प्रमाणित होता है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी पर "वार्तिकपाठ" तथा "स्वर्गारोहणकाव्य" प्रथम वररुचि कात्यायन की रचनाएं हैं ।[1] कात्यायन का स्वतन्त्र वार्तिकपाठ यद्यपि सम्प्रति अनुपलब्ध है, तथापि इनके अधिकांश वार्तिकों को पतंजलि ने व्याकरणमहाभाष्य में व्याख्यान का विषय बनाया है । कील-हार्न ने तथा डा0 वेदपति मिश्र ने बड़े परिश्रम से भाष्यवाक्यों से वार्तिकों को पृथक् किया है ।[2] डा0 मिश्र के अनुशीलन के अनुसार महाभाष्य में 4280 वार्तिक हैं जिनमें से 3870 कात्यायन के तथा शेष अन्य आचार्यों एवं स्वयं भाष्यकार के हैं ।[3] इनमें से शताधिक वार्तिक कात्यायन की दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिचायक हैं ।

---

1. (क) न स्म पुरानद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह । स्मादिविधि: पुरान्तो यदविशेषेण भवति, किं वार्तिककार: प्रतिषेधेन करोति - न स्म पुरानद्यतन इति । -- व्या॰म॰भा॰3॰2॰118

(ख) वाररुचं काव्यम् । - वही, 4॰3॰101

(ग) य: स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचि: कवि: ।।
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्य: ।
काव्येपि भूयोनुचकार तं वै कात्यायनोसौ कविकर्मदक्ष: ।।
- कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन ।

2. कार्डोना, पाणिनि - पृ॰ 97-153

3. (क) कीलहार्न-संपादित व्याकरणमहाभाष्य ।

(ख) डा0 वेदपति मिश्रकृत "महाभाष्य वार्तिकानुशीलन" तथा "व्याकरण वार्तिक" ।

दार्शनिक सूचनाएं :

संस्कारपूर्वक लक्ष्यों (साधु शब्दों) के ज्ञान के लिए आचार्य पाणिनि ने जिन लघुउपायभूत लक्षणों का उपदेश किया है, उनमें उक्त के व्याख्यान एवं अन्वाख्यान, अनुक्त-विधान तथा दुरुक्त-प्रत्याख्यान के उद्देश्य से कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की है ।[1] फलस्वरूप उनके प्रयास से जिस प्रकार व्याकरण के विश्लेषणात्मक स्वरूप में विशेषता एवं पूर्णता आई है, उसी प्रकार उसके दार्शनिक पक्ष को भी उन्होंने उतने ही अंश में प्रभावित किया है । पाणिनि जिस उद्देश्य को लेकर चले थे, उससे हटकर दार्शनिक विचार प्रकट करने में वह स्वतन्त्र भी नहीं थे । तथापि उन्होंने उन तत्वों का प्रतिपादन किया, जो प्रसंगप्राप्त थे तथा विश्लेषण के लिए अनिवार्य थे । परन्तु कात्यायन कुछ अधिक स्वतन्त्र थे, अत: व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक खुलकर विचार प्रकट कर सके । कात्यायन ने शैली की दृष्टि से व्याडि की सरणि को अपनाया है तथा अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों से प्राप्त दार्शनिक दायाद को अपनी अलौकिक मेधा से कसकर उसके परिणामों से हमें अवगत कराया है ।

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता :

"सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" कात्यायन का प्रथम वार्तिक है । स्पष्ट है कि पाणिनि और व्याडि की तरह ही कात्यायन भी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य मानते हैं । इस लघुतम एवं मनोहर वार्तिक द्वारा कात्यायन ने पाणिनि तथा विशेषतया व्याडि[2] के तथा स्वाभिमत

1· (क) उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम् । -नागेश· म· भा· उ· 7· 3· 59

(ख) सूत्रेऽनुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्तिकत्वम् । - वही, 1· 1· 1

(ग) इह हि किंचिदक्रियमाणं चोद्यते किंचिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते ।
-व्या· म· भा·, 3· 1· 12

2· (क) सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो: ।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात् कृत: कथम् ।।
-व्याडि, वा· प· 1· 26 पर हरिवृषभ द्वारा उद्धृत ।

(ख) नित्या: शब्दार्थसम्बन्धा: समाम्नाता महर्षिभि: ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभि: ।। - वा· प· 1· 23

शब्दार्थसम्बन्ध-विषयक सिद्धान्त को प्रस्तुत ही नहीं किया है बल्कि उन्होंने अपनी इस पहली रचना द्वारा व्याकरण के प्रक्रिया पक्ष से कहीं अधिक उसके दार्शनिक पक्ष के प्रति अपनी अभिरुचि को दर्शाया है । पतंजलि का मत है कि आचार्य कात्यायन ने मंगलार्थ तथा नित्यपर्यायवाची के रूप में सिद्ध शब्द का प्रयोग वार्तिक के आदि में किया है ।[1] भले ही कात्यायन से भी पहले व्याडि ने नित्यपर्यायवाची के रूपमें सिद्ध शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु जिस प्रकार यह बाद के व्याकरणनिकाय में लोकप्रिय हुआ है, उसका श्रेय कात्यायन को ही जाता है । वस्तुत: यह सम्पूर्ण वार्तिक ही व्याकरणदर्शन का एक ऐसा प्रतिनिधि वचन है जिसमें कात्यायन ने शब्ददर्शन के समस्त सिद्धान्तों को अन्तर्भूत कर दिया है ।

धर्मजनकता :

कात्यायन कहते हैं कि अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दप्रयोग लोकव्यवहार से ही सिद्ध है । व्याकरणशास्त्र से नियम होता है ।[2] साधु-शब्दों के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्प्रयोग से ही धर्म की प्राप्ति होती है । ऐसा सम्यग् ज्ञान व्याकरणशास्त्र से प्राप्त होता है ।[3]

जाति-व्यक्तिवाद का समन्वय :

उपलब्ध व्याकरण वाङ्मय में कात्यायन ने ही प्रथम बार जातिवादी तथा व्यक्तिवादी वैयाकरणों के मत की उनने वार्तिकों में विस्तृत समीक्षा की है । कात्यायन ने जाति को पदार्थ मानने वाले वाज-

---

1. पश्यति त्वाचार्यो मंगलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदित: प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति । -व्या॰म॰भा॰, आ-1
2. लोकत: अर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम: । - का॰वा॰, 1·3
3. (क) शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन । - का॰वा॰, 1·9
(ख) प्रयोग-शब्दमुपाददानो वार्तिककार: प्रयोगाद् धर्मो न तु ज्ञानमात्रादिति सूचयति । - शब्दकौस्तुभ - पृ॰ 26

प्यायन तथा व्यक्ति को ही पदार्थ मानने वाले व्याडि के तर्कों का विस्तार से प्रतिपादन किया है । इस विषय में पाणिनि द्वारा अपनाए गए उभयविध व्यवहार के अनुकूल ही कात्यायन ने दोनों मतों में समन्वय का मार्ग अपनाते हुए शब्द से जाति और व्यक्ति दोनों का बोध होना स्वीकार किया है । वह कहते हैं कि जातिवाचक शब्द से द्रव्य का भी बोध होता है ।[1] दोनों को पदार्थ मानते हुए भी कात्यायन ने जाति को मुख्य माना है । व्यक्ति-वाद के कारण उपस्थित आक्षेपों का समाधान उन्होंने आकृतिवाद को सिद्धान्त मानकर किया है ।[2] आकृतिवाद पर द्रव्यवादियों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर भी उन्होंने वार्तिकों द्वारा एक-एक करके दिया है ।[3] कात्यायन का यह विशिष्ट समन्वयवाद उनकी देन है ।

कात्यायन ने "समर्थः पदविधिः"[4] सूत्र पर विचार के प्रसंग में वाक्य की चार परिभाषाएं दी हैं, जो केवल संस्कृत व्याकरणदर्शन को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण वाङ्मय को उनकी विशेष देन है । वे चार लक्षण इस प्रकार हैं :-

1. अव्यय, कारक, विशेषण (एक या सभी) से युक्त क्रिया जहां हो वह वाक्य है ।[5]
2. इनके अतिरिक्त क्रियाविशेषण भी हो तो भी वाक्य कहलाता है ।[6]
3. विशेषणयुक्त क्रिया वाला वाक्य है ।[7]
4. एक तिङन्त वाले को वाक्य कहते हैं ।[8]

---

1. जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम् । - का॰वा॰, व्या॰म॰भा॰, 1.2.58
2. आकृतिग्रहणात् सिद्धम् । - वही । तथा 2
3. व्या॰म॰भा॰ में सूत्र 1.2.64 की व्याख्या पर कात्यायन के वार्तिक
4. पा॰सू॰, 2.1.1
5. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम् । -व्या॰मभा॰, 2.1.1 पर का॰वा॰
6. सक्रियाविशेषणं च । - वही
7. आख्यातं सविशेषणम् । - वही
8. एकतिङ् । - वही

इनमें से तृतीय लक्षण प्रथम दो लक्षणों का ही संक्षेप है । इनमें से अन्तिम "एकतिङ्" की व्याख्या में नागेश ने प्रतिपादित किया है कि पाणिनि को भी तीसरा "आख्यातं सविशेषणम्" लक्षण ही अभीष्ट है । वाक्यार्थ में आख्यातार्थ को प्रधान तथा शेष अर्थों को उसका विशेषण बताने वाले इन वार्तिकों में कात्यायन ने वाक्य की इतनी सटीक और वैज्ञानिक परिभाषा की है कि अर्वाचीन सभी दार्शनिक वैयाकरणों ने इसे विस्तार से स्पष्ट किया है । भाष्यकार ने इस लक्षण चतुष्टय को "अपूर्व" बतलाया है ,[1] जिसका तात्पर्य है कि कात्यायन से पूर्व वाक्य का यह लक्षण ज्ञात नहीं था, जैसा कि वार्तिककार ने बतलाया है । शायद इसी लिए कात्यायन का नाम "वाक्यकार" भी पड़ा हो ।

अन्य सिद्धान्तों का समावेश :

कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यर्थविशेषणवाद, प्रत्ययार्थविशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अर्थनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदि वादों का समावेश करते हुए पाणिनि के अनेक सूत्रों को विवेचित किया है । यह भी उनकी देन है कि आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति आदि में परिभाषारूप में लिखा है, वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं । उनके वाक्य और उनकी इष्टियां परिभाषा का रूप लेती हैं । इस प्रकार कात्यायन ने व्याकरणदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया ।[2]

- - -

पतंजलि : महाभाष्य (लगभग 200–120 ई० पू०)

व्याकरण-दर्शन के प्रथम चरण के विकासक्रम में पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों में पतंजलि चौथे एवं भर्तृहरिपूर्वयुग के अन्तिम, प्रमाणभूत दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं । इन द्वारा रचे व्याकरणमहाभाष्य ग्रन्थ में स्फोटायन कात्यायन, व्याडि, पाणिनि आदि के व्याकरण दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों से भी हम परिचित होते हैं और पतंजलि के अपने दर्शन का भी साक्षात्कार करते हैं । पतंजलि की इस विशिष्ट कृति के भूमिकाभाष्य में और सूत्रों तथा वार्तिकों की व्याख्या के प्रसंग में जहाँ-तहाँ व्याकरणदर्शन पर व्यापक चर्चा हुई है । वस्तुतः व्याकरणदर्शन के वाङ्मय में भर्तृहरि से पहले का, पातंजल महाभाष्य ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है जो न केवल पतंजलि, बल्कि उस युग के प्रामाणिक एवं प्रमुख दार्शनिक वैयाकरणों के दर्शन का दिग्दर्शन करवाता है । इस दृष्टि से तथा अर्वाचीन व्याकरणदर्शन वाङ्मय पर दीखने वाले इसके व्यापक प्रभाव से व्याकरणदर्शन में पतंजलि और इनके महाभाष्य का विशिष्ट स्थान है ।

जीवन-चरित :

पतंजलि ने महाभाष्य में अपने इतिवृत के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है । जनश्रुति तथा रामभद्रदीक्षित के "पतंजलि-चरित" के अनुसार व्याकरण-महाभाष्यकार पतंजलि "शेष" के अवतार थे । इस काव्य के अनुसार शिव-ताण्डव के दर्शन के इच्छुक "शेष" जब भगवान् विष्णु के आशीर्वचन के अनुसार पृथ्वीतल पर योग्य माता की चिन्ता में घूमते हुए एक तपोवन में पहुँचे तो उन्होंने वहां गोणिका नाम की मुनि कन्या को देखा । वह पुत्र-प्राप्ति की कामना से अखण्ड तप में लीन थी । शेष ने मन में ही उसे अपनी माता के रूप में स्वीकार कर लिया ।[1] मुनिकन्या जब भगवान् सूर्य को अर्घ्य दे रही थी तो "शेष" शिशु का रूप धारण कर वरदानरूप में उसकी अंजलि में आ गए और अर्घ्य

---

1. पतंजलि – चरितम्, 1·63; 64, तथा 2·7 से 10

जल के साथ ही नीचे गिर पड़े ।[1] गोणिका ने प्रसन्न होकर उस तापसरूप-धारी बालक को उठा लिया तथा अंजलि से {अर्घ्यजल के साथ} गिरते हुए प्राप्त होने से उसका नाम "पतंजलि" रखा ।[2] पतंजलि-चरित के अनुसार इस मेधावी बालक ने बड़े होकर पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा कात्यायन के वार्तिकों पर अपने शिष्यों को पर्दे के पीछे से शेष के रूप में सहस्र मुखों से महाभाष्य का प्रवचन किया । इस काव्य के अनुसार वहां से कहीं अन्यत्र जाकर पतंजलि ने योगसूत्र तथा वैधक शास्त्र की रचना की।[3] पश्चात् उन्होंने गोनर्द देश जाकर अपनी माता गोणिका को प्रणाम किया और कुछ समय पश्चात् उसके स्वर्गस्थ हो जाने पर स्वयं शेषरूप को प्राप्त हो गये[4]।

पतंजलि के नामान्तर :

पतंजलि-चरित एक काव्य है । इसका कथानक जन-श्रुतियों तथा कल्पनाओं पर आधारित है ; तथापि इससे पतंजलि नाम की व्युत्पत्ति के साथ उन प्राचीन ग्रन्थों के सन्दर्भों की संगति बैठ जाती है, जिनमें पतंजलि के नामान्तर गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत्, शेषराज और शेषाहि कहे गये हैं । इनमें से "गोनर्दीय" और "गोणिका-पुत्र" नामक व्यक्ति को श्री राजेन्द्रलाल मित्र[25] और डा० कीलहार्न[3] ने [6]

1· सम्भृतार्घ्यं जलमंजलिमुच्चैः सा सहस्र-किरणं प्रतिदेवम् ।
यावदुत्क्षिपति तावदमुष्मत्तापसाकृतिरहिः संपपात ।। -पतंजलि चरितम् 2·।।

2· यत्पतन्नभवदंजलितोसौ तत्पतंजलिरिति प्रथिमानम् । -वही, 2·19

3· पतंजलि चरितम्, 5·25

4· गोनर्दाख्यं देशं प्राप्य नमस्कृत्य गोणिकां जननीम् ।
तस्यां त्रिदिवगतायां तस्थौ शेषः स्वयं स मुनिः ।। - वही, 5·26

5· जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, भाग-52, पृ·24।

6· इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग-14, पृ·40

महाभाष्य के कर्ता पतंजलि से भिन्न बताया है । पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने भी महाभाष्य में उद्धृत "गानदीर्य" और"गोणिका-पुत्र" नामक आचार्य या आचार्यों को पतंजलि से भिन्न माना है ।[1] परन्तु इन तीन विद्वानों को छोड़कर शेष सभी प्राचीन वैयाकरणों तथा आधुनिक विद्वानों ने ये दोनों नाम महाभाष्यकार पतंजलि के ही बताए हैं ।

भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यदीपिका टीका में तीन बार पतंजलि के लिए "चूर्णिकार" नाम का उल्लेख किया है ।[2] क्षीरस्वामी ने अमरकोश की टीका में"चूर्णि" शब्द भाष्य का पर्याय माना है ।[3] स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त की टीका में [4] और उबट ने ऋक्प्रातिशाख्य की टीका में पतंजलि के महाभाष्य का एक पाठ "पदकार" के नाम से उद्धृत किया है ।[5]

वंश :

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में अपने वंश के विषय में कुछ भी परिचय नहीं दिया है । पतंजलि-चरित के अनुसार वह शेषावतार हैं तथा "गोणिका" नाम की मुनिकन्या को उन्होंने अपनी माता के रूप में स्वीकार किया था । नागेश के उल्लेख के अनुसार प्राचीन व्याख्याकार पतंजलि को "गोणिकापुत्र" कहते थे ।[6] तदनुसार पतंजलि की माता का नाम गोणिका था । पहले ही बताया जा चुका है कि राजेन्द्रलाल कीलहार्न और मीमांसक ने "गोणिकापुत्र" को पतंजलि से भिन्न व्यक्ति माना है । क्योंकि पतंजलि ने महाभाष्य में "गोणिकापुत्र" के नाम से एक मत उद्धृत किया है, जो किसी अन्य आचार्य का ही हो सकता है ।[7] परन्तु डा0 सत्यकाम वर्मा का कथन है कि पतंजलि

---

1. सं॰व्या॰शा॰ इति॰, भा-1, पृ॰32। तथा 33।
2. म॰भा॰दीपिका, हस्तलेख, पृ॰179,199,216
3. भाष्यं चूर्णिः । - अ॰को॰टीका 3॰5॰3।
4. निरुक्त टीका, 1॰3
5. ऋ॰प्रा॰टी॰, 13॰19
6. गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः - म॰भा॰उद्योत, 1॰4॰51
7. सं॰व्या॰उ॰वि॰, पृ॰194

ने गोणिकापुत्र शब्द का प्रयोग अपने लिए ही किया है । अतः उनके अनुसार भी पतंजलि के माता का नाम "गोणिका" था ।

स्थान :

पतंजलि ने कात्यायन को दाक्षिणात्य कहा है[1] जिसका अर्थ होता है दक्षिणभारतीय ह इससे विदित होता है कि कात्यायन को दाक्षिणात्य कहने वाले पतंजलि स्वयं उत्तरभारत के निवासी थे । महाभाष्य में उन्होंने दक्षिणापथ की चर्चा जिस प्रकार की है, उससे भी वह उत्तरभारतीय ही प्रतीत होते हैं । परन्तु उत्तरभारत में उनका जन्मस्थान और स्थायी निवास कहां रहा – यह निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

महाभाष्य में गोनर्दीय के नाम से मत का उल्लेख अनेक बार हुआ है । यह शब्द देशनिमित्तक है, जिससे विदित होता है कि इस नाम का आचार्य गोनर्द देश का निवासी था । महाभाष्य के सूत्र 1·1·20 पर आए "गोनर्दीयस्त्वाह ····" इस वचन की व्याख्या करते हुए कैयट और नागेश ने गोनर्दीय का अर्थ "भाष्यकार" {पतंजलि} किया है ।[2] भर्तृहरि,[3] राजशेखर,[4] और वैजयन्तीकोशकार[5] ने गोनर्दीय शब्द को पतंजलि का पर्याय माना है । इससे विदित होता है कि पतंजलि गोनर्दप्रदेश के निवासी थे । पतंजलिचरितं के वर्णन से भी यही प्रमाणित होता है ।[6] यह गोनर्ददेश कहां था – इस विषय में तीन मत हैं । डा॰ भण्डारकर वर्तमान अवध के पश्चिमोत्तर में

1· संख्या·उ· प्रियतद्धिता: दाक्षिणात्या: ·· इत्यादि । व्या·म·भा·, आ·–1

2· क} भाष्कारस्त्वाह । – व्या·म·भा·प्रदीप, आ·–1 सू· 1·1·20

ख} गोनर्दीयपदं व्याचष्टे – भाष्यकार इति । –वही, उद्योत

3· गोनर्दीयस्त्वाह, तस्माद भाष्यकारो व्याचष्टे सूत्रमिति ।
–म·भा· त्रिपदी, पृ· 279

4· का·मी·, पृ· 26

5· गोनर्दीय: पतंजलि: । –वै·को·श्लो· 157 पृ· 96

6· गोनर्दाख्यं देशं प्राप्य नमस्कृत्य गोणिकां जननीम् । –पतंजलि चरितम्, 5·26

स्थित "गोंडा" को "गोनर्द" का अपभ्रंश मानते हैं । वेबर गोनर्द को पाटलिपुत्र के पूर्व में मानते हैं[1] तथा कनिंघम इसकी व्युत्पत्ति गौड़ से बतलाते हैं ।[2] डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री मानते हैं कि पतंजलि पंजाब से, विशेषतया वहां के ग्रामों से विशेषरूप से परिचित थे, अतः वह पंजाब के निवासी थे । गोनर्द नाम भी पंजाब का ही रहा होगा ।[3] जैसाकि पहले बताया जा चुका है, डा० कीलहार्न, राजेन्द्रलाल तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक के मत में "गोनर्दीय" नाम का आचार्य पतंजलि से भिन्न था, क्योंकि पतंजलि ने उसके मत का उल्लेख किया है । इन विद्वानों के विचार में पतंजलि की जन्मभूमि कश्मीर थी, क्योंकि वह अनेक वाक्यों में कश्मीर जाने की घर जैसी उत्कण्ठा जतलाते हैं । कश्मीर के राजा अभिमन्यु और जयापीड़ द्वारा महाभाष्य का पुनः पुनः उद्धार कराना भी व्यक्त करता है कि पतंजलि का कश्मीर से कोई विशिष्ट सम्बन्ध था ।[4] परन्तु पतंजलि कश्मीर की भान्ति मथुरा, साकेत, पाटलिपुत्र, अवन्ती, माहिष्मती, कच्छ, वाहीक, कुरू, स्रुघ्न आदि देशों से भी तो भलीभान्ति परिचित थे ?· अतः पतंजलि को गोंडा या पूर्वपंजाब या कश्मीर का मूलनिवासी मानने के विद्वानों के उक्त मतों में से किसी एक को अन्तिम रूप से मानने के लिए अभी ठोस एवं पुष्ट साक्ष्य की अपेक्षा है ।

समय :

पतंजलि के काल निर्धारण में विशेष विवाद नहीं रह गया है । पातंजल महाभाष्य में वर्णित निम्न तीन राजनैतिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं से पतंजलि का समय " 200-120 ई० पू० निश्चित होता है -

1· सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख,

2· पतंजलि द्वारा राजा पुष्यमित्र का यज्ञ सम्पन्न करवाना तथा

3· पतंजलि के समय यवनों द्वारा साकेत और माध्यमिका नगरों को घेरना ।

1· एन· ज्याग्रा·, पृ·400

2· आर्कि·सर्वे· भाग-1, पृ·327

3· पतंजलि कालीन भारत, पृ· 24

4· सं·व्या·शा· इति· भाग-1, पृ·32

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में चन्द्रगुप्त और पुष्यमित्र को राजा बतलाते हुए चन्द्रगुप्तसभा और पुष्यमित्रसभा का उल्लेख किया है ।[1] स्पष्ट ही यह सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य है । इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य 322 ई0 पू0 में गद्दी पर बैठा था, अतः पतंजलि उसके बाद हुए - यह निस्सन्दिग्ध है ।

पतंजलि ने पुष्यमित्र द्वारा किसी ऐसे विशाल यज्ञ को करवाने का उल्लेख किया है जिसमें अनेक पुरोहित थे । पतंजलि भी इस यज्ञ में सम्मिलित थे ।[2] पुष्यमित्र का उदाहरण देते हुए पतंजलि एक अन्य उल्लेख में कहते हैं कि यज् धातु केवल हविप्रक्षेपण अर्थ में ही नहीं है, बल्कि त्यागार्थक भी है । उस त्याग {दान} को पुष्यमित्र कर रहे हैं और याजक उन्हें प्रेरित कर रहे हैं । अतः "पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्ति" यह कथन संगत होता है, "पुष्यमित्रो याज्यते, याजकाः यजतिन्त" यह प्रयोग संगत नहीं है ।[3] चन्द्रगुप्त तथा पतंजलि के यजमान राजा पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी जिससे पतंजलि अत्यधिक परिचित थे । इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य 322 ई0 पू0 में गद्दी पर बैठा था । पार्जिटर ने समस्त पुराणों का पाठभेद मिलाकर निष्कर्ष निकाला है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के वंश के 10 राजाओं ने कुल 137 वर्ष राज्य किया और तदनुसार पुष्यमित्र के राज्य सिंहासनारोहण का समय 185 ई0 पू0 निर्धारित किया है ।[4] मत्स्य पुराण के अनुसार पुष्यमित्र ने 36 वर्ष राज्य किया ।[5] अतः उसके शासन की निचली

---

1. किंम् प्रयोजनम्? राजार्थम् । ··· पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा ।
   - व्या·म·भा· 1·1·68 आह्निक 9
2. प्रवृत्तस्याविरामें शासितव्यो भवन्तीं इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः । - व्या·म·भा· 3·2·123
3. व्या·म·भा· 3·1·26
4. पार्जिटर, डायनेस्टीज आफ कलिएज, पृ·31
5. कारयिष्यति वराज्यं षट्त्रिंशत् समाः नृपः । -मत्स्यपुराण का वचन, पार्जिटर द्वारा डा0 आ0 कलि0 ऐज पृ·31 पर उद्धृत ।

काल-सीमा 149 ई0 पू0 पड़ती है । यही काल पतंजलि द्वारा अपने यजमान राजा पुष्यमित्र के यज्ञ को करवाने का तथा महाभाष्य लिखने का सिद्ध होता है । पी0सी बागची के अनुसार पुष्यमित्र का काल कुछ पहले प्रारम्भ होकर 175 ई0 में समाप्त हो जाता है ।[1] बोथलिंक पतंजलि को 200 ई0 पू0 के लगभग हुआ मानते हैं ।[2]

पतंजलि के कालनिर्धारण में एक दृढ़ प्रमाण और है । "अद्यतने-लड़्" सूत्र पर वार्तिककार कहते हैं जो क्रिया या घटना आँखों के सामने न हुई हो, लोक-विज्ञात हो परन्तु प्रयोक्ता यदि चाहे तो उसे देख सकता हो अर्थात् उसके अपने समय में ही हुई हो, वहां अनद्यतन भूत में लड़् लकार होता है ।[3] यहां भाष्यकार पतंजलि ने उदाहरण दिया है - "अरूणद् यवन: साकेतम्, अरूणद् यवन: माध्यमिकाम्" । अर्थात् यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने माध्यमिका को घेरा । स्पष्ट है कि यह घटना पतंजलि के परोक्ष में हुई थी, लोकविज्ञात थी, पतंजलि के समय में ही होने से यदि वह चाहते तो इसे देख भी सकते थे । यह आक्रमणकारी यवन "मीनाण्डर" था । यह इतिहास सिद्ध तथ्य है कि 327 ई0पू0 में यवन सिकन्दर ने तथा उसके बाद चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में सेल्यूकस नामक यवन ने भारत पर आक्रमण किया था । तीसरा आक्रमण सेल्यूकस के उत्तराधिकारी "मीनाण्डर" नामक यवन ने पुष्यमित्र के राज्यकाल में किया था । उसी की सेना ने साकेत {अयोध्या} और चितौड़ के समीप माध्यमिका नगरी पर आक्रमण किया था । यह घटना पतंजलि के समय हुई, अत: उन्होंने इसे लड़् लकार का उदाहरण बनाया । मीनाण्डर के काल को ध्यान में रखकर गोल्डस्टूकर ने महाभाष्य रचना का काल 140-120 ई0पू0 के मध्य माना है जबकि डा0 रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने मीनाण्डर का समय 175 ई0पू0 से 142 ई0पू0 तक आकलित किया है

---

1. बागची, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग-22, पृ. 8।
2. पाणिनिज ग्रैमेटिक, पृ. 11
3. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये ।

— व्या.म.भा., पा.सू. 3.2.111 परवार्तिक

डा० भण्डारकर ने महाभाष्य की रचना का काल 144-142 ई० पू० में माना है । पतंजलि की आयु अनुमानतः 80 वर्ष भी मानी जाए तो इनका समय 200-120 ई० पू० के लगभग सिद्ध होता है । पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पहले तो पुष्यमित्र का अर्थ राजा पुष्यमित्र नहीं माना है । अन्ततोगत्वा ऐसा मानने पर भी पुष्यमित्र तथा पतंजलि का समय 1500 से 2000 ई० पू० के मध्य बताया है ।[1]

रचनाएं :

पाणिनीय व्याकरण पर लिखा "महाभाष्य" आचार्य पतंजलि की प्रख्यात रचना है । समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में पतंजलि को व्याकरणभाष्य के अतिरिक्त चरक का संस्कर्ता और योगव्याख्यानसम्भूत योगदर्शन तथा महानन्दकाव्य का रचयिता कहा है । समुद्रगुप्त लिखते हैं -

विख्योद्रिक्तगुणत्या भूमावमरतां गतः ।
पतंजलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ।।
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम् ।
धर्माविप्रुक्ताश्चरक-योगा रोगमुषः कृताः ।।
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
योगव्याख्यानभूतं तद्रचितं चित्तदोषहम् ।।[2]

मीमांसक जी ने निदानसूत्र और योगदर्शन को किसी प्राचीन पतंजलि की

---

1. विस्तृत विवरण एवं उद्धरणों के लिए द्रष्टव्य -
   क) गोल्डस्टूकर, पाणिनि, पृ. 247-58
   ख) कलेक्टेड वर्क्स आफ डा० भण्डारकर, भाग-1, पृ. 108 से 114
   ग) इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग-2, सन् 1972 पृ. 299 से
   घ) जार्ज कार्डोना, पाणिनि, पृ. 263-66
   ङ) डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलि कालीन भारत, पृ. 57-65
   च) मीमांसक, सं. व्या. शा. इति., भाग-1, पृ. 337-46
2. कृष्णचरितम्, मुनिकविवर्णन

रचनाएं माना है । महानन्दकाव्य भी उन्होंने व्याकरण-महाभाष्यकार से भिन्न की रचना बताया है ।[1] परन्तु डा० सत्यकाम वर्मा का कहना है कि कृष्णचरित का वाक्य स्पष्ट उल्लेख करता है कि भाष्यकार पतंजलि ही योग-दर्शन के प्रणेता भी थे ।[2] सामवेदीय पातंजलशाखा, सिद्धान्तसारावली नामक वैद्यकग्रन्थ, कोश, सेश्वर सांख्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, लोहशास्त्र आदि भी शेष, वासुकि, पतंजलि आदि कर्ता के नाम से उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्राय: सभी विद्वानों ने इन्हें महाभाष्यकारभिन्न की रचनाएं माना है । वस्तुत: योग-दर्शन तथा सेश्वर सांख्यशास्त्र का प्रणेता भाष्यकार पतंजलि को मानने या न मानने से हमारी व्याकरणदर्शन विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। उनका व्याकरण महाभाष्य ही व्याकरणाब्धि के मध्य ऐसा देदीप्यमान दीप-स्तम्भ है जो व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों को प्रकाशित कर हमें महत्त्वपूर्ण जान-कारी उपलब्ध करवाता है ।

दार्शनिक देन :

आचार्य पतंजलि ने कात्यायन के लगभग सभी वार्तिकों का संकलन करके उनकी तथा उनके प्रसंग से अष्टाध्यायी के सूत्रों की सयुक्तिक एवं लोकसंगत व्याख्या की है और अपने पूर्ववर्ती इन दोनों मुनियों की न्यूनता को अपनी इष्टियों द्वारा दूर करने का प्रयास किया है । साथ ही अनेक प्राचीन आचार्यों के मतों तथा सिद्धान्तों का संकलन, उनका प्रसंगत: विस्तृत विवेचन, व्याकरणदर्शन के परिप्रेक्ष्य में बड़ी रोचक शैली में किया है । इस दृष्टि से पातंजल महाभाष्य व्याकरणदर्शन के क्षेत्र में भी एक अनुपम ग्रन्थ है ।[3] भर्तृहरि ने इस ग्रन्थ को संग्रह का प्रतिकंचुक कहा है ।[4] स्पष्ट है कि संग्रह के समान ही महाभाष्य में मुख्यतया शब्दशास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त समाविष्ट हैं ।

1· सं·व्या·शा· इति·, भाग-2, पृ· 337

2· सं·व्या·उ·वि·, पृ· 195

3· डा0 कपिलदेव शास्त्री, परमलघुमंजूषा व्याख्या की भूमिका, पृ·11

4· आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकंचुके । - वा·प·, 2·488

दर्शनमयी शैली :

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि सूत्रात्मक शैली में पाणिनि का मुख्य प्रतिपाद्य व्याकरण का रचनात्मक पक्ष रहा, जबकि इसके विपरीत विस्तारात्मक शैली में व्याडि का मुख्य प्रतिपाद्य व्याकरण का दार्शनिक पक्ष रहा। पतंजलि व्याडि के दर्शन से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने व्याडि की तरह ही विस्तारात्मक परन्तु अत्यन्त मनोहर शैली अपनाकर सूत्रों और वार्तिकों का कुछ ऐसे ढंग से व्याख्यान, अन्वाख्यान एवं प्रत्याख्यान किया है कि उन्होंने व्याकरण के सम्पूर्ण रचनात्मक रूप को पूरी तरह दार्शनिक रंग दे दिया है और साथ ही इसे लोकसंगत बनाने का स्तुत्य एवं सफल प्रयास किया है। महाभाष्य के पहले दो आह्निक तो पूरी तरह व्याकरणदर्शन के निदर्शन हैं।

सर्व-न्याय-बीज-निबन्धन :

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के उपसंहार में महाभाष्यकार पतंजलि को तीर्थ-दर्शी गुरु और उनके महाभाष्य को व्याकरणविषयक सभी न्यायबीजों का निबन्धन बताया है।[1] पुण्यराज ने भी लिखा है कि सभी न्यायबीजों का हेतु होने से ही महत् शब्द से विशेषित होकर यह ग्रन्थ "महाभाष्य" के अभिधान से विभूषित हुआ है।[2] इस प्रकार इन दो वैयाकरणों ने इसे महाभाष्यकार की विशेष उपलब्धि बताया है। भर्तृहरि ने महाभाष्य को संग्रह का प्रतिकंचुक कहकर इसे सभी न्यायबीजों का निबन्धन कहा है, इससे स्पष्ट होता है कि वार्तिकों के अतिरिक्त संग्रह में प्रतिपादित सभी न्यायबीज महाभाष्य में संकलित कर दिए गए हैं और इनके अतिरिक्त भी, कई ही अनेकों न्याय महाभाष्यकार की अपनी मौलिक देन हैं।

---

1. कृतेऽथ पतंजलिनागुरुणा तीर्थदर्शिना।
   सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ।। - वा॰प॰, 2·485
2. सर्वन्याय-बीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।
   - वा॰प॰पुण्यराज, 2·85

त्रिमुनि-दर्शन-निदर्शन :

वस्तुत: व्याकरणदर्शन को महाभाष्यकार की अलग से देन बताना बड़ा कठिन है । उन्होंने जो कुछ कहा है, सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप में कहा है । जिनके मूल, सूत्रों और वार्तिकों में नहीं मिलते, वे भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं । अथवा जहां भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से मतभेद है, वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं । प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं जहां वार्तिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है । व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गयी है और भर्तृहरि ने भी अनेक स्थलों पर वार्तिककार के दर्शन, भाष्यकार के दार्शन और सूत्रकार के दर्शन की अलग-अलग चर्चा की है । "वस्तुत:" सूत्रकार वार्तिककार आदि के मत भी पतंजलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं । अत: सम्पूर्ण व्याकरण-दर्शन महाभाष्य में जहां-तहां बिखरा पड़ा है ।"[1]

शब्द-स्वरूप :

पतंजलि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने ही यद्यपि शब्द स्वरूप और नित्यता-अनित्यता पर पर्याप्त विचार कर लिया था । ध्वन्यात्मक शब्द के अतिरिक्त उसके स्फोटरूप पर भी औदुम्बरायण से लेकर ही विचार बढ़ता रहा । परन्तु औदुम्बरायण, व्याडि आदि की रचनाएं वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं । पाणिनि और कात्यायन की रचनाएं अवश्य उपलब्ध हैं परन्तु उनके सूत्रों और वार्तिकों में कहीं भी शब्दस्वरूप पर स्पष्ट विचार नहीं हुआ है । इन आचार्यों के शब्दस्वरूपविषयक मतों की सूचनाएं मात्र हमें मिलती हैं, वे भी विशेषतया पातंजलमहाभाष्य के ही माध्यम से । शब्द के स्फोटात्मक और ध्वन्यात्मक-द्विविध स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन पहली बार महाभाष्य में ही मिलता है । आचार्य पतंजलि महाभाष्य के प्रारम्भ में ही स्फोटात्मक नित्य शब्द को वास्तविक शब्द मानकर उसका स्वरूप बताते हैं कि "शब्द"

1· सं· व्या· दर्शन, पृ· 14

द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति से भिन्न कोई पृथक् सत्ता है । वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं कि जिसके उच्चरित -- अभिव्यक्त होने पर बोध्य अर्थ का पूरा ज्ञान होता है वह शब्द है । --

"येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः[1] ।" महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में पतंजलि ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए शब्द का लक्षण किया है कि -

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । एकं च पुनराकाशम् ।

जिसकी श्रोत्र से उपलब्धि होती है, जो बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है, जो उच्चारण से अभिव्यक्त होता है और जिसका स्थान आकाश है, वह शब्द है । उसका आश्रय आकाश भी एक है । इस प्रकार स्फोट शब्द ध्वनि से भिन्न है, सूक्ष्म एवं नित्य है और अर्थ का बोधक है ।

स्फोट के अतिरिक्त लोक में प्रचलित ध्वन्यात्मक शब्द का लक्षण करते हुए पतंजलि लिखते हैं -

"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द-इत्युच्यते ।"[2]

लोकव्यवहार में जिससे अर्थ की प्रतीति होती है, वह ध्वनि शब्द कहलाता है ।

"तपरस्तत्कालस्य" (पा॰सू॰1॰1॰70) की व्याख्या में पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट किया है । भाष्यकार कहते हैं कि स्फोट ही वस्तुतः शब्द है । ध्वनि शब्द का गुण है । अर्थात् स्फोट व्यंग्य है जो व्यंजक ध्वनि से अभिव्यक्त होता है । जैसे भेरी बजाने पर भेरी का कोई शब्द 20 कदम तक सुनाई देता है तो कोई 30 कदमों तक और कोई 40 कदमों तक । वहां पर स्फोट उतना ही होता है । लघुता या वृद्धि ध्वनि के कारण

1॰ व्या॰म॰भा॰, आह्निक-1

2॰ व्या॰म॰भा॰, आह्निक-1

होती है ।[1]

यहीं पर पतंजलि निष्कर्षरूप में कहते हैं कि शब्द के दो स्वरूप हैं, एक ध्वनि और दूसरा स्फोट । इनमें से ध्वनि ही छोटे या बड़े रूप में लक्षित होती है । मनुष्यों की व्यक्त वाणी में अर्थबोधक (व्यंग्य) स्फोट और उसकी व्यंजक ध्वनि, दोनों रहते हैं अत: अर्थ का बोध होता है । पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त वाणी में दोनों के रहने पर भी हम केवल ध्वनि का ग्रहण करते हैं, स्फोट का नहीं । अर्थात् वहां ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति में असमर्थ रहती है अत: अर्थबोध नहीं होता ।[2]

इस प्रकार बड़े ही सरल और स्पष्ट शब्दों में पतंजलि ने परम्परा से प्राप्त शब्दस्वरूप को विशिष्ट रूप में प्रतिपादित किया है । आगे चलकर भर्तृहरि, कैयट, नागेश आदि ने विस्तार के साथ इसकी व्याख्या की है ।

शब्द की नित्यता-अनित्यता :

पतंजलि से बहुत पहले से ही शब्दों की नित्यता और कार्यता को लेकर विचारकों में दो दल हो गये थे । भाष्यकार ने 4·4·1 सूत्र के भाष्य में नैत्यशाब्दिक और कार्यशाब्दिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है ।[3] प्रथम आह्निक में भी वह कहते हैं कि संग्रह में परीक्षा की गयी है कि शब्द नित्य है या कार्य है । वहां यह निर्णय है कि शब्द नित्य हो

1· एवं तर्हि स्फोट: शब्द:। ध्वनि: शब्दगुण: । कथम् ? भेर्याघातवत् । तद् यथा भेर्याघात: भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति । कश्चित् त्रिंशत् । कश्चित् चत्वारिंशत् । स्फोटस्तावानेव भवति । ध्वनिकृता वृद्धि: ।
- व्या·म·भा·, 1·1·70

2· ध्वनि: स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावत: ।।
- व्या· म·भा·, 1·1·70

3· भा-शाब्दिक:, नैत्य-शाब्दिक:, कार्य-शाब्दिक: ।
-व्या·म·भा·, 4·4·1

चाहे कार्य हो - दोनों ही मत से व्याकरण लिखा जाना चाहिए ।[1] व्यावहारिक दृष्टि से पतंजलि पाणिनि की भान्ति ही समन्वयवादी हैं । परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह शब्दनित्यता के पक्षपाती हैं । उन्होंने महाभाष्य में स्थान-स्थान पर इस सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया है कि पाणिनि के मत में शब्द नित्य हैं ।[2] भाष्यकार स्वयं भी शब्द को नित्य मानते हैं इसी कारण वह वर्ण को भी कूटस्थ, अविचाली, अपाय, उपजन और विकार से रहित मानते हैं ।[3] आगम (जो पहले नहीं था, अब आया) के कारण शब्द-नित्यता सिद्धान्त पर आक्षेप आता देखकर भाष्यकार ने उस आगम को भी आदेश माना और सम्पूर्ण अनागमक शब्द (स्थानी) के प्रसंग में सागमक शब्द (आदेश) के प्रयोग का सिद्धान्त स्वीकार किया ।[4] पाणिनि का "सर्वे सर्वपदादेशा:" का सिद्धान्त एवं 'स्थानी और आदेश -दोनों प्रकार के शब्द नित्य हैं - इनमें से अमुक स्थिति में अमुक स्थानी की बजाय अमुक आदेश का प्रयोग करना चाहिए' - पाणिनि का यह सिद्धान्त शब्द के नित्यत्व के सिद्धान्त का ज्ञापक है । भाष्यकार की आगम में भी आनुमानिक स्थान्यादेशभाव की कल्पना शब्द-नित्यता की दृष्टि से की गयी नवीन एवम् मौलिक उद्भावना है ।

शब्द-नित्यता तथा उसकी एकता और अनेकता को प्रतिपादित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार एक सूर्य पृथक्-पृथक् स्थानों में एक साथ दिखाई देता है उसी प्रकार एक वर्ण स्थान भेद के कारण भिन्न

---

1. व्या·म·भा·, आह्निक-1, पृ· 33
2. सर्वे सर्वपदादेशा: दाक्षीपुत्रस्य पाणिने: ।
   एक देश-विकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ।। -वही, आ·
3. नैवं शक्यम् । अनित्यत्वमेवं स्यात् । नित्याश्च शब्दा: । नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभि: ।
   -व्या·म·भा·, आह्निक-2
4. तत्र शब्दान्तरात् शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता । आदेशास्तर्हिमे इमे भविष्यन्त्यनागमकानां सागमका: । - व्या·मभा·, 1·1·20

नहीं होता ।[1] शब्द श्रोत्र द्वारा प्राप्त किया जाने वाला, बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाने वाला, ध्वनि द्वारा प्रकाशित होने वाला और आकाश में रहने वाला विशिष्ट तत्त्व है ।[2] आकाश के एक होने से शब्द भीएक है । परन्तु जिस प्रकार आकाश के देश भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार शब्द भी अनेक हैं ।[3] तात्त्विक दृष्टि से एक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से औपाधिकभेद से शब्दभेद है ।[4] शब्द या स्फोट को नित्य मानकर ही भाष्यकार ने अक्षर को "न नष्ट होने वाला" तथा "व्याप्त होने वाला" कहा है ।[5]

वर्ण की यह नित्यता स्फोट-रूप वर्ण को मानकर कही गयी है । क्योंकि वर्ण-स्फोट उत्पन्न नहीं होते बल्कि व्यंजक ध्वनि के उच्चारण से अभिव्यक्त होते हैं । परन्तु ध्वनिरूप वर्ण को भाष्यकार ने भी अनित्य माना है, क्योंकि उसका प्रध्वंस होता है । इसी कारण वाणी एकैकवर्ण-वर्तिनी कही जाती है, क्योंकि वह अग्रिम वर्ण का उच्चारण करते समय प्रथम वर्ण का त्याग कर देती है और वह ध्वन्यात्मक वर्ण प्रध्वस्त हो जाता है ।[6] इस प्रकार भाष्यकार शब्दनित्यता तथा अनित्यता के विषय में भी व्यावहारिक तथा तात्त्विक - दोनों पक्षों में तारतम्य बैठाते हुए चले हैं ।

---

1. व्या॰म॰भा॰, आ॰-2, पृ॰82
2. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । एकं च पुनराकाशम् । - वही, पृ॰82
3. आकाशदेशा अपि बहवः । यावता बहवः, तस्मादान्यभाव्यमकारस्य । - वही, पृ॰83
4. औपाधिकभेदेन भेदो दुर्वारः । - वही, उद्योत पृ॰83
5. अक्षरं न क्षरं विद्यात् । न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम् । अश्नोतेर्वा सरोक्षरम् । - व्या॰म॰भा॰, आ॰-1 पृ॰126
6. व्या॰म॰भा॰, 6॰3॰59 पृ॰339

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता :

"सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार शब्द को भी नित्य, अर्थ को भी नित्य तथा उनके सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं । इस प्रसंग में अर्थ उन्होंने "जाति" माना है, क्योंकि वही नित्य है जबकि द्रव्य अनित्य है ।[1] भाष्यकार ने पद के अर्थ चार माने हैं - गुण, क्रिया, आकृति और द्रव्य ।[2] इनमें से गुण और क्रिया द्रव्य में रहती है, अत: मुख्यरूप से जाति या व्यक्ति में से पदार्थ किसे माना जाए - इस विषय में प्राचीन वैयाकरणों के भिन्न मत थे । भाष्यकार ने इस विषय में व्यावहारिक एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर दोनों को पदार्थ माना है ।[3] कहीं आकृति प्रधान है तो कहीं द्रव्य प्रधान है । शब्द अर्थ और सम्बन्ध की नित्यता के प्रसंग में वह जाति को अर्थ मानते हैं, क्योंकि वह नित्य है ।[4]

नित्यता का लक्षण :

भाष्यकार ने अनेकत्र नित्य का लक्षण यह किया है कि जो ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली तथा विनाश और परिणामरूप विकारों से रहित हो, वह नित्य है । परन्तु यह प्रश्न होने पर कि सोने के पिण्ड की आकृति बदल-बदल कर उससे विभिन्न आभूषण बनाए जाते हैं । आकृति {जाति} बदल जाती है या नष्ट हो जाती है जबकि द्रव्य वैसा ही बना रहता है । अत: इससे तो विपरीत सिद्ध होता है कि आकृति {जाति} अनित्य है । इस पर भाष्यकार कहते हैं कि - नित्य का लक्षण केवल यही नहीं है कि जो

---

1. आकृतिमित्याह । कुत एतत् ? आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् ।
 - व्या॰म॰भा॰, आ॰-1
2. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति: - जातिशब्दा गुणशब्दा: क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था: । - वही, पृ॰108
3. व्या॰म॰भा॰, 1॰2.64
4. व्या॰म॰भा॰, आ॰-1

ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली, विनाश और विकार से रहित हो, उत्पन्न न हो, बढ़े नहीं और नष्ट भी न हो - वही नित्य है । वह भी नित्य कहा जाता है जिसमें उसके तत्त्व (धर्म) का नाश नहीं होता हो । आकृति में भी उसका तत्त्व(धर्म) नष्ट नहीं होता, अतः वह भी नित्य है ।[1]

महान् देव शब्दब्रह्म :

पतंजलि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्दब्रह्म के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । व्याडि और कात्यायन ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को मात्र नित्य बतलाया है । वही उनके शब्दब्रह्म के मन्तव्य को भी सूचित करता है, क्योंकि ऐसी नित्यता तभी संभव है । पतंजलि ने भी उन्हीं की तरह शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को दृढ़ता के साथ नित्य माना है[2] जो उनके शब्दब्रह्मवादी होने की सूचना देता है । प्रथम आह्निक में "चत्वारि श्रृंगा" - की व्याख्या में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द को मनुष्यों में व्याप्त महान् देव अर्थात् परम ब्रह्म बतलाकर उससे सायुज्यप्राप्ति के लिए व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है ।[3] शब्दब्रह्मवेत्ता पतंजलि का यह भाष्यवचन व्याकरणवाङ्मय में पहला वचन है जो साक्षात् शब्दब्रह्म तथा उनकी प्राप्ति हेतु अध्यवसाय करने का प्रतिपादन करता है ।

शब्दार्थ की अभिन्नता :

"स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा" (पा॰सू॰) (1.1.68) की व्याख्या में पतंजलि कहते हैं कि अर्थ दो प्रकार का है - एक शब्दस्वरूप और

---

1. अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम् - ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत्तन्नित्यमिति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते । -व्या॰मभ भा॰, आ॰-1
2. नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः । - वही, आ॰-1
3. महान् देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

-व्या॰म॰भा॰, आह्निक-1

दूसरा बोध्यपदार्थ । शास्त्रीय कार्य "अग्नि" आदि शब्द से होता है जबकि लोक-व्यवहार अग्नि शब्द से प्रतिपाद्य आग आदि वस्तु से सम्पन्न होता है ।[1] परन्तु तात्त्विक दृष्टि से उन्होंने अर्थ को शब्द से अबहिर्भूत अर्थात - अभिन्न माना है ।[2] ऐसा भी उन्होंने अपने शब्दाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से ही कहा है ।

बौद्ध पदार्थ :

इसके अतिरिक्त पतंजलि ने महत्त्वपूर्ण बात कही है कि पदार्थ की सत्ता त्रैकालिक है । अर्थात बौद्ध-पदार्थ तीनो कालों में सत = विद्यमान रहता है ।[3] अभिनेता, चित्रकार, लेखक आदि द्वारा अतीत और भविष्यत पदार्थों का वर्णन वर्तमान में भी सम्भव हो - इसके लिए महाभाष्य में स्थान-स्थान पर बौद्ध-पदार्थों की सत्ता मानी गई है ।

साधु-शब्द-ज्ञान से धर्मलाभ :

पतंजलि से पूर्व कात्यायन ने व्याकरणशास्त्र द्वारा शब्दसाधुत्वज्ञानपूर्वक उसके सम्यक् प्रयोग में पुण्यप्राप्ति बतलाई । पतंजलि ने पहले तो कात्यायन के इस मत के साथ सहमति बताई है । अन्त में साधु-शब्दों के प्रयोग न करने पर भी मात्र संस्कारपूर्वक ज्ञान में भी धर्मप्राप्ति प्रतिपादित की है ।[4]

जाति :

जातिवाद और व्यक्तिवाद पर पाणिनि से पहले ही विचार चल पड़ा था, परन्तु उपलभ्यमान व्याकरण वाङ्मय में जाति के लक्षण पहली बार

---

1. अस्त्यन्यद रूपात स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत ? अर्थः । . . . शब्देनोच्चरितेनार्थो गम्यते ... आदि । -व्या॰म॰भा॰, 1.1.68
2. शब्दस्य शब्दाद बहिर्भूतः । अर्थोऽबहिर्भूतः । - वही, 1.1.6
3. (क) इदं तर्हि प्रयोजनम्, सम्प्रतिसत्तायां यथा स्याद भूतभविष्यत-सत्तायां मा भूत । - वही, 5.2.94
   (ख) त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते । - वही, 3.1.26
4. शब्दस्य ज्ञाने धर्मः,। .....अथवा पुनरस्तु ज्ञाने धर्मः । - वही, आ॰-1

पतंजलि ने किए हैं । महाभाष्य के पस्पशाह्निक में शब्दस्वरूप के प्रसंग में वह लिखते हैं कि जो गौ आदि भिन्न {अनेक} द्रव्यों में अभिन्न और उनके छिन्न होने पर भी अछिन्न रहे, वह सामान्यभूत आकृति {जाति} है ।[1] भर्तृहरि ने इस लक्षण में आकृतिशब्द को जातिपरक कहा है ।[2]

जाति के चार लक्षण :

पाणिनि के "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" सूत्र {4·1·63} के भाष्य में पतंजलि ने निम्न कारिकाओं में जाति के चार लक्षण किए हैं -

> आकृतिग्रहणा जातिर्लिंगानांच न सर्वभाक् ।
> सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ।।
> प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।
> असर्वलिंगां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ।।[3]

पहली कारिका में पतंजलि कहते हैं कि आकृति से जिसका ग्रहण {बोध} हो, अर्थात् अवयवसन्निवेशविशेष के द्वारा जो व्यक्त हो, वह जाति है । यथा-घटत्व, गोत्व आदि ।

ब्राह्मणादि तथा गोत्र और चरणवाची शब्दों से भी व्याकरण के ङीष् आदि कार्य हों - एतदर्थ उन्हें भी इस कारिका में जाति मान लिया है ।

दूसरी कारिका में जाति का तीसरा लक्षण करते हुए कहा है कि द्रव्य के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है वह जाति है । वह अनेक अर्थों में व्याप्त रहती है और असर्वलिंगा है ।

1· यत्तर्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ?
नेत्याह । आकृतिर्नाम सा । - व्या·म·भा·, आह्निक-1

2· आकृतिरिति न तत् संस्थानम् । किं तर्हि । जातिरेव ।
- व्या·म·भा· दीपिका, पृ·3

3· व्या·म·भा·, 4·1·63

व्युत्पत्ति के आधार पर जाति का चौथा लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो जन्म से प्राप्त होती है वह जाति है ।[1] कैयट ने लिखा है कि यहां भाष्यकार का अभिप्राय अयत्नलभ्यता- प्रदर्शनमात्र है । अन्यथा परमाणु आदि नित्य पदार्थों में जनन के अभाव से जातित्व का विरह होगा । अयत्नलभ्य अर्थ सत्ता है जिसमें प्रकर्ष - अपकर्ष नहीं होता ।[2] नागेश ने भाष्यकार के इस लक्षण को अद्वैतदर्शन के अनुकूल माना है । अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म को छोड़कर शेष सब कुछ जन्य है । ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है, अतः उसमें जाति भी नहीं है ।[3] इस प्रकार महाभाष्यकार द्वारा किए जाति के सभी लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं ।

जाति-व्यक्तिवादी :

पाणिनि तथा कात्यायन के समान ही पतंजलि भी जाति और द्रव्य दोनों को पदार्थ मानते हैं । वे कहते हैं कि आकृति और द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता ।[4] उनमें वक्ता की विवक्षा के अनुसार कभी जाति की प्रधानता रहती है और कभी द्रव्य की । वक्ता को प्रधानतया जो विवक्षित होता है, वक्ता को उसी का बोध होता है ।[5] पतंजलि समझाते हैं कि ऐसी बात नहीं है कि आकृति को पदार्थ मानने वाले के लिए द्रव्य पदार्थ न हो और द्रव्यवादी आकृति को पदार्थ न मानता हो । वस्तुतः दोनों के मत में दोनों पदार्थ हैं । अन्तर केवल इतना है कि एक जिसको प्रधान मानता है वह दूसरे को गौण मानता है ।[6] इस प्रकार बड़े मनोहारी ढंग से उन्होंने दोनों वादों का समन्वय किया है । परन्तु द्रव्यवाद-पक्ष में आने वाले

---

1. जननेन या प्रप्यते सा जातिः । -व्या॰म॰भा॰, 5.3.55
2. व्या॰म॰भा॰प्रदीप, 5.3.55 पर
3. व्या॰म॰भा॰ प्रदीपोद्योत - वही तथा मंजूषा, पृ॰464
4. अव्यतिरेकाद् द्रव्याकृत्योः । -व्या॰म॰भा॰, 2.1.51
5. महाभाष्य - 1.2.58 तथा उसका प्रदीप और उद्योत ।
6. न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचित् गुणभूतम् । -व्या॰म॰भा॰, 1.2.64

आक्षेपों का समाधान जो सर्वत्र "आकृतिग्रहणात् सिद्धम्" कहकर करते हैं, उससे सूचित होता है कि कात्यायन की तरह ही पतंजलि का झुकाव जाति को प्रधान मानने के पक्ष की ओर अधिक है ।

काल और कालगुण :

काल को कुछ लोग प्रत्यक्षगम्य मानते हैं तो कुछ अनुमेय । पतंजलि ने काल को सूक्ष्म भावरूप एवं अनुमान से गम्य माना है ।[1] कुछ दार्शनिकों का मत है कि काल केवल दो ही हैं, भूत और भविष्यत् । इन दो के मध्य केवल एक ही क्षण है जिसमें गमनादि क्रिया का होना सम्भव नहीं है, अतः काल विभाजन में वर्तमानकाल नाम का तीसरा विभाग नहीं है ।[2] भर्तृहरि, नागेश आदि द्वारा इस आक्षेप का उत्तर देने से पहले ही पतंजलि ने इस विषय में कहा है कि काल तीन हैं जो योगियों के अनुभव से सिद्ध हैं । वे सूक्ष्म हैं और अनुमानगम्य हैं ।[3] कालविवेचन के अतिरिक्त कालपरिणाम, कालपृथक्त्व, कालविभाग, कालसंयोग आदि वैशेषिकप्रसिद्ध कालगुणों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है ।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पतंजलि का महाभाष्य व्याकरणदर्शन का एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जो स्फोटायन, पाणिनि, व्याडि, वाजप्यायन और कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणों के व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का दिग्दर्शन भी करवाता है तथा पतंजलि की अपनी उपलब्धियों और नवीन उद्भावनाओं का ब्योरा भी प्रस्तुत करता है । बाद के भर्तृहरि, कैयट, नागेशभट्ट आदि वैयाकरणों के लिए भी पतंजलि का महाभाष्य प्रमाण और आदर्श बना है । व्याकरण-दर्शन के विकास के इतिहास में पतंजलि और इनके व्याकरण-महाभाष्य का योगदान महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है ।

-:-:-:-:-

1. सूक्ष्मो हि भावोनुमितेन गम्यः । व्या॰म॰भा॰, 3.2.123
2. महाभाष्यप्रदीप, 3.2.123
3. अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावः सूक्ष्मो हि भावोनुमितेन गम्यः । - वही
4. व्या॰म॰भा॰, 2.2.5, 3.1.26, 3.2.32, 3.1.26

चतुर्थ-अध्याय

भर्तृहरियुग : व्याकरण-दर्शन का पूर्णताकाल

चतुर्थ अध्याय

भर्तृहरि-युग : व्याकरण-दर्शन का पूर्णताकाल

§(क) भर्तृहरि और (ख) उनके व्याख्याकार §

भर्तृहरि : वाक्यपदीय आदि § 450-510 ई0 §

महत्त्व :

महाभाष्यकार पतंजलि के बाद लगभग छः शताब्दियों के अन्तराल के अनन्तर भर्तृहरि एक ऐसे महान् दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा एवं सूक्ष्म दृष्टि से व्याकरणदर्शन को विकास के अत्युच्च शिखर तक पहुंचाया है । वस्तुतः भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन को सार्थकता एवं पूर्णता प्रदान करके इसे दर्शनों की विशिष्ट कोटि में प्रस्थापित ही नहीं किया है अपितु अपने बाद हुए दार्शनिकों की विचारधाराओं को भी न्यूनाधिकरूप से प्रभावित किया है । अनेक ग्रन्थों के कर्ता भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका तथा शब्दधातुसमीक्षा के अतिरिक्त व्याकरणदर्शन को वृत्ति सहित वाक्यपदीय के रूप में एक ऐसा अनमोल ग्रन्थ दिया है जो उपजीव्य तथा प्रतिनिधिग्रन्थ के रूप में इस दर्शन के विचारकों और व्याख्याकारों के लिए निरन्तर आलोडन का विषय और तीर्थस्थल बना हुआ है ।

अनेक भर्तृहरि :

इतिहास में "भर्तृहरि" नाम के निम्न चार महापुरुष विशेषतया चर्चित रहे हैं -

1. शब्दब्रह्मवेत्ता एवं वाक्यपदीय आदि के कर्ता आदि भर्तृहरि,
2. भट्टि-काव्य के रचयिता वैयाकरण कवि भर्तृहरि,
3. अष्टाध्यायी की भागवृत्ति के रचयिता विमलमति "भर्तृहरि" तथा
4. गोरखनाथ के शिष्य राजा भर्तृहरि ।

इनमें से किस काल के कौन से भर्तृहरि ने किस-किस ग्रन्थ की रचना की है, यह विचारणीय है ।

आद्य भर्तृहरि :

चार इतिहास प्रसिद्ध भर्तृहरि नाम के महापुरुषों में से आद्य भर्तृहरि 450-500 ई0 के लगभग हुए हैं ।[1] यही आद्य भर्तृहरि व्याकरण-दर्शन के शब्दब्रह्म, शब्दाद्वैत, शब्दविवर्त, स्फोट आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादक तथा व्याकरण-दर्शन के वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों का रचयिता हुआ है । यह आद्य दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि, इसकी व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी रचनाएं और इसके द्वारा प्रतिपादित व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्त ही प्रस्तुत अध्याय में अध्ययन का विषय हैं, जिनका विवेचन विस्तार से अन्य भर्तृहरियों के संक्षिप्त परिचय के बाद किया जाएगा ।

द्वितीय भर्तृहरि :

दूसरा "भर्तृहरि" नाम का वैयाकरण तथा महाकवि विक्रम की सातवीं शताब्दी में हुआ । इसने व्याकरण के नियमों और उदाहरणों का प्रयोग करते हुए रामकथा पर आश्रित "भट्टि काव्य" नाम का मनोहर एवं प्रख्यात महाकाव्य रचा है । इस काव्य की जयमंगला टीका के रचयिता ने इस काव्य के कवि का नाम श्रीस्वामीपुत्र "भट्टि" लिखा है,[2] जो "भर्तृ" का ही अपभ्रंश है । स्पष्ट है कि इस काव्य का नाम इसके रचयिता भट्टि अर्थात् भर्तृहरि के नाम से ख्यात हुआ है । भट्टिकाव्य की भट्टिचन्द्रिका,[3] भट्टिबोधिनी[4] आदि टीकाओं में भी इस काव्य का रचयिता श्रीधर का पुत्र "भर्तृहरि" बताया गया है ।

---

1. द्रष्टव्य - इसी अध्याय में "भर्तृहरि का समय"
2. लक्ष्यं लक्षणं चोभयत्र प्रदर्शयितुं श्री स्वामीसूनुः कविर्भट्टिनामा रामकथाश्रयनामा रामकथाश्रयमहाकाव्यं चकार ।

   - भट्टिकाव्य की जयमंगला टीका का प्रारम्भ
3. कविना श्रीधरस्वामीसूनुना ... । - भ॰का॰, चन्द्रिकाटीकाकार विद्याविनोद
4. परिवृढयन् भर्तृहरिः काव्यप्रसंगेन । - भट्टिबोधिनीकार हरिहर

भट्टिकाव्य के अन्त में लिखे श्लोक[1] के अनुसार यह भर्तृहरि गुजरात के अन्तर्गत "बलभी" के राजा श्रीधरसेन (तृतीय) के समय विद्यमान था, जिसका राज्यकाल वि0 सं0 660-677 था ।[2]

<u>तृतीय भर्तृहरि :</u>

कातन्त्र परिशिष्ट के कर्ता श्रीपतिदत्त के अनुसार[3] विमलमति नाम के विद्वान् ने अष्टाध्यायी पर भागवृत्ति रची थी । परन्तु सृष्टिधराचार्य ने भाषावृत्ति की व्याख्या में भागवृत्ति के रचयिता का नाम भर्तृहरि लिखा है ।[4] पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने इसकी संगति बैठाते हुए लिखा है कि असाधारण वैदुष्य के कारण विमलमति का ही औपाधिक नाम भर्तृहरि पड़ा । उनके मतानुसार यही "भर्तृहरि" बौद्ध बना था । यह "विमलमति भर्तृहरि" बलभी नरेश श्रीधरसेन चतुर्थ के समय हुआ । इस राजा का राज्यकाल वि0 सं0 701 से 705 तक रहा ।[5]

यहां यह उल्लेखनीय है कि मीमांसक जी ने शरणदेव की "दुर्घटवृत्ति,"[6] मैत्रेयरक्षित-कृत "तन्त्रप्रदीप,"[7] और सीरदेव की परिभाषावृत्ति,[8]

---

1. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।
   -भ·का· का अन्तिम श्लोक
2. भोलाशंकर व्यास, संस्कृत कविदर्शन, भट्टि प्रकरण
3. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपातितः ।-का·परि·, सू· 142
4. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता ।-भा·वृ· विवृति8·1·67
5. सं·व्या·शा·इति· भाग-2, पृ·446
6. गतताच्छील्ये इति भागवृत्तिः । गतविधप्रकारास्तुल्यार्थाः इति भर्तृहरिः ।
   -दुर्घटवृत्ति, पृ· 16
7. भर्तृहरिणा च नित्यार्थतैवास्योक्ता, तथा च भागवृत्तिकारेण प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्- तन्त्र उतम् तन्त्रयुतम् । - तन्त्रप्रदीप, 8·3·11
8. भर्तृहरिणा युक्तम् ···। तत्कथं ज्ञातमिति न व्यक्तीकृतमिति भागवृत्तिकारेणोक्तम् । - सीरदेवीय परिभाषावृत्ति, पृ· 12

भाषावृत्ति[1] आदि के विविध उदाहरणों से सिद्ध किया है कि महाभाष्य-त्रिपदी, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति में आए उदाहरण इन तीनों ग्रन्थों के रचयिताओं को अलग-अलग व्यक्ति सिद्ध करते हैं, अतः ये तीनों कृतियां विभिन्न तीन विद्वानों की रचनाएं हैं । यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने इन तीनों के उद्धरण सर्वत्र पृथक्-पृथक् नामों से उद्धृत किये हैं । उन्होंने कहीं पर भी इन तीनों का सांकर्य नहीं किया है । प्राचीनग्रन्थों में सर्वत्र आद्य भर्तृहरि के वाक्यपदीय, वृत्ति, त्रिपदी के उद्धरण "हरि" या "भर्तृहरि" के नाम से मिलते हैं । भट्टिकाव्य के सभी उद्धरण "भट्टि" नाम से दिये हैं और भागवृत्ति के उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार नाम से दिये गए हैं ।[2]

चतुर्थ भर्तृहरि :

चतुर्थ भर्तृहरि राजा भरथरी के नाम से ख्यात है, जो गुरु गोरखनाथ के शिष्य होने पर विचारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह महासिद्ध और योगी था । इसके सम्बन्ध में विभिन्न गाथाएं, कथाएं एवं जन-श्रुतियां प्रचलित हैं । इसका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी है ।[3] इसकी किसी भी रचना का उल्लेख नहीं मिलता है ।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का जीवनवृत्त :

दार्शनिक वैयाकरण एवं वाक्यपदीय आदि के रचयिता आद्य भर्तृहरि के जन्म स्थान, वंश, जीवन आदि के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है । पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि की सरणि पर चलते हुए इस महान् विभूति को भी अपने विषय में कुछ कहना

1· भाषावृत्ति 2·4·74 में पुरुषोत्तमदेव ने भागवृत्ति का खण्डन करते हुए स्वपक्ष की सिद्धि के लिए भट्टिकाव्य का प्रमाण उपस्थित किया है ।

2· मीमांसक, : सं·व्या·शा· इति· भाग-1, पृ·375

3· जार्ज वेस्टन ब्रिग्स, "गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज," पृ·244

इष्ट नहीं था । तीन अर्वाचीन "भर्तृहरि" नाम के व्यक्तियों के जन्म-स्थान तथा जीवनवृत का पर्याप्त विवरण तो विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । परन्तु व्याकरण-दर्शन को उच्च धरातल पर पहुंचाने वाले महान् दार्शनिक वैयाकरण आद्य भर्तृहरि के वंश, जन्म, निवासस्थान तथा जीवन की विशिष्ट घटनाओं के विषय में अन्य अर्वाचीन ग्रन्थों से भी कोई सहायता नहीं मिलती है, यद्यपि इनके स्थितिकाल के विषय में पर्याप्त प्रमाण विद्वानों ने खोज निकाले हैं । डा० रामसुरेश त्रिपाठी ने "संस्कृत-व्याकरण-दर्शन" प्रबन्ध में लिखा है - "एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चितरूप से सन्दिग्ध है, वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे ।"[1] परन्तु डा० त्रिपाठीनेउस श्लोक को सर्वथा अप्रमाणिक बताकर न तो उद्धृत किया है और न ही यह बताया है कि यह श्लोक कहां का है और किसने लिखा है ।

आठवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करने वाले प्रख्यात चीनी विद्वान इत्सिंग ने लिखा है कि वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि अपने जीवन में बार-बार बौद्ध परिव्राजक और बार-बार गृहस्थ बने । ऐसा उन्होंने सात बार किया ।[2] परन्तु विद्वानों ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के बारे में कहे गये इस कथन को भ्रान्तिजन्य एवम् सर्वथा असत्य कहा है - यह अनन्तर स्पष्ट किया जाएगा ।

गुणी एवं बहुश्रुत विचारक :

वाक्यपदीय आदि रचनाओं के अध्ययन से विदित होता है कि इसके कर्ता भर्तृहरि महान् विचारक, राग-द्वेष से शून्य तथा नितान्त सज्जन महापुरुष थे । उन्हें किसी भी मत या सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था । वे विरोधी मत को भी बड़ी शालीनता के साथ पूरी ईमानदारी से व्यक्त करते

---

1. सं॰व्या॰द॰, पृ॰20

2. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ॰274

थे । भर्तृहरि बहुश्रुत एवं विभिन्न दर्शन-धाराओं के तलस्पर्शी एवं पारंगत विद्वान् थे । इन्होंने मीमांसा, न्याय आदि वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का स्थल-स्थल पर निर्देश किया है और उनके सिद्धान्तों का व्याकरण दर्शन की दृष्टि से विवेचन और परीक्षण किया है । उन्होंने स्वयं लिखा है - "भिन्न-भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है । बुद्धि विशद होती है । केवल अपने तर्क और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है ।[1] जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमान के वशीभूत होकर विद्या-प्राप्ति के लिए वृद्धजनों की उपासना नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप से सफल नहीं होती है ।[2] भर्तृहरि के ये विचार उनकी निरभिमानिता, असाम्प्रदायिकता तथा बड़प्पन के द्योतक हैं । अपने वाक्यपदीय को अनवच्छिन्न पूर्व परम्परा से प्राप्त धरोहर के रूप में माना तथा कहा कि व्याकरण-दर्शन तथा अन्य न्याय-प्रस्थानमार्गों अर्थात् विभिन्न दार्शनिक-सिद्धान्तों का अच्छी प्रकार अभ्यास कर उन्होंने इसकी रचना की है ।[3] वह इतने अधिक सुसंस्कृत, शालीन, गुरुभक्त एवं विनम्रस्वभाव के थे कि अपनी "वाक्यपदीय" नाम की महान् कृति को भी उन्होंने गुरु द्वारा प्रणीत बतलाया ।[4]

भर्तृहरि शब्दब्रह्म और अद्वैत के सिद्धान्तों को मात्र लेखनीबद्ध करने वाले, या मात्र शुष्क तर्कों के बल पर वस्तुओं की सत्ता सिद्ध करने वाले मस्तिष्क के स्वामी नहीं थे, बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवन में इसका अनुभव एवं साक्षात्कार किया था । वह स्वयं ऋषिकल्प थे । उनका दर्शन रागद्वेष से रहित, अनुपप्लुतचेतस् एवं आविर्भूतप्रकाश की अन्तर्दृष्टि एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार का फल है । इस पर सर्वथा निरभिमानी, सरल, उदार एवं

1· प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
किय‌द्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ।। - वा·प·, 2·484

2· तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना ।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ।। -वा·प·, 2·485

3· न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् । वा·प·, 2·482 पूर्वार्ध

4· प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः । - वा·प·, 2·482 उत्तरार्ध

गुणग्राही । अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् भर्तृहरि के ऐसे गुणों के कारण ही उद्गार प्रकट किये हैं - "प्राय: देखा जाता है कि संसार में जनता लोक-प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है । ऐसा विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से या उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है । जैसे कि जब कहा जाता है कि यह उसी भर्तृहरि का श्लोकप्रबन्ध है, जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी, जिसका इस शास्त्र में ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है ।"[1]

क्या वाक्यपदीयकार भर्तृहरि बौद्ध थे ?

प्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने अपने भारत यात्रा-वृतान्त में लिखा है कि "वाक्यपदीय और महाभाष्य-व्याख्या का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था । उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी ।"[2] इत्सिंग के इस उल्लेख ने इस विवाद को जन्म दिया कि वाक्यपदीय और महाभाष्यत्रिपदी आदि के कर्ता भर्तृहरि क्या सचमुच बौद्ध थे तथा बार-बार बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर प्रव्रज्या लेते रहे ? मैक्समूलर ने इत्सिंग के उक्त वचन का विवेचन करते हुए भर्तृहरि को विज्ञानमात्र सम्प्रदाय का बौद्ध माना है ।[3] तदनन्तर वाक्यपदीय में बौद्धदर्शन के बीज एवं प्रमाण ढूंढकर के0 बी0 पाठक[4] आदि कुछ विद्वानों ने वाक्यपदीयकार को बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया । परन्तु इस पक्ष के विपरीत वी0ए0 रामस्वामी[5],

---

1. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ. 553 चौखम्बा संस्करण
2. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ. 274
3. "इत्सिंग की भारत यात्रा" पुस्तक की प्रस्तावना में उद्धृत मैक्समूलर का तककुसू के नाम पत्र ।
4. जर्नल आफ बाम्बे, ब्रांच रिसर्च एशियाटिक सोसाइटी, भाग-18
5. अष्टम अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस, मैसूर 1935, सेशन 8 पृ. 254

चारूदेव शास्त्री,[1] डा० के० माधव शर्मा,[2] पं० युधिष्ठिर मीमांसक[3] आदि ने यह सिद्ध किया है कि भर्तृहरि बौद्ध नहीं थे बल्कि वह वैदिक थे ।

चीनी यात्री इत्सिंग ने पुनः लिखा है - "उस ४भर्तृहरि४ की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए ।"[4] इतिहासकारों के मतानुसार इत्सिंग ने भारत-यात्रा वृतान्त वि० सम्वत 749 के लगभग लिखा था । उससे 40 वर्ष पूर्व बतायी गयी भर्तृहरि की मृत्यु सम्वत 708-709 में माननी होगी । जबकि यह सुदृढ़ प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका आद्य भर्तृहरि ने वि० सम्वत 500 से पूर्व रचे हैं ।[5] अतः इत्सिंग द्वारा वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि की मृत्यु चालीस वर्ष पूर्व४वि० सं० 708-9 में४कहना सर्वथा असत्य है । फिर उन्होंने ऐसा क्यों कहा - इस विषय में विद्वानों का अनुमान है कि जिस भर्तृहरि नाम के बौद्ध वैयाकरण की मृत्यु के विषय में इत्सिंग ने सुना था वह वाक्यपदीयकार भर्तृहरि से भिन्न और अर्वाचीन था । वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि 400-450 ई० के बाद गुजरात के अन्तर्गत "बलभी" के राजा श्रीधरसेन तृतीय और श्रीधरसेन चतुर्थ के समय में दो वैयाकरण भर्तृहरि हुए ।[6] उनमें से श्रीधरसेन चतुर्थ के समय हुआ "विमलमति" नामक बौद्ध विद्वान् व्याकरण के वैदुष्य के कारण "भर्तृहरि" के औपाधिक नाम से विख्यात हुआ था ।[7] पं० युधिष्ठिर मीमांसक के विवेचन[8] के अनुसार इत्सिंग की भारत-यात्रा से विदित होता है कि इस चीनी विद्वान् ने न तो वाक्यपदीय को स्वयं पढ़ा था और न ही वह स्वयं बलभी गया था । अतः उसने बलभीनिवासी

1· वाक्यपदीय लाहौर संस्करण की श्रीचारूदेव शास्त्रिलिखित भूमिका पृ· 2
2· "भर्तृहरि नाट बुद्धिस्ट", द पूना आरियण्टलिस्ट, अप्रैल 1940
3· सं·व्या·शा·इति· भाग-1, सं·3, पृ·360
4· इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ· 275
5· द्रष्टव्य - इसी अध्याय में भर्तृहरि का समय तथा रचनाएं प्रकरण
6· द्र० - इसी शोधप्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय में "अनेक भर्तृहरि"प्रकरण
7· द्र० - वही, "तृतीय भर्तृहरि" प्रकरण
8· सं·व्या·शा·इति· भाग-1, पृ·374

बौद्ध एवं प्रख्यात वैयाकरण विमलमति "भर्तृहरि" की मृत्यु की बात सुनकर इसे ही भ्रान्तिवश वाक्यपदीयकार भर्तृहरि समझ लिया । इस कारण इत्सिंग ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को ही बौद्ध कह दिया तथा उसकी मृत्यु यात्रा-वृतान्त लिखने से चालीस वर्ष पूर्व हुई लिख दी । वस्तुत: वाक्यपदीय और महाभाष्य में ऐसा कोई भी प्रमाणनहीं मिलता है जिससे इन ग्रन्थों के कर्ता भर्तृहरि का बौद्धमतानुयायी होना सिद्ध होता हो । इत्सिंग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि द्वारा बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने या प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख नहीं मिलता है । अत: निस्सन्देह वाक्यपदीयकार भर्तृहरि बौद्ध नहीं थे ।

वैदिक मतानुयायी :

वाक्यपदीय ग्रन्थ के अनुशीलन से विदित होता है कि वाक्यपदीय और महाभाष्यत्रिपदी आदि के रचयिता महान् दार्शनिक वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि वैदिक धर्म के अनुयायी थे। इस पक्ष को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण संक्षेप में इस प्रकार है -

1• वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि शब्दब्रह्म अक्षर और अनादिनिधन, अर्थात् नित्य है । समस्त संसार उसका विवर्त है ।[1] वह एक है परन्तु उसकी अपनी विभिन्न शक्तियों से वह भिन्न प्रतीत होता है ।[2] भोक्ता, भोक्तव्य और भोग के रूप में वही स्थित है ।[3] भर्तृहरि के ये विचार विशुद्ध वेदों पर आधारित हैं[4] तथा बौद्ध-दर्शन के प्रतिकूल है ।

2• वाक्यपदीय में "वेद" को शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय कहा गया है[5]।[4]

1• अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।। - वा•प•, 1•1•

2• एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात ।। - वा•प•, 1•2

3• भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थिति: ।। - वा•प•, 1•4

4• "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" "एकमेवाद्वितीयम्" - इत्यादि श्रुतिवचन

5• प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभि: । - वा•प•, 1•5

3. बहुविध स्मृतियों को वेदमूलक कहा है ।[1]

4. सभी आगमों का मूल त्रयी (तीन वेदों) को माना है ।[2]

5. व्याकरण को वेद का मुख्य अंग कहा है ।[3]

6. कहा है कि वैयाकरण वेद को ग्रहण करने में समर्थ होता है तथा वह वेदों की छन्दोमयी सूक्ष्म एवं विशुद्ध तनु को देख लेता है ।[4]

7. वेद और शास्त्र से विरोध न रखने वाले तर्क को ही चक्षु कहा है ।[5]

8. संसार को वेदों का विवर्त माना है ।[6]

9. आत्मा को नित्य प्रतिपादित किया है ।[7]

10. व्याकरण के शब्दसंस्कार को परमात्मा की सिद्धि में उपयुक्त माना है ।[8]

उक्त प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध होता है कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि वैदिक धर्म के अनुयायी थे । इनके वाक्यपदीय में कहीं भी इन्हें बौद्ध धर्म का मतानुयायी प्रमाणित करने वाले प्रबल प्रमाण नहीं मिलते हैं । शब्द-दर्शन सम्बन्धी बौद्ध-दर्शनसम्मत मतों का उल्लेख यदि कहीं मिलता है तो उतने मात्र से ही भर्तृहरि को बौद्ध धर्मानुयायी तथा वेदबाह्य नहीं कहा जा सकता है, जबकि उन्हें वैदिक मतानुयायी सिद्ध करने के निस्सन्दिग्ध प्रमाण उपलब्ध हैं ।

---

1. स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
   तमेवाश्रित्य लिंगेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ।। - वा.प., 1.7
2. बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता । - वही, 1.133
3. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
   प्रथमं छन्दसामंगं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।। - वही, 1.11
4. अप्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ।
   छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ।। - वही, 1.17
5. वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् । - वही, 1.136
6. छन्दोभ्यः एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत । - वही, 1.120
7. आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि ।
   द्रव्यमित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ।। - वही,
8. तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः । - वही,

गुरू वसुरात :

भर्तृहरि ने संग्रह एवं महाभाष्य की व्याकरणदर्शन की लुप्त परम्परा को अपने गुरु वसुरात से प्राप्त करके वाक्यपदीयग्रन्थ की रचना की है। इस पर उन्होंने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में सात कारिकाओं में प्रकाश डाला है। इन कारिकाओं से विदित होता है कि संक्षेप में ही रुचि रखने वाले और अल्पविद्या से ही सन्तुष्ट होने वाले वैयाकरणों को पाकर व्याडिरचित विशाल संग्रहग्रन्थ पढ़ा न जाने के कारण कुछ समय बाद लुप्त हो गया।[1] ऐसी स्थिति में प्रकाण्डपण्डित भगवान् पतंजलि ने महाभाष्य की रचना की जिसमें संग्रह के समस्त सिद्धान्तों को शामिल कर लिया।[2] परन्तु पतंजलि की यह कृति मनोरम होते हुए भी इतनी अथाह एवं गम्भीर है कि अकुशल विद्वान उसके स्वरूप एवं सिद्धान्तों का निश्चय ही नहीं कर पाए। वैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि ने व्याकरणागम के रहस्य को न समझकर केवल शुष्क तर्क द्वारा संग्रह के संक्षेपभूत इस आर्ष ग्रन्थ की छीछालेदर कर डाली।[3] इस प्रकार पतंजलि के शिष्यों से व्याकरणागम भ्रष्ट होकर चिरकाल तक लुप्तप्राय: रहा। केवल दाक्षिणात्यों के पास ही मूलप्रति के रूप में ही मिल पाता था।[4] फिर भाष्य के सही अर्थ जानने के उत्सुक चन्द्राचार्य आदि ने पर्वत से उस मूलभूत व्याकरणागम को प्राप्त

---

1. प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।
   संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ।। -वा॰प॰, 2·476

2. कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
   सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ।। - वही, 2·477

3. अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात ।
   तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चय: ।। - वही, 2·478

4. वैजिसौभवहर्यक्षै: शुष्कतर्कानुसारिभि: ।
   आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकंचुके ।। - वही, 2·479

4. य: पतंजलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागम: ।
   काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थित: ।। -वही, 2·480

किया और उसे विशद बनाया ।[1] यहां पर व्याख्या करते हुए पुण्यराज ने लिखा है कि त्रिकूट पर्वत पर स्थित त्रिलिंग देश से रावण नाम के एक विद्वान् द्वारा पाषाण पर लिखा व्याकरणागम है, उसे किसी ब्रह्मराक्षस ने लाकर चन्द्राचार्य वसुरात आदि को दिया । उन्होंने उस व्याकरणागम से व्याकरण के वास्तविक स्वरूप को जानकर शिष्यों के हित के लिए उसकी अपने-अपने प्रयासों से व्याख्या की और उसे विस्तृत किया ।[2]

उससे आगे इस प्रकरण की अन्तिम कारिका में भर्तृहरि ने लिखा है कि उनके गुरु (वसुरात) ने विभिन्न दर्शनपद्धतियों का और अपने व्याकरण-दर्शन का अच्छी प्रकार ज्ञान कराने के पश्चात् यह व्याकरणागम संग्रह उन (भर्तृहरि) तक पहुंचाया ।[3] इस कारिका की व्याख्या में पुण्यराज ने लिखा है कि भर्तृहरि का स्वरचित यह ग्रन्थ गुरु वसुरात द्वारा उपदिष्ट पारम्परिक व्याकरणागम पर आधारित है - इस आशय से उन्होंने ऐसा कहा है तथा अपने गुरु के प्रति बहुत सम्मान प्रकट किया है ।[4] द्वितीय काण्ड की निष्कृष्टार्थ कारिका संख्या 54 तथा 55 पर[5] भी पुण्यराज ने लिखा है कि वसुरात ने

---

1. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
   स नीतो बहुमार्गत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ।। -वा॰प॰, 2.481

2. पर्वतस्त्रिकूटैकदेशवर्तित्रिलिंगकदेशादिति । तत्र ह्युपतले रावणविरचितो मूल-भूतव्याकरणागमस्तिष्ठति । केनचिच्च ब्रह्मरक्षसानीय चन्द्राचार्य-वसुरात-गुरुप्रभृतीनां दत्त इति । ते खलु यथावद् व्याकरणस्य स्वरूपं तत उपलभ्य सततं च शिष्याणां व्याख्याय बहुशाखत्वं नीतो विस्तारं प्रापित इत्यनुश्रूयते ।
   -वा॰प॰, 2.481 पर पुण्यराज

3. न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
   प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ।। - वा॰प॰, 2.482

4. स्वरचितस्यास्य गुरुपूर्वकमभिधातुमाह न्यायप्रस्थानमार्गांस्तान् ...।
   मया तु तदनुच्छेदायायमुपनिबन्धः कृत इत्यात्मनो बहुमानः प्रकटितः ।
   -वा॰प॰, 2.482 पर हेलाराज

5. प्रणीतो विविधच्छायं मम व्याकरणागमः ।
   मयापि गुरुनिर्दिष्टाद् भाष्यान्न्यायाविलुप्तये ।। 54 ।।
   काण्डत्रयक्रमेणायं निबन्धः परिकीर्तितः ।
   ग्रन्थकारेण ग्रन्थेऽस्मिन् स्वस्मिन्गुर्वागमः स्फुटम् ।। 55 ।।

परम्पराओं को एक ग्रन्थ में अपने शिष्य भर्तृहरि के लिए एक साथ संगृहीत किया और उसके आधार पर अपने स्वयं के ग्रन्थ को लिखने का निर्देश उसे (भर्तृहरि को) दिया । यद्यपि वसुरात का ग्रन्थ पृथक् से उपलब्ध नहीं होता है और जैनाचार्य मल्लवादिक्षमाश्रमण के वसुरात के कुछ मतों के उल्लेख[1] के अतिरिक्त उनके ग्रन्थ या वचनों का अन्यत्र भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि व्याकरण-दर्शन की परम्परा में आचार्य वसुरात की यह महत्वपूर्ण देन है जो उन्होंने चिरकाल से लुप्त मूलभूत व्याकरणागम को बड़े प्रयास से प्राप्त किया, उसे अपने चिन्तन से विशद करके शिष्यों में प्रचारित किया, विशेषतया अपने प्रतिभाशाली शिष्य भर्तृहरि को अन्य विशिष्ट दर्शन-मार्गों सहित प्राप्त करवाकर इस पर ग्रन्थ रचने की प्रेरणा दी । सचमुच वसुरात जैसे गुरु के प्रयासों से ही हमें भर्तृहरि के रूप में एक ऐसी विभूति उपलब्ध हुई जिसने वाक्यपदीय जैसी अनुपम कृति से न केवल व्याकरण-दर्शन अपितु समस्त संस्कृत-वाङ्मयार्णव की श्री में वृद्धि की है ।

समय :

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के समय के विषय में स्पष्ट उल्लेखमात्र चीनी-यात्री इत्सिंग का मिलता है जो सही नहीं है । इत्सिंग अपने भारत यात्रा वृतान्त में लिखता है कि "हमारे भारत पहुंचने के 40 वर्ष पूर्व भर्तृहरि नाम के एक विद्वान् की मृत्यु हो गई थी जो व्याकरणशास्त्र की अन्तिम मौलिक कृति वाक्यपदीय का लेखक था ।"[2] इत्सिंग ने यह यात्रावर्णन वि०सं० 749 (692 ई०) में लिखा था अत: तदनुसार भर्तृहरि की मृत्यु वि० सं० 708 (651 ई०) वर्ष में सूचित होती है । बहुत समय तक विद्वान् इत्सिंग के इस उल्लेख पर ही विश्वासकर सन्तुष्ट रहे ।[3] परन्तु बाद के विद्वान् लीविच,

---

1· एवं तावद् भर्तृहर्यादिदर्शनमयुक्तम् । यत्तु वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्याय: स च स्वरूपानुगतमर्थमविभागेन सन्निवेशयति । -द्वादशारनयचक्र, पृ· 800

2· इत्सिंग की भारत यात्रा, सन्तराम बी·ए· द्वारा अनुदित, पृ· 274-75

3· यथा -दासगुप्त -"ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर" पृ· 161,
कीथ - "सं·सा·का इति·" डा· मंगलदेव शास्त्री द्वारा अनुदित, पृष्ठ 539

कुन्हन राजा, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, साधुराम आदि ने इस मत को अस्वीकार किया है । इत्सिंग ने भर्तृहरि के बौद्ध होने की तथा उस द्वारा सात बार भिक्षु बनने और सात बार वापिस गृहस्थ में आने की बात लिखी है।[1] परन्तु उनके वाक्यपदीय तथा महाभाष्यत्रिपदी की दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर कोई भी समीक्षक भर्तृहरि को वेदबाह्य नहीं कह सकता । इत्सिंग के यात्रावर्णन से अवगत होता है कि वाक्यपदीयग्रन्थ को उसने स्वयं नहीं पढ़ा था । अतः मीमांसक आदि उक्त विद्वानों ने सम्भावना व्यक्त की है कि इत्सिंग ने जनश्रुति के आधार पर ही किसी अन्य व्याकरण आदि के ज्ञाता बौद्ध भर्तृहरि के चालीस वर्ष पूर्व मरने की बात सुनी और उन्होंने भ्रान्ति से उसे ही वाक्यपदीयकार भर्तृहरि समझ लिया होगा । विद्वानों ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के इत्सिंग की भारत यात्रा से कई शताब्दी पूर्व होने में जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं उनमें से प्रमुख साक्ष्य इस प्रकार हैं -

1· ई0 623-644 के मध्य रची काशिका के 4·3·88 सूत्र के उदाहरण में वाक्यपदीयग्रन्थ का उल्लेख किया गया है ।[2]

2· काशिका से भी प्राचीन दुर्गसिंह रचित कातन्त्रवृत्ति में दुर्गसिंह ने वाक्यपदीय की एक कारिका कातन्त्र सूत्र 1·1·9 पर तथा एक कारिका 3·2·41 पर यथावत् उद्धृत की है ।[3] इससे सिद्ध होता है कि भर्तृहरि 600 ई0 से पूर्ववर्ती हैं ।

3· भर्तृहरि ने चन्द्राचार्य आदि द्वारा भ्रष्ट हुए महाभाष्य के उद्धार की बात लिखी है ।[4] कल्हण ने चन्द्राचार्य को महाराज अभिमन्यु का समकालीन

1· इत्सिंग की भारतयात्रा, पृ· 277

2· शब्दार्थ-सम्बन्धीयं प्रकरणं वाक्यपदीयम् । -काशिका, 4·3·88

3· यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ।। - वा·, 3·8·1
क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति । -
सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्मेति तद्विदुः ।। - वाक्यपदीय

4· वा·प· 2·487 {इसी प्रकरण की पहली पादटिप्पणी देखें}

माना है,[1] जो चौथीशती ई0 में हुए हैं ।[2] इस दृष्टि से चन्द्राचार्य का समय 400 ई0 से पूर्व निश्चित होता है । अतः भर्तृहरि चन्द्राचार्य के बाद 400 ई0 से उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं । "चन्द्राचार्यादिभिः" शब्द से चन्द्राचार्य वसुरात भर्तृहरि आदि की परम्परा को देखते हुए भर्तृहरि का समय 500 ई0 (557 वि0 सं0) के लगभग बैठता है ।

4· दिङ्·नाग के प्रमाण-समुच्चय (संस्कृत) तथा त्रैकाल्यपरीक्षा (तिब्बती-अनुवाद) के आधार पर एच·आर· अयंगर और फ्रावालनर ने यह दिखाया है कि दिङ्·नाग ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय के द्वितीय और तृतीय काण्डों की कारिकाओं का उपयोग किया है । फ्रावालनर ने कालक्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

वसुरात - 430-490 ई0
भर्तृहरि - 450-510 ई0
दिङ्·नाग-480-540 ई0

बलदेव उपाध्याय ने दिङ्·नाग के काल को देखते हुए भर्तृहरि का समय 400-450 ई0 के मध्य निर्धारित किया है[3] जो अधिक उचित है । क्योंकि दिङ्·नाग की प्रारम्भिक सीमा 480 ई0 बताकर उसके पूर्ववर्ती भर्तृहरि के समय की अन्तिम सीमा 510 कहना अनुचित है । भर्तृहरि के वाक्यपदीय की ख्याति तथा दिङ्·नाग द्वारा उसकी कारिकाओं का उपयोग करने में भी कुछ तो समय लगा होगा । अतः बलदेव उपाध्याय द्वारा बताई भर्तृहरि काल की नीचली सीमा उचित है जबकि इसकी पूर्व सीमा अनेक प्रमाण देते हुए पं0 साधुराम एम·ए· ने अपने शोधपत्र में[4] ईसा की तृतीय शती दर्शायी है ।[5]

1· राजतरंगिणी, 1·175

2· सत्यकाम वर्मा - सं·व्या·उ·वि·, पृ·223

3· बलदेव उपाध्याय, सम्पूर्णानन्द सं· वि·वि· बनारस द्वारा प्रकाशित वाक्यपदीय भाग-2 की संस्कृत-भूमिका, पृ· ड·-च·

4· "भर्तृहरिज डेट" जे जी आर इंस्टीटयूट, भाग-15 अंक 2-4

इस प्रकार फ्रावालनर और बलदेव उपाध्याय के निष्कर्षों को देखते हुए भर्तृहरि का समय 400 से 500 ई0 के मध्य निश्चित होता है ।[1]

आद्य भर्तृहरि की रचनाएं : {कर्तृत्व-निर्णय}

दार्शनिक वैयाकरण आद्य भर्तृहरि की निम्न उपलब्ध और अनुपलब्ध रचनाएं प्रसिद्ध हैं -

1· वाक्यपदीय त्रिकाण्डी
2· वाक्यपदीय - की स्वोपज्ञवृत्ति, काण्ड 1,2 पर
3· महाभाष्यटीका {दीपिका/त्रिपदी}
4· शब्दधातु समीक्षा {अनुपलब्ध}
5· शतकत्रय -{नीति, श्रृंगार और वैराग्य}
6· मीमांसासूत्रवृत्ति {कुछ अंश उपलब्ध}
7· धातुसमीक्षा {केवल कुछ श्लोक उपलब्ध}

इनमें से पहली चार रचनाएं प्रमाणितरूप से आद्य भर्तृहरि द्वारा रचित हैं, जबकि अन्तिम तीन भी इसी भर्तृहरि द्वारा रची मानी जाती हैं,

---

1· भर्तृहरि की तिथि के विशेषाध्ययन के लिए द्रष्टव्य हैं -

क{ एच·आर·रंगास्वामी अयंगर -"भर्तृहरि एण्ड दिङ्·नाग" JBBRAS, NS-26, 1951

ख{ फ्रावालनर -दिङ्·नाग, Seine Werk and Seine Entwichlung, WZKSO,3,59, पृ·1983 से आगे, लेण्डमार्क्स इन दी हिस्ट्री आफ इण्डियन लोजिक, WZKSO, 5वां 1961 पृ· 125

ग{ डा· कुन्हन राजा - "इत्सिंग एण्ड भर्तृहरिज वाक्यपदीय" डा· कृष्णास्वामी अयंगर कोमेमोरेशन वोल्यूम, पृ·285, 1936

घ{ डा· के· माधव शर्मा -"भर्तृहरि नाट बुद्धिस्ट", दि पूना आरियण्टलिस्ट, अप्रैल, 1940

ङ·{प्रो· साधुराम - "भर्तृहरिज डेट" जेजीआर, इन्स्टीच्यूट, 9वां,पृ·136से

च{मीमांसक, सं·व्या·शा·इति·, भाग-1, पृ·361

परन्तु इन्हें प्रामाणिक तथा अन्तिम रूप से वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि द्वारा रचित स्वीकार करने के लिए अभी पुष्ट एवं प्रबलतर प्रमाण अपेक्षित हैं। भर्तृहरि की इन कृतियों का कर्तृत्व इस प्रकार है -

वाक्यपदीय :

काशिका (623-644 ई0) में सूत्र 4.3.88 की वृत्ति के उदाहरण में "वाक्यपदीय" ग्रन्थ के उल्लेख से तथा दिङ्.नाग (480-540 ई0) द्वारा अपने ग्रन्थों में दिये गये वाक्यपदीय के उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि वाक्यपदीय की रचना 450 ई0 से पूर्व आद्य भर्तृहरि ने की है।[1] यह ग्रन्थ व्याकरणदर्शन निकाय का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधिग्रन्थ है, अतः प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सन्दर्भ में इसका परिचय अगले पृष्ठों में विशेषरूप से तथा विस्तार से दिया जाएगा।

वाक्यपदीय-वृत्ति :

आद्य भर्तृहरि ने अपने कारिकाबद्ध वाक्यपदीय पर वृत्ति भी रची है जो प्रारम्भिक दो काण्डों पर ही उपलब्ध होती है। पुण्यराज के अनुसार यह टीका स्वयं ग्रन्थकार (भर्तृहरि) ने ही लिखी है।[2] इसका एक प्रामाणिक संस्करण चारुदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया था। वर्तमान में प्रकाशित इस वृत्ति के अन्त की पुष्पिका में इसके रचयिता का नाम हरिवृषभ लिखा मिलता है।[3] पं0 चारुदेव शास्त्री के अनुसार यह पुष्पिका कारिका और वृत्ति - दोनों भाग के अन्त में लिखी होने के कारण दोनों को मिलाकर

---

1. दिङ्.नाग तथा आद्य भर्तृहरि के समय के लिए द्रष्टव्य है - इसी शोधप्रबन्ध के प्रकृत अध्याय में भर्तृहरि का "समय" प्रकरण।
2. ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। - पुण्यराजटीका, लाहौर सं., पृ.46
3. इति श्रीहरिवृषभमहावैयाकरणविरचिते वाक्यपदीये आगमसमुच्चयोनाम ब्रह्मकाण्डं समाप्तम्।

- वा.प., काशी सं.सं.वि.वि.संस्करण 1963

वाक्यपदीय की संज्ञा देती है तथा "हरिवृषभ" को कारिका तथा वृत्ति दोनों का कर्ता बताती है। शास्त्री जी के अनुसार हरिवृषभ भर्तृहरि का ही नाम है, केवल आदरसूचक वृषभ शब्द साथ जोड़ दिया गया है। इसी कारण कारिकाओं की पाण्डुलिपियों में से एक पुष्पिका इस प्रकार है - "इति श्रीमद्भागवद्भर्तृहरिवृषभमहावैयाकरणविरचिते ....।"[1] स्पष्ट है कि हरिवृषभ और भर्तृहरिवृषभ एक ही व्यक्ति का नाम है जो कारिका और वृत्ति - दोनों का रचयिता है।

फ्रांसीसी विदुषी डा० एम· बियार्दो ने भर्तृहरि को केवल कारिकामय वाक्यपदीय का कर्ता बताया है। उन्होंने वृत्ति का रचयिता "हरिवृषभ" वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि से भिन्न तथा काफी अर्वाचीन माना है। परन्तु डा० के·ए· सुब्रह्मण्य अय्यर ने डा· बियार्दो के साक्ष्यों को अपर्याप्त बताते हुए वाक्यपदीय की कारिकाओं को रचने वाले भर्तृहरि को ही वृत्ति का रचयिता भी प्रतिपादित किया है। उन्होंने इस पक्ष में प्रमाणों की श्रृंखला देते हुए प्राचीन और नवीन विद्वानों के मतों का उल्लेख किया है।[2]

महाभाष्यटीका :

भर्तृहरि ने महाभाष्य पर एक प्रामाणिक टीका रची है जो उपलब्ध हस्तलेखों तथा प्रकाशित ग्रन्थों में केवल महाभाष्य के सातवें आह्निक में डिच्च सूत्र (पा·सू·1·1·53) तक ही उपलब्ध है। पुष्पिकाओं में इस टीका का नाम भर्तृहरि टीका, महाभाष्यटीका, महाभाष्यदीपिका - विभिन्नरूप में आया है। गणरत्न महोदधि के कर्ता वर्धमानसूरि के उल्लेख के अनुसार इस टीका का नाम महाभाष्य त्रिपदी है तथा इसके कर्ता वाक्य-

---

1· पाण्डुलिपि 5026 = बर्नेल, 307 इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन। द्रष्टव्य W Wilhelm Rau Vber Sechs Handschriften des Vakyapadiya, Ariyana, Vol 15, P.386-88

2·द्र·-डा० के·ए· अय्यर, भर्तृहरि का वाक्यपदीय, पृ· 17 से 36·

वाक्यपदीयकार (आद्य) भर्तृहरि ही हैं ।[1]

शब्दधातु-समीक्षा :

व्याकरण-दर्शन पर 'शब्द-धातु-समीक्षा' नाम का ग्रन्थ भी आद्य भर्तृहरि ने रचा है । यद्यपि यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है - तथापि कश्मीरी लेखक सोमानन्द ने भर्तृहरि को सम्बोधित करके कहा है -"आपने न केवल वाक्यपदीय में, अपितु शब्दधातु-समीक्षा में भी ऐसा ही किया है ।"[2] उत्पलाचार्य ने शब्दधातु-समीक्षा के दो श्लोकों को अपनी शिवदृष्टि की टीका में उद्धृत किया है ।[3]

धातु-समीक्षा :

भर्तृहरि के वृत्तिसहित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की हिन्दीटीका "विवरण" के लेखक डा० शिवशंकर अवस्थी ने एकदम नयी बात कही है - " ...उन्होंने (वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने) वेदान्त पर एक प्रकरण ग्रन्थ अवश्य लिखा था, जिसका पता केवल मुझे अभी लगा है । इसका नाम है "धातुसमीक्षा" जो "शब्दधातुसमीक्षा" से भिन्न है ।"[4] डा० अवस्थी का तर्क है कि कश्मीरी विद्वान् सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि में "समीक्षा" ग्रन्थ का उल्लेख किया है[5] और उदयाकरपुत्र उत्पलदेव ने इसकी व्याख्या करते हुए समीक्षा का अर्थ भर्तृहरिकृत "शब्दधातुसमीक्षा" लिखा है तथा इस ग्रन्थ की दो कारिकाएं भी उद्धृत की हैं ।[6] डा० अवस्थी ने माना है कि यह ग्रन्थ व्याकरण -

1. भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च ।
   - ग॰र॰महो॰, पृ॰2।
2. शिवदृष्टि, 2॰ पृ॰72-73
3. शिवदृष्टि, 2॰ पृ॰72-73 पर उत्पलकृत टीका
4. वा॰प॰, ब्रह्मकाण्ड, विवरण, चौखम्बा विद्याभवन, संस्करण 1990, भूमिका पृ॰
5. विज्ञानाभासनं यावत् समीक्षायामुदाहृतम् । -शिवदृष्टि, आ॰-2,श्लो॰73
6. न केवलं चात्रैव पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एवमुक्तो यावत् शब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा -

   दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते ।
   अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते ।। -शेष अगले पृष्ठ पर

दर्शन विषय से सम्बन्धित है । वह कहते हैं कि दूसरी ओर तत्वप्रदीपिका [चित्सुखी] की टीका करते हुए श्री प्रत्यक्स्वरूप ने एक सन्दर्भ की व्याख्या में ब्रह्मवित्प्रकाण्ड भर्तृहरि की "धातुसमीक्षा" का उल्लेख कारिका उद्धृत करते हुए किया है ।[1] इसी प्रकार स्पन्दकारिका की व्याख्या "स्पन्द-प्रदीपिका" में त्रिविक्रमपुत्र उत्पलाचार्य ने "धातुसमीक्षा" के नाम से चार श्लोकों को उद्धृत किया है तथा इसी टीका में पूर्वोक्त श्लोकों में से तीसरा श्लोक भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किया है ।[2] ये श्लोक वेदान्त दर्शन के विषय को प्रतिपादित करते हैं, अतः डा० अवस्थी ने आद्य भर्तृहरि द्वारा लिखा "धातु समीक्षा" नाम का वेदान्त विषयक ग्रन्थ "पृथक्" माना है । परन्तु यह मत सन्दिग्ध है, क्योंकि अधिक सम्भावना यह है कि "धातु समीक्षा" और "शब्दधातुसमीक्षा" ये दो नाम एक ही ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किये गये हैं, जिस प्रकार डा० अवस्थी स्वयं कहते हैं कि सोमानन्द ने जिस ग्रन्थ के लिए "समीक्षा" नाम का प्रयोग किया है, उत्पलदेव ने उसी का अर्थ "शब्दधातु-समीक्षा" किया है । किंच डा० अवस्थी ने "समीक्षा," "धातुसमीक्षा" तथा "शब्दधातुसमीक्षा" के नाम से जिन मतों एवं कारिकाओं को उद्धृत किया है, उनका दर्शनपरक विषय और शैली लगभग एक समान है । अतः भर्तृहरि का धातुसमीक्षा नाम का वेदान्तविषयक ग्रन्थ उक्त शब्दधातुसमीक्षा नाम के व्याकरण के ग्रन्थ से पृथक् था - इस बात को सिद्धान्तरूप से स्वीकार करने के लिए पुष्ट एवं प्रबलतर प्रमाणों की अपेक्षा है ।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।। - वही, उत्पलदेव व्या०

1. अत एव धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम् -
शुद्धतत्वं प्रपंचस्य न हेतुरनिवृत्तितः ।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः ।। -चित्सुखी, परि०-1, प्रत्यक्०

2. "धातुसमीक्षायां च"- अविद्याशबलस्यास्य स्थितं मेयत्वमात्मनः ।
गृहीतं न निजं रूपं शबलेन तदात्मना ।।
सा चानृतात्मिकाविद्या नानृतस्य हि वस्तुना ।
नावस्तु वस्तुनो नाशं विकारं वा करोत्यतः ।। इत्यादि
-स्पन्दकारिका पर स्पन्दप्रदीपिका

शतक-त्रय :

नीति, शृंगार और वैराग्य ये तीन सुभाषितशतक भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध हैं ।[1] परम्परा इन्हें वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि की रचनाएं मानती है । रामभद्रदीक्षित के पतंजलिचरितम् में इस परम्परा का उल्लेख है,[2] परन्तु यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं है अतः यह कहना कठिन है कि यह परम्परा कितनी प्राचीन एवं प्रामाणिक है । अनुवर्ती लेखकों ने यह तो एकमत से स्वीकार किया है कि यह शतकत्रय भर्तृहरिविरचित है, परन्तु उक्त परम्परा के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य प्रबल प्रमाण अभी प्राप्त नहीं है जिससे यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सके कि यह ग्रन्थ भी वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि की ही रचना है ।

मीमांसासूत्र-वृत्ति :

पं० रामकृष्ण कवि के अनुसार[3] उन्हें जैमिनीय मीमांसासूत्रों पर भर्तृहरि की मीमांसावृत्ति के कुछ भाग मिले हैं जो मीमांसा सूत्रों के भाष्यकार शबर से पहले के हैं । यदि पं० रामकृष्ण को प्राप्त मीमांसावृत्ति के अंश सचमुच भर्तृहरि के लिखे हों और शबर से पूर्ववर्ती हों, तो निश्चय ही वाक्यपदीयकार एवं महाभाष्यदीपिका के रचयिता आद्य भर्तृहरि के ही हो सकते हैं । क्योंकि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के अध्ययन से विदित होता है कि

---

1. विज्ञानशतक भी भर्तृहरि के नाम से प्रकाशित हुआ है, परन्तु अभी उसका प्रामाण्य साध्य है ।

2. संदर्भेण च भर्तृहरिः पदानां कन्दर्पकार्मुकरसार्पणकर्मठेन ।
   शृंगारनीतिविगतस्पृहतानुबन्धमन्यच्च पद्यशतकत्रयमाततान ।।
   ग्रन्थोऽधिकृत्य किल वाक्यपदे बुधानां चक्रे निखिलार्थविबोधहेतुः ।
   यस्यातनोद विवरणप्रणयेनहेलाराजः शशीव किरणेन विवृद्धिमब्धेः ।।
   —पतंजलिचरितम्, 8, 10-11

3. क) वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-1, खण्ड-2, पृ० 206
   ख) आचार्य पुष्पांजलि वाल्यूम में रामकृष्ण कवि का लेख

भर्तृहरि मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित थे । मीमांसा के प्रतिपाद्य पर उनकी अपनी मान्यताएं भी थीं ।[1] तथापि पं० रामकृष्ण कवि को प्राप्त मीमांसा-सूत्रवृत्ति के अंशों को भर्तृहरि की कृति के रूप में परीक्षित किया जाना अभी शेष है ।

व्याकरणदर्शन-विषयक ग्रन्थ और उनका दार्शनिक महत्त्व :

ऊपर आद्य भर्तृहरि की रचनाओं के कर्तृत्व-निर्णय पर प्रकाश डाला गया है । सम्प्रति इस दार्शनिक वैयाकरण की व्याकरण-दर्शन विषयक रचनाओं का परिचय तथा इनके दार्शनिक महत्त्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है । भर्तृहरि की दार्शनिक महत्त्व की रचनाएं तीन हैं -

1· वाक्यपदीय

2· स्वोपज्ञ वृत्ति

3· महाभाष्यदीपिका

शैव-दर्शन के काश्मीरी विद्वानों ने "समीक्षा" "धातुसमीक्षा" तथा "शब्दधातु-समीक्षा" के नाम से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के मात्र आठ-दस वचन जो उद्धृत किये हैं उनसे विदित होता है कि इस नाम की रचना, चाहे वह एक हो या पृथक्-पृथक् दो हों[2] - उपलब्ध होती तो वह भी निःसन्देह दार्शनिक महत्व की थी । परन्तु अभी तक यह सम्पूर्ण रचना उपलब्ध नहीं हो पायी है । भर्तृहरि की व्याकरण-दर्शन विषयक तीन उपलब्ध रचनाओं का परिचय तथा उनका दार्शनिक महत्व इस प्रकार है -

1·वाक्यपदीय

परिचय :

'वाक्यपदीय' आद्य भर्तृहरि की सबसे प्रसिद्ध तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन क्रमिक विकास की

1· धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसक-दर्शनम् । अवस्थित एव धर्मः, स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति । यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते । - म·भा· दीपिका, पृ·38

2· द्रष्टव्य- इसी शोधप्रबन्ध के प्रकृत अध्याय में "धातुसमीक्षा" प्रकरण

उच्चतम स्थिति पर पहुंचा है । इस ग्रन्थरत्न ने भर्तृहरि को सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में एक सर्वातिशायी दार्शनिक वैयाकरण के रूप में तथा आज के भाषाविज्ञान के जगत में एक महान् भाषा-विज्ञानी के रूप में प्रतिष्ठापित किया है । भर्तृहरि के इस ग्रन्थ में तीन काण्ड हैं -

1• आगमकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड,

2• वाक्यकाण्ड या वाक्यपदीयकाण्ड,

3• पदकाण्ड या प्रकीर्णकाण्ड ।

वाक्यपदीय के इन तीनों काण्डों में कुल 1964 कारिकाएं हैं । इनमें से पहले काण्ड में 156 कारिकाएं, दूसरे में 493 और तीसरे काण्ड में 1325 कारिकाएं हैं । तीसरे काण्ड में चौदह उपविभाग हैं, जिन्हें समुद्देश कहा गया है । भर्तृहरि[1] और पुण्यराज[2] के उल्लेखों से विदित होता है कि इसमें लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश भी थे जो सम्प्रति अनुपलब्ध हैं । इनमें से लक्षणसमुद्देश पुण्यराज के समय से पहले ही नष्ट हो गया था यह पुण्यराज ने स्पष्ट लिखा है ।[3] वाक्यपदीय की अनेक कारिकाएं मध्य-मध्य से नष्ट हो गयी हैं । जिनमें से कुछ भट्टोजिदीक्षित आदि बाद के ग्रन्थकारों ने भर्तृहरि या वाक्यपदीय के नाम से अपने ग्रन्थों में उद्धृत की हैं[4]।

1• तत्र द्वादश षद् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेण व्याख्यास्यते । - वाक्यपदीय 2•76 पर हरिवृत्ति, लाहौर सं0

2• यस्मादुक्तम्, सेयमपरिमाणविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते इति । -पुण्यराज, वाक्यपदीय 2•77, लाहौर संस्करण ।

3• एतेषां वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनस्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे निर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम् । आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः ।

- पुण्यराज, वा•प• 2•79 पर

4• यथा - अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम् ।
ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते ।।

पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ।।

-भट्टोजिदीक्षित, शब्दकौस्तुभ- पृ•527 पर उद्धृत

"वाक्यपदीय" नाम :

इस व्याकरणदर्शनग्रन्थ के नामकरण के विषय में तीन मत हैं। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थकारों का तथा तदनुसारी अनेक आधुनिक लेखकों का मत है कि प्रथम और द्वितीय काण्ड ही "वाक्यपदीय" है, तृतीय काण्ड में वाक्यपदीय {प्रथम दो काण्ड} के सिद्धान्तों पर ही विशद विचार होने के बावजूद भी वह "प्रकीर्णक" नाम से पृथक् ग्रन्थ है जो निःसन्देह भर्तृहरि द्वारा ही रचित है। हेलाराज इस मत के पहले आचार्य हैं। उन्होंने वाक्यपदीय {प्रथम और द्वितीय काण्ड पर} शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी है थी और "प्रकीर्णक" पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की व्याख्या लिखी है। इस प्रकीर्णक {प्रकीर्णकाण्ड} की कारिका संख्या 154 की व्याख्या में हेलाराज ने लिखा है - "इति निर्णीतं वाक्यपदीये"। वर्धमान ने भी गणरत्नमहोदधि के आरम्भ में लिखा है कि भर्तृहरि "वाक्यपदीय" और "प्रकीर्ण" इन दो ग्रन्थों का कर्ता और महाभाष्यत्रिपादी का व्याख्याता है।[1] कुछ हस्तलेखों में द्वितीय काण्ड के अन्त में वाक्यपदीय कारिका की समाप्ति का उल्लेख मिलता है।[2] स्वयं भर्तृहरि ने जो द्वितीय काण्ड के अन्त में उपसंहार किया है और वाक्यपदीय पर स्वोपज्ञटीका भी पहले दो काण्डों पर ही प्राप्त होती है, उससे भी सिद्ध होता है कि भर्तृहरि ने प्रथम और द्वितीय काण्ड को ही वाक्यपदीय मानकर प्रकीर्णकाण्ड को वाक्यपदीय से ही सम्बद्ध पृथक् ग्रन्थ के रूप में रचा हो। यही मत महामहोपाध्याय पं0 श्री गंगाधरशास्त्री मानवल्ली ने काशी संस्करण की सटीक वाक्यपदीय के उपसंहार {जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में भूमिका के स्थान

---

1. भर्तृहरिः वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या च।
   - वर्धमान, गणरत्नमहोदधि के आरम्भ में।

2. इति भगवद्भर्तृहरिकृते वाक्यपदीये द्वितीयं काण्डम्।
   समाप्ता वाक्यपदीयकारिका।
   -पं0 चारुदेवशास्त्री द्वारा सम्पादित ब्रह्मकाण्ड की भूमिका, पृ. 8 पर उद्धृत।

पर छपा है॥ में प्रकट किया है ।[1]

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के सम्पादक पं० चारुदेव शास्त्री ने इस ग्रन्थ की संस्कृत में लिखी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका ॥पृ॰78॥ में उक्त मत प्रस्तुत करते हुए स्वाभिमत प्रकट किया है कि तीनों काण्डों का नाम वाक्यपदीय है । "वाक्यपदीय" संज्ञा से ही इस बात की पुष्टि होती है । वाक्य और पद को अधिकृत करके जो ग्रन्थ लिखा जाए वह वाक्यपदीय कहलाता है । प्रथम और द्वितीय काण्ड में क्रमश: वाक्यस्फोट और वाक्यदर्शन पर विचार किया गया है और तृतीय काण्ड पदविषयक है । इस पक्ष में पं० चारुदेव जी ने कुछ प्राचीन आचार्यों के वचनों का भी हवाला दिया है जिनमें हेलाराज प्रमुख हैं । हेलाराज ने लिखा है "त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता ।" इस वचन से तीनों काण्डों के एक ग्रन्थ होने की सूचना मिलती है । द्वितीय काण्ड के अन्त में कारिका संख्या 491 तथा उसकी पुण्यराज की व्याख्या[2] से भी यही सिद्ध होता है कि तीन काण्डों का नाम वाक्यपदीय है ।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का मत इन दोनों से पृथक् है । उनके मत में वाक्यपदीय नाम केवल द्वितीय काण्ड का है, क्योंकि इस काण्ड के आरम्भ में वाक्यविचार है और उसके अनन्तर पद-विचार किया गया है ।

1· मूल-कारिका पुस्तके "अत्रैव समाप्ता वाक्यपदीयकारिकेति लेख वाक्यपदे अधिकृत्य कृतो ग्रन्थ इत्यर्थे ···· छप्रत्ययान्त-वाक्यपदीयशब्दस्य वाक्य-पदविचारकग्रन्थपरतया काण्डद्वयस्यैव तथात्वमेव ग्रन्थसमाप्तौ ··· ।

--वाक्यपदीय, काशीसंस्करण, 1887, द्वितीय काण्ड के अन्त में म·म· गंगाधर शास्त्री का उपसंहार ।

2· नन्वेतावानेव किमयं काण्डद्वयप्रोक्तो व्याकरणागम इत्याशङ्क्याह -

वर्त्मनामत्र केषांचिदवस्तुमात्रमुदाहृतम् ।

काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

अत्रास्मिन् वाक्यकाण्डे काण्डद्वये वा केषांचिदेव न्यायवर्त्मनां वस्तुमात्रं बीजमात्रं प्रदर्शितमिव । शिष्टे तु तृतीये ···। ततो नायमेतावान् व्याकरणागम इति । -वा·प· 2·491 तथा उसकी पुण्यराजकृत व्याख्या ।

इस प्रकार तीनों काण्डों के तीन नाम हैं - आगमकाण्ड, वाक्यपदीयकाण्ड, तथा प्रकीर्णकाण्ड। तभी हेलाराज ने "त्रिकाण्डी वाक्यपदीया" न लिखकर "त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता" लिखा है, जिसका अर्थ है -- तीन पदों (नाम) वाले तीन काण्ड। इनमें आद्यन्त दो काण्ड ब्रह्म और प्रकीर्ण पदों (नाम) से प्रसिद्ध हैं। मध्यकाण्ड की कोई साक्षात् संज्ञा प्रसिद्ध नहीं दीखती। वस्तुतः वह संज्ञा वाक्यपदीय रूप ही है। मध्यपठित वाक्यपदीय संज्ञक काण्ड ही देहली-दीपन्याय से आदि और अन्त के काण्डों का भी द्योतक होने से तीनों काण्डों के लिए इस नाम का व्यवहार लोक में होता है।[1]

प्रतिपाद्य विषय :

ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है कि इसमें वाक्य और पद के विषय में ही विचार किया गया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनों पर इतने व्यापक स्तर पर विचार किया गया है कि इस ग्रन्थ ने व्याकरण के विशालसंख्यक विषयों को समेट लिया है। वाक्यपदीय के प्रतिपाद्यविषय के बारे में ग्रन्थकार ने ब्रह्मकाण्ड की तीन कारिकाओं[2] में बता दिया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में आठ वर्ण्यविषय हैं - द्विविध अर्थ: अपोद्धारपदार्थ (प्रकृति-प्रत्ययार्थ) और स्थितलक्षण अर्थ (पदार्थवाक्यार्थ), द्विविध शब्द: - "अन्वाख्येय और प्रतिपादक," द्विविध सम्बन्ध - कार्यकारणभाव और अर्थप्रतिपादन-योग्यता तथा द्विविध प्रयोजन - धर्म और अर्थप्रत्यय। इन कारिकाओं पर हरिवृत्ति में स्पष्ट लिखा है कि वाक्यपदीय की समस्त विषयवस्तु इन तीन श्लोकों में प्रतिपादित विषयों में समा गयी है।[3] हेलाराज ने भी तृतीय काण्ड के प्रारम्भ

---

1. मीमांसक - सं॰ व्या॰ शा॰ इति॰, भाग-2, पृ॰ 400

2. अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः॥

धर्मे च प्रत्यये चांगं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु।
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः॥

ते लिंगैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्॥ -वा॰ प॰ 1॰24-26

3. त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रस्तुतस्य परिसमाप्तिः। -वा॰ प॰ 1॰24-26 पर हरिवृत्ति

में लिखा है कि वाक्यपदीय के आठ विषयों पर विचारपरक होने के कारण प्रथम काण्ड में प्रयोजनादि तथा द्वितीय काण्ड में वाक्य-वाक्यार्थ, अन्वाख्येय, स्थितलक्षण पदार्थों का निर्णय हो जाने पर अब तृतीय काण्ड में अपोद्धाररूप पदविचार किया जाता है ।[1]

ब्रह्मकाण्ड के प्रारम्भ में शब्दब्रह्म का स्वरूप, उसी से समस्त अर्थजगत का विवर्तन आदि बताकर वेद और उसके प्रधान अंग व्याकरणागम को उस ब्रह्म की प्राप्तिरूप मोक्ष का उपाय बताया गया है । व्याकरण से तत्त्व का अवबोध होता है, साधुशब्दों का ज्ञान भी इसी से होता है जो धर्मप्राप्ति में हेतु है । इन दोनों से शब्दब्रह्म के साथ सायुज्यरूप मोक्ष प्राप्त होता है । इस प्रकार धर्म एवं अर्थप्रत्ययरूप प्रयोजन का वर्णन इस काण्ड में हुआ है । उसके बाद अनुमान से अतिरिक्त आगमप्रमाण की श्रेष्ठता स्फोटात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों के दो भेद, दोनों का स्वरूप, उनकी नित्यता-अनित्यता, स्फोट के विषय में अनेक मत, सर्वत्र वाग्रूपता का अनुगम, तीन वाणियां, साध्वसाधुचिन्ता, शब्दों की बोधजनकता एवं पुण्यजनकता, अपभ्रंश का इतिहास आदि विषयों का प्रतिपादन इस प्रथम काण्ड में किया गया है । इसमें भर्तृहरि के अनेक नए मन्तव्यों के अतिरिक्त महाभाष्य के प्रथम आह्निक के सभी विषय आ गए हैं ।

दूसरे वाक्यकाण्ड या वाक्यपदीयकाण्ड में मुख्य रूप से भाषा की इकाई "वाक्य" और उसके अर्थ के स्वरूप पर विचार किया गया है । इसमें प्रारम्भ में तत्कालीन विभिन्न विचारकों द्वारा स्वीकृत (दृष्ट) अखण्ड और सखण्ड वाक्य के आठ भेदों का प्रतिपादन करके अभिहितान्वयवादपक्ष में और अन्विताभिधानवादपक्ष में सखण्ड वाक्य के भेद बतलाए गए हैं । इसके बाद वार्तिककार और मीमांसकों के मत से वाक्य के लक्षण कहकर वाक्यार्थ के स्वरूप का अनेक पक्षों में विचार किया गया है जिनमें अभिहितान्वयवाद, अन्विता-

---

1. इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वाद् वाक्यपदीयस्य प्रथमकाण्डेन प्रयोजनादि-पदार्थे निर्णीतेऽनन्तरकाण्डोपपादितोपपत्तिभिः वाक्यतदर्थयोरन्वाख्येय-स्थितलक्षणयोः पदार्थयोर्निर्णीतत्वात्तदपोद्धारकापोद्धाररूपः पदविचारः प्रक्रम्यते । — हेलाराज वा॰प॰ काण्ड-3, की अवतरणिका ।

मिथानवाद और प्रतिभावाद प्रमुख हैं । इनमें से प्रथम दो वादों में दोष दिखाकर प्रतिभा को ही वाक्यार्थ के रूप में स्थिर किया है । इस सम्पूर्ण काण्ड में भर्तृहरि ने पद और पदार्थ को सम्प्रेसण की दृष्टि से सत मानने वाले मतों का खण्डन करके अखण्ड वाक्य और प्रतिभारूप वाक्यार्थ को ही सत सिद्ध किया है । तथापि व्यावहारिक दृष्टि से पदों और पदार्थों के विश्लेषण की कल्पना को आवश्यक बतलाया है ।

वाक्यपदीय के तीसरे प्रकीर्णकाण्ड में चौदह समुद्देशों में जाति, द्रव्य, सम्बन्ध, द्रव्यलक्षण, गुण, दिक्, साधन, क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, उपग्रह, लिंग, वृत्ति – इन तत्त्वों की विवेचना की गयी है । भर्तृहरि ने यद्यपि वाक्य और प्रतिभारूप वाक्यार्थ को ही वस्तुत: सत माना है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण हेतु आवश्यक होने से उक्त पद-पदार्थों का विशेष विवेचन इस काण्ड में किया गया है, इसीलिए इसे पदकाण्ड भी कहा जाता है ।

इस प्रकार वाक्यपदीय के तीनों काण्डों में उन आठों विषयों पर विचार हुआ है जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने ब्रह्मकाण्ड की तीन कारिकाओं (24-26) में किया है । इस प्रसंग में के॰ए॰ सुब्रह्मण्यम् अय्यर की यह सम्भावना[1] भी सही जान पड़ती है कि भर्तृहरि का अभिप्राय पश्यन्ती को ब्रह्मकाण्ड की, मध्यमा को द्वितीय काण्ड की तथा वैखरी को तृतीय पदकाण्ड की प्रमुख विषयवस्तु बनाने से था । क्योंकि ब्रह्मकाण्ड में ब्रह्म का जो स्वरूप है पश्यन्ती का स्वरूप उससे मिलता-जुलता है । तीसरे काण्ड में पूरी तरह विश्लेषण और विभेद का साम्राज्य है, जो कि वैखरी का स्वरूप ही है । मध्य के (दूसरे) काण्ड में जिस प्रकार अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ को मुख्यरूप से विषयवस्तु बनाया है – मध्यमा की भी वैसी ही स्थिति है । अत: भर्तृहरि ने अपने तीन काण्डों को वास्तव में वाक् की तीन अवस्थाओं का प्रतिनिधि माना होगा । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भर्तृहरि अपनी कृति में आद्योपान्त परम शब्दतत्त्व, -ब्रह्म के प्रतिपादन के बारे में सदा जागरूक रहे हैं ।

1· के॰ए॰ सुब्रह्मण्यम् अय्यर· -- भर्तृहरि का वाक्यपदीय (अनुवाद) पृ॰ 70-71

वह इस कृति में सूत्र की तरह प्रोत है और इसे एक प्रकार की एकता प्रदान करता है, चाहे वह जाति या द्रव्य, साधन या क्रिया, दिक् या काल के बारे में बता रहा हो । वह इन सबको किसी न किसी तरह आन्तर शब्द-तत्व से जोड़ ही देता है ।

दार्शनिक महत्त्व :

पूरे संस्कृत वाङ्‌मय में भर्तृहरि का वाक्यपदीय एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसने व्याकरण-दर्शन को भारतीय दर्शनों की उच्च कोटि में लाकर खड़ा किया है । उपलब्ध व्याकरण-निकाय में यह ग्रन्थरत्न व्याकरण-दर्शन का एक मात्र आधार स्तम्भ एवं प्रतिनिधिग्रन्थ है । इस ग्रन्थ से एक ओर हम पाणिनि, विशेषतया व्याडि, कात्यायन और पतंजलि के दर्शन से परिचित होते हैं तो दूसरी ओर महान् दार्शनिक भर्तृहरि की मौलिक तत्वमीमांसा और उसके निष्कर्षों से परिचित होते हैं । आज के दार्शनिकों, विशेषतया अन्य दार्शनिक वैयाकरणों के लिए तो वाक्यपदीय एक पवित्र तीर्थ ही बन गया है । वेदान्ती हो या शैवाद्वैतवादी, मीमांसक हो या बौद्ध - वाक्यपदीय से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित है । भर्तृहरि ने अपने ही शब्दों में[1] सभी प्रकार के दर्शनभेदों का गम्भीर अध्ययन करके बिना किसी राग-द्वेष के अत्यन्त निष्पक्षता, सरलता और सौजन्य से सभी के मतों का इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है । इस दृष्टि से तो यह ग्रन्थ समस्त दर्शन-निकाय में अनुपम और अनुकरणीय निदर्शन है ।

व्याकरण के व्यावहारिक और तात्त्विक किम्वा सैद्धान्तिक पक्ष में अन्तर बढ़ता जा रहा था । पातंजल महाभाष्य ने सैद्धान्तिक पक्ष का स्पर्श करते हुए भी मुख्यरूप से व्याकरण के लाक्षणिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर व्याख्यान किया जबकि वाक्यपदीय ने उसकी सैद्धान्तिक आधारभूमि को स्पष्ट किया है । वाक्यपदीय व्याकरण-दर्शन या शब्दार्थसम्बन्ध विज्ञान तो है ही पर आज की

---

1. न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ।।

-वा॰प॰ 2·482

परिभाषा में जिसे भाषा-तत्व-शास्त्र या भाषा-विज्ञान कहा जाता है - वाक्यपदीय उसका मुख्य विषय रहा है। अंतर केवल इतना है कि भाषा-विज्ञान तथा दर्शन के सिद्धान्तों की गहराइयों को इस ग्रन्थ में अत्यन्त सरलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। वाक्यपदीय से न केवल व्याकरण-दर्शन एवं भाषा-विज्ञान को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ है बल्कि व्याकरण और भाषा विज्ञान के शुष्क शरीर में सरल और सार्थक जीवन का संचार हुआ है। वाक्यपदीय संस्कृत व्याकरण-दर्शन के लिए भर्तृहरि की अनुपम देन है - यह अगले पृष्ठों में और अधिक स्पष्ट होगा।

2. वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ वृत्ति

परिचय :

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय की कारिकाओं की स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है जो वृत्ति, टीका और विवरण के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये दोनों बातें पुण्यराज, वृषभदेव आदि बाद के टीकाकारों के, इस भर्तृहरिवृत्ति की व्याख्या करने वाले अनेकों वचनों से प्रमाणित होती है।[1] इस में भर्तृहरि ने कारिकाओं में प्रतिपादित व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मौलिकरूप से एवं विस्तार से व्याख्या की है। यह वृत्ति प्रथम काण्ड पर सम्पूर्ण तथा द्वितीय काण्ड पर अधूरी उपलब्ध होती है। यद्यपि तीसरे काण्ड पर भी इस वृत्ति का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की कारिका संख्या 2.24 की स्वोपज्ञ-वृत्ति[2] में किया है, परन्तु यह वृत्ति न तो कहीं उपलब्ध है और न ही किसी

---

1. क) ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। -पुण्यराजीय टीका, लाहौर सं., पृ. 46
   ख) तथा च टीकाकारः प्रदर्शयिष्यति। - वही, पृ. 10
   ग) कारिकोपन्यासफलं स्वयमेव विवरणे दर्शयिष्यति।
   -वृषभदेवटीका, लाहौर संस्करण, पृ. 67
2. कालस्यैव चोपाधिविशिष्टस्य परिमाणत्वात् कृतो स्वापरं परिमाणमित्येतत् कालसमुद्देशे व्याख्यास्यते।
   -हरिवृत्ति, वा.प. 2.24 पर (लाहौर संस्करण)

अर्वाचीन ग्रन्थकार के इससे परिचित होने का प्रमाण प्राप्त हुआ है । केवल प्रथम काण्ड पर इस हरिवृत्ति के परिष्कृत रूप का पहला संस्करण सन् 1887 में बनारस में प्रकाशित हुआ । इस काण्ड के अन्त की पुष्पिका में स्पष्टतया हरिवृषभ का वाक्यपदीय और उसकी इस वृत्ति के लेखक के रूप में उल्लेख है ।[1] फिर भी न जाने किस कारण इसका सम्बन्ध हेलाराज से जोड़ दिया गया है । इस स्वोपज्ञ वृत्ति का पं0 चारुदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित दूसरा प्रमाणिक संस्करण सन् 1934 में लाहौर से प्रकाशित हुआ है । इसके सम्पूर्ण प्रथम काण्ड की वृत्ति वृषभदेव की पद्धति टीकासहित छपी है, परन्तु द्वितीय काण्ड की वृत्ति पुण्यराज की टीका के साथ केवल 184 कारिका तक ही प्रकाशित हो पायी । इस काण्ड का शेष भाग मूल हस्तलेख के लाहौर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में रह जाने से प्रकाशित नहीं हो पाया ।[2] पं0 चारुदेव शास्त्री ने इस ग्रन्थ की भूमिका में परीक्षण के बाद इसे ही प्रामाणिक एवं वास्तविक हरिवृत्ति लिखा है और काशी संस्करण की वृत्ति को इसका लघु एवं परिष्कृतरूप बताया है । सन् 1966 में पूना में श्री के·ए· सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने वृषभदेव की पद्धति टीका-सहित इस मूल (वास्तविक) स्वोपज्ञवृत्ति को प्रकाशित किया है ।[3] इस संस्करण में प्रथम काण्ड में तो सम्पूर्ण वृत्ति प्रकाशित है परन्तु द्वितीय काण्ड में कहीं-कहीं कम और कहीं विशालरूप में यह वृत्ति त्रुटित है ।

इस वृत्ति का लेखक "हरिवृषभ" क्या भर्तृहरि ही है या कोई अन्य व्यक्ति, इस विषय में पं0 चारुदेव जी ने इस ग्रन्थ की भूमिका में हमारा ध्यान सभी पाण्डुलिपियों में (वर्तमान में प्रकाशित सभी संस्करणों में भी) प्रथम काण्ड के अन्त में आने वाली इस पुष्पिका की ओर आकृष्ट किया है -"इति श्रीहरिवृषभमहावैयाकरणविरचिते वाक्यपदीये आगमसमुच्चयो नाम प्रथमकाण्डं

1· इति श्री महावैयाकरणहरिवृषभविरचितवाक्यपदीयप्रकाशे आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं समाप्तम् । -हरिवृषभ, वा·काण्ड-1 के अन्त की पुष्पिका

2· मीमांसक: - सं·व्या·शा·इति· भाग-1, पृ·39

3· सु·अय्यर, वाक्यपदीय, डेक्कन कालेज, मोनोग्राफ सीरीज 32, 1966

समाप्तम्" । - यह पुष्पिका वृत्तिसहित कारिका के अन्त में आने से इन दोनों को मिलाकर "वाक्यपदीय" की संज्ञा देती है और हरिवृषभ को इन दोनों {वृत्तिसहितकारिकामय वाक्यपदीय} का कर्ता बताती है, जो भर्तृहरि ही है । वृषभ शब्द आदरार्थ लिखा गया है । एक पाण्डुलिपि में पुष्पिका इस प्रकार है - "इति श्रीमद्भगवद्भर्तृहरिवृषभमहावैयाकरणविरचिते ....।" इस में ग्रन्थकर्ता का नाम भर्तृहरिवृषभ दिया गया है जो इस बात की पुष्टि करता है कि भर्तृहरि और हरिवृषभ एक ही व्यक्ति के नाम हैं । श्री के॰ए॰ अय्यर ने अपने ग्रन्थ "भर्तृहरि का वाक्यपदीय" में कुछ अन्य तर्कों के साथ फ्रेंच विदुषी डा० एम० बियार्दो द्वारा वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के फ्रांसीसी अनुवाद की भूमिका में प्रस्तुत किए गए उन तर्कों को उद्धृत किया है जिसमें वृत्ति के कर्ता वृषभदेव को भर्तृहरि से भिन्न तथा काफी अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है ।[1] परन्तु डा० अय्यर ने अनेक तर्कों का खण्डन करके शेष तर्कों को ऐसा सिद्ध करने के लिए अपर्याप्त बताया है । उसके विपरीत डा० अय्यर ने आचार्य अभिनवगुप्त, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, स्फोटसिद्धि के कर्ता मण्डनमिश्र आदि के वचनों तथा अन्य प्रमाणों की एक लम्बी श्रृंखला का उल्लेख किया है जो यह प्रमाणित करते हैं कि कारिकाएं तथा वृत्ति एक ही लेखक - भर्तृहरि की रचना है ।[2]

दार्शनिक महत्त्व :

यह अवगत ही है कि भर्तृहरिकृत वृत्ति में वाक्यपदीय की मूल कारिकाओं में निबद्ध विषयों को ही कुछ विस्तार के साथ स्पष्ट किया गया है । इसका विशेष महत्व तो यह है कि इसके द्वारा हमें भर्तृहरिदर्शन को उसी रूप में

---

1. M.Biardean - भर्तृहरि - वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड aveclе वृत्ति de हरिवृषभ Traduetion, Introduction et notes(Paris, Editions de Beecard, 1964)

2. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य -
   क} के॰एस॰सुब्रह्मण्यम् अय्यर, "भर्तृहरि का वाक्यपदीय" अनुदित, पृ॰17-36
   ख} पं० चारुदेवशास्त्री, वाक्यपदीय की भूमिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर, 1934 {सम्प्रति बाहालगढ़, सोनीपत}

उनने का अभिप्राय प्राप्त हुआ है जिस रूप में भर्तृहरि ने उन्हें कारिकाओं में प्रकट किया है । अधिकांश स्थलों पर वृत्ति गहराई में चली जाती है और कारिका में प्रतिपादित विषय पर प्रचलित विभिन्न मतों का भी पूरा विवरण प्रस्तुत करती है । निश्चय ही वृत्ति मूल कारिकाओं में निबद्ध शब्ददर्शन को व्यापकता एवं विस्तार प्रदान करती है ।

3· महाभाष्यदीपिका

परिचय :

चन्द्राचार्य, गुरु वसुरात आदि की परम्परा से पतंजलि के मूल अष्टाध्यायी-महाभाष्य को प्राप्त करके भर्तृहरि ने उसका गम्भीर अध्ययन करने के बाद उस पर "महाभाष्यदीपिका" नाम की प्रौढ़ टीका लिखी है । इसकी एक ही पाण्डुलिपि उपलब्ध है जो पहले जर्मनी की राजधानी बर्लिन के पुस्तकालय में थी और अब ट्यूबिंगन (पश्चिमी जर्मनी) में है । इस पाण्डुलिपि की सूचना सबसे पहले डा० कीलहार्न ने दी थी । अब इसकी फोटोकापियां लाहौर और मद्रास के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं । इस असाधारण पाण्डुलिपि का प्रकाशन पूना और बनारस से हुआ है । पूना संस्करण का सम्पादन सर्वश्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर तथा वी·पी· लिमये ने किया है । और भण्डारकर प्राच्य विद्या शोधसंस्थान पूना में इसका प्रकाशन किया है । बनारस संस्करण का सम्पादन श्री वी· स्वामीनाथन ने किया है और यह हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से प्राकाशित हुआ है । काशीसंस्करण चार आह्निक तक ही छपा है जबकि पूना संस्करण में उपलब्धांश पूरा छपा है ।

उक्त पाण्डुलिपि की पुष्पिका में टीका का नाम भर्तृहरिटीका, महाभाष्यटीका, महाभाष्यदीपिका -- विभिन्न रूप में आया है । परन्तु इस एकमात्र दुर्लभ पाण्डुलिपि में भर्तृहरि की महाभाष्यटीका खण्डितरूप में केवल पा·सू· 1·1·53 (सातवें आह्निक में ङि·च्च सूत्र) तक ही उपलब्ध है । भर्तृहरि ने महाभाष्य के कितने भाग पर यह टीका लिखी थी- इसके पक्के निश्चय के लिए खोजों के अन्तिम निष्कर्ष की अभी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । वर्धमान (1200) ने

भर्तृहरि को वाक्यपदीय, प्रकीर्णक और महाभाष्यत्रिपादी का कर्ता लिखा है ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि वर्धमान के समय तक प्रथम अध्याय के पहले तीन पदों तक की भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका उपलब्ध थी । और त्रिपादी के नाम से प्रख्यात थी । कैयट ने प्रदीप में, वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में, शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में, नागेशभट्ट ने उद्योत में, भर्तृहरिटीका के उद्धरण दिए हैं, वे उक्त पाण्डुलिपि में प्राप्त होते हैं ।[2] वर्तमान में पा॰सू॰ 1॰1॰53 तक उपलब्ध महाभाष्यदीपिका के गद्य का परिमाण प्राय: 5700 श्लोक हैं, जबकि चीनी-यात्री इत्सिंग ने भर्तृहरिरचित महाभाष्य की चूर्णि (दीपिका टीका) का परिमाण 25000 श्लोक लिखा है ।[3] इतना परिमाण प्रथम तीन पाद तक या उससे कुछ अधिक के महाभाष्य की टीका का हो सकता है, सम्पूर्ण महाभाष्य की टीका का कदापि नहीं । पुरुषोत्तमदेव, लालाधुकमुनि, शरणदेव, मैत्रेयरक्षित तथा सीरदेव जैसे बाद के लेखकों ने पाणिनीय सूत्रों के अर्थों को लेकर भर्तृहरि के मतों को उद्धृत किया है । भर्तृहरि के ये मत अष्टाध्यायी के प्रथम तीन पादों से आगे आठवें अध्याय के चौथे पाद तक के सूत्रों से सम्बन्धित हैं । मूल अष्टाध्यायी पर तो भर्तृहरि का पृथक् वृत्तिग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं है, अत: ये सम्पूर्ण महाभाष्य की भर्तृहरिटीका के ही हो सकते हैं ।[4]

दार्शनिक महत्त्व :

भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका भी व्याकरण के दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । इस टीका में महाभाष्य की मूल पंक्तियों की शब्दश: व्याख्या नहीं की गई है अपितु विस्तृत विवेचन तथा टिप्पणियों

1॰ भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयो: कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च ।
-वर्धमान, गणरत्नमहोदधि के आरम्भ में ।

2॰ द्रष्टव्य - वी॰ स्वामिनाथन् -"भर्तृहरिज" आथरशिप आफ द कमेण्ट्री आन द महाभाष्य, द अड्यार लायब्रेरी बुलेटिन, 27, भाग-1-4, पृ॰59 से आगे

3॰ किसी भी गद्यकृति के कुल अक्षर गिनकर उन्हें अनुष्टुभ् छन्द के 32 अक्षरों से भाग देकर प्राप्त संख्या वाले श्लोकों द्वारा कृति का परिमाण बताने की प्राचीन परिपाटी है ।

4॰ मीमांसक, सं॰व्या॰शा॰इति॰, भाग-2, पृ॰378

के द्वारा विषयों को स्पष्ट किया गया है, अतः भर्तृहरि को व्याकरण के दार्शनिक विषयों पर खुलकर लिखने का अवसर प्राप्त हुआ है । विशेषतया पस्पशाह्निक तथा दूसरे प्रत्याहाराह्निक में जहां सूत्रों के विश्लेषण की अपेक्षा व्याकरण के अनेक दार्शनिक विषयों पर ही विचार हुआ है । यथा - महाभाष्य के प्रथम आह्निक में कहा है - संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम् - नित्यो वा स्याद् कार्यो वेति । इसकी व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने दीपिका में जानकारी दी है कि इस संग्रहग्रन्थ में चौदह हजार पदार्थों का परीक्षण किया गया है ।[1]

भर्तृहरि महाभाष्य की अपनी दीपिकाटीका में कहते हैं - केषांचिद् वर्णोऽक्षरम्, केषांचिद् पदम्, वाक्यं च ।[2] अर्थात् कुछ लोगों के मत में वर्ण ही अक्षर हैं, कुछ वैयाकरण पद को तो कुछ वाक्य को ही अक्षर मानते हैं । इस प्रकार दीपिका में अनेक वैयाकरणों के मत भी प्रदर्शित किए गए हैं । अनेक स्थलों में "केचिद्" "केषांचित्" "अन्ये" "अपरे" कहकर भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्राचीन व्याख्याकारों के पाठांश भी उद्धृत किए हैं ।[3]

इस प्रकार महाभाष्यदीपिका ने महाभाष्य के दार्शनिक विषयों को नयी गति दी है और वाक्यपदीय ने तो इन्हें और अधिक व्यापक बनाकर विकास की चरमसीमा पर पहुंचा दिया है । इस प्रकार महाभाष्यदीपिका इन दो ग्रन्थों के दर्शनों की विकासपरम्परा की मध्यकड़ी है और यह वाक्यपदीय की पारम्परिक धरोहर और नए अर्जन को पहचानने में भी सहायक सिद्ध होती है ।

1· चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)
-महाभा· दीपिका, आ·-1 पर

2· महाभाष्यदीपिका, पृ·115

3· यथा - वही, पृ·4,51,167, 176, 178, 179, 197, 205, 424 आदि

ख· वाक्यपदीय के व्याख्याकार

वाक्यपदीय पर सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या भर्तृहरि की अपनी ही लिखी "वृत्ति" है जिसे हरिवृत्ति भी कहा जाता है । कुछ विद्वानों ने इसे "वाक्यपदीय" का ही अंग माना है । इस वृत्ति को "वाक्यपदीय" ग्रन्थ का ही एक भाग माना जाए या - इसकी स्वोपज्ञ व्याख्या - इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है । इसके माध्यम से हम भर्तृहरि के शब्दों में ही मूल कारिकाओं के विचार विस्तार के साथ जान पाते हैं । ऐसे भी असंख्य विचारविन्दु हैं जो हमें केवल वृत्ति में ही उपलब्ध होते हैं । वाक्यपदीय के इस वृत्ति भाग का परिचय और इसका महत्व भर्तृहरि की रचनाओं के परिचय के सन्दर्भ में दिया जा चुका है ।

भर्तृहरि के व्याकरण-दर्शन के प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ वाक्यपदीय पर प्राचीन और नवीन वैयाकरणों ने संस्कृत में अनेक टीकाएं रची हैं, जो इस ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं । वाक्यपदीय लगभग सारात्मक शैली में लिखा गया ग्रन्थ है । इसके सार्व-वेदपारिषद होने से इसमें वेदों, उपनिषदों, वैशेषिक-मीमांसा, बौद्ध आदि दर्शनों, प्रातिशाख्यों निरूक्त, शिक्षा आदि के मत भी स्थान-थान पर प्रति-पादित किये गए हैं जिन्हें उद्घाटित करना साधारण वैयाकरणों के वश की बात नहीं है । भर्तृहरि जैसे तत्ववेत्ता तल-स्पर्शी और मर्मज्ञ विद्वान् के द्वारा प्रतिपादित रहस्यों की गुत्थियों को उन्हीं जैसी प्रखर पाण्डित्य वाली प्रतिभा ही सुलझाने में सक्षम हो सकती है । श्रीवृषभदेव, हेलाराज, पुण्यराज और पं० रघुनाथ शर्मा आदि ऐसे ही टीकाकार हुए हैं जिन्होंने न केवल वाक्य-पदीय के रहस्यों और गुत्थियों को खोला है अपितु अपने महत्वपूर्ण वक्तव्य या मान्यताएं भी जहां-तहां प्रकट की हैं । इनके उद्धरणों को पतंजलि और भर्तृहरि के वचनों के समान ही प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया जाता है । वाक्यपदीय एवं भर्तृहरि-दर्शन के प्रामाणिक व्याख्याकारों की दार्शनिक उपलब्धियां और देन अगले अध्याय में भर्तृहरि की दार्शनिक देन और प्रमुख

सिद्धान्तों के विवेचन के साथ-साथ प्रतीकरूप में देखने-परखने को मिलेगी । यहाँ इन व्याख्याकारों तथा उनकी व्याख्याओं का ऐतिहासिक परिचय दिया जाना अपेक्षित है, जो क्रमशः इस प्रकार है ।

वृषभदेव : वाक्यपदीय पद्धति 550 ई0

परिचय :

वाक्यपदीय पर प्राचीनतम टीका "पद्धति" के रचयिता श्रीवृषभदेव के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है । मात्र इस टीकाकार द्वारा अपनी पद्धति की भूमिका में दिए दो श्लोकों से विदित होता है[1] कि वह राजा विष्णुगुप्त के कर्मचारी श्री देवयशस् का पुत्र था । परन्तु यह विष्णुगुप्त कहां का और किस वंश का राजा था, ऐसी सूचना वृषभदेव ने नहीं दी है । इससे अधिक परिचय वृषभदेव के बारे में नहीं मिलता है ।

समय : विष्णुगुप्त नाम का एक सम्राट गुप्तसाम्राज्य की परम्परा में हुआ है जो नरसिंहगुप्त का पुत्र था । यदि वृषभदेव इसी विष्णुगुप्त के राज्याश्रित रहे हों तो उसका समय 535-550 ई0 के बीच माना जाता है[2] अतः वृषभदेव और उसकी पद्धतिटीका की रचना का समय भी यही निश्चित होता है । परन्तु विष्णुगुप्त नाम का एक राजा परवर्ती गुप्तवंश में लगभग आठवीं शती के प्रारम्भ में भी हुआ था ।[3] अतः इस विषय में अन्तिम निर्णय के लिए पृथक् से शोध अपेक्षित है ।

---

1. विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्रीविष्णुगुप्तदेवस्य ।
   भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्स्तनूजेन ।।
   बन्धेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षरं नाम ।
   क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधेः सुगमा ।। - वा॰प॰, I, पद्धति की भूमिका
2. न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपल, गुप्त वाकाटक एज 200-550 ए॰डी॰
   भाग-6, पृ॰214
3. श्री के॰ए॰ सुब्रह्मण्य अय्यर, "भर्तृहरि का वाक्यपदीय", पृ॰47

पद्धति टीका :

भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर रची गई प्राचीन टीकाओं में वृषभदेव की "पद्धति" टीका सबसे प्राचीन है जो उन्होंने भर्तृहरिकाल से लगभग एक शताब्दी के अन्तराल में लिखी थी। यद्यपि इससे पहले भी पूर्वाचार्यों द्वारा बहुत सी प्रांजल टीकाओं के लिखे जाने का उल्लेख स्वयं वृषभदेव ने ही किया है,[1] परन्तु वे सब अब अनुपलब्ध है तथा उनके उद्धरण भी अन्यत्र कहीं नहीं मिलते हैं। वृषभदेव की "पद्धति" भी अब केवल प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। श्री अय्यर द्वारा सम्पादित पूना के वाक्यपदीय संस्करण में पहले काण्ड पर इस टीका का सम्पूर्ण पाठ प्रकाशित है परन्तु श्री चारुदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित लाहौर संस्करण में इसके केवल उपयोगी अंश ही प्रकाश में आए हैं। इस टीका की प्रथम काण्ड के अन्त की पुष्पिका में इसका नाम "वाक्यपदीयपद्धति" मिलता है।[2] यह टीका कारिकाओं और वृत्ति दोनों को "वाक्यपदीय" मानकर {दोनों पर} लिखी गयी है।

महत्त्व :

यह पाण्डित्यपूर्ण टीका सुगम एवं प्रांजल शैली में लिखी गई है और वाक्यपदीय के गूढ़ाशयों को स्पष्ट करती जाती है। यह टीका कारिका और वृत्ति दोनों पर लिखी गई है। वृषभदेव पहले कारिका का भाव स्पष्ट करते हैं और फिर उसकी वृत्ति के शब्दों की व्याख्या करते हैं। अनेक स्थलों पर इस टीका में भर्तृहरिदर्शन के गूढ़ाशयों को और वृत्ति के कठिन स्थलों को

---

1. यद्यपि टीका बहवः पूर्वाचार्यैः सुनिर्मला रचिताः।
   सन्तः परिश्रमज्ञास्तथापि चैनां ग्रहीष्यन्ति ॥
   – वृषभदेव, वा॰ पद्धतिटीका, ब्रह्मकाण्ड, पृ॰।
2. इति वृषभरचितायां वाक्यपदीयपद्धतौ प्रथमं काण्डं समाप्तम्।
   – वृषभदेव की वा॰ । पर पुष्पिका। {ट्रावन्कोर लाइब्रेरी का हस्तलेख न॰ 307}

बड़े ही सरल ढंग से पूरी तरह स्पष्ट किया है । मूल ग्रन्थ के विषयों की सरल व्याख्या के द्वारा दर्शनविकास के अतिरिक्त इस व्याकरणागम परम्परा को हमारे हाथों तक पहुंचाने में भी ऐसी टीकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । श्रीवृषभ ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की व्याख्या के माध्यम से अनेक शास्त्रीय प्रमाण तथा सूचनाएं उपलब्ध कराई हैं जिनमें से अनेक बाद के दार्शनिक वैयाकरणों ने प्रामाणिक उद्धरणों के रूप में उद्धृत किया है । श्रीवृषभ के कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक वक्तव्य एवं विचार अगले अध्याय में भर्तृहरि की दार्शनिक देन और प्रमुख सिद्धान्तों के प्रसंग में तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन के प्रसंग में विवेचित किये जाएंगे जो "पद्धति" की महत्ता और इसकी प्रामाणिकता के परिचायक हैं ।

2. पुण्यराज : वाक्यकाण्ड की टीका (950 ई0)

परिचय :

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका उपलब्ध है जिसे व्याकरण-वाङ्मय में प्रामाणिक टीका माना जाता है । पुण्यराज काश्मीर के निवासी थे । उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था । उन्होंने शशांक के शिष्य से इस वाक्यकाण्ड का अध्ययन करके इसकी कारिकाओं पर टीका लिखी - यह उन्होंने स्वयं अपनी टीका के अन्तिम श्लोकों में लिखा है ।[1] यह शशांक कौन था और उसका शिष्य जो पुण्यराज का गुरु रहा, वह कौन था ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । पं0 चारुदेव शास्त्री के अभिमत[2] के अनुसार काश्मीरी विद्वान् शशांकधर का शिष्य सहदेव था, जिसने काव्यालंकारसूत्र पर टीका लिखी थी । यही सहदेव पुण्यराज का गुरु रहा

---

1. तत्रच उपश्रुत्य विरचिता राजानक-शूरवर्मनाम्ना वै ।।
शशांक शिष्याच्छ्रुत्वैतद वाक्यकाण्डं समासतः ।
पुण्यराजेन तस्योक्ता संगीतिः कारिकाश्रिता ।।
- वा·प·, काण्ड-2, पृ·291, ब·सं·सीरीज़·

2. वा·प·, 1 उपोद्घात पृ·13

होगा । क्योंकि सहदेव ने अपने गुरु शशांकधर की बहुत प्रशंसा की है, तथा पुण्यराज भी अपने गुरु का शशांक-शिष्य (शशांक का शिष्य) के रूप में सन्दर्भ देता है, वह परवर्ती को भी एक महान् विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित करता है ।[1] अतः प्रतीत होता है कि इन तीनों काश्मीरी विद्वानों में शशांकधर का शिष्य सहदेव पुण्यराज का गुरु रहा होगा ।

समय :

पुण्यराज का समय 950 ई0 के लगभग निश्चित होता है । पुण्यराज ने अपनी वाक्यपदीयप्रकाश टीका में लक्षणा के प्रसंग में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य - इन दो शब्दों का प्रयोग किया है ।[2] संस्कृत साहित्य में ये दो शब्द सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में प्रयुक्त किये हैं । आनन्दवर्धनाचार्य का समय इतिहासकारों ने 850 ई0 निर्धारित किया है,[3] अतः पुण्यराज इसके बाद हुए सिद्ध होते हैं ।

मुकुलभट्ट ने ध्वनि के उपरिलिखित भेदों का लक्षणा में अन्तर्भाव किया है ।[4] पुण्यराज ने भी ऐसा ही किया है, जिससे विदित होता है कि पुण्यराज मुकुलभट्ट के सिद्धान्त से प्रभावित थे । मुकुलभट्ट का समय 900 ई0 है,[5] अतः पुण्यराज उसके अनन्तर (950 के लगभग) हुए ।

पुण्यराज ने अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् या उसके मत का उल्लेख अपनी टीका में नहीं किया है । अभिनवगुप्त के ध्वन्यालोकलोचन को देखते

---

1. वा॰प॰, ब॰। उपोद्घात, पृ॰ 13 पर उद्धृत काव्यालंकार-सूत्र की सहदेवकृत टीका के तीन श्लोक ।
2. एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता । कदाचित् मुख्यार्थत्यागेनैव-अन्यस्योपलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते । कदाचिन्मुख्यार्थाविरामो-पायपूर्वकमन्यार्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितान्यपरवाच्यमुक्तं विज्ञेयम् ।
   - पुण्यराज, वाक्यपदीय, 2·315 पर
3. सं॰ का॰ शा॰ इति॰, पी॰वी॰ काणे, पृ॰ 210
4. अभिधावृत्तिमातृका, पृ॰ 20
5. सं॰का॰शा॰ इति॰, पी॰वी॰ काणे, पृ॰ 210

हुए वह बिना युक्ति के ध्वनि को लक्षणा के भीतर स्वीकार नहीं कर सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा किया है तो स्पष्ट है कि वह अभिनवगुप्त और उनकी रचना से अपरिचित होने से पूर्व हुए। अभिनवगुप्त का समय 1000 ई0 है।[1] अत: पुण्यराज का समय 950 ई0 निश्चित होता है।

वाक्यकाण्ड पर टीका :

पुण्यराज की वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड पर लिखी टीका का नाम संस्कृत विश्वविद्यालय बनारस के संस्करण के प्रथम पृष्ठ पर सम्पादक ने "प्रकाश" लिखा है। यह टीका भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के आधार पर लिखी गयी है तथापि वृत्ति कारिका में प्रतिपादित विषय पर विस्तार से मत-मतान्तर दर्शाते हुए अन्तस्तल तक पहुंच जाती है, परन्तु यह टीका कारिका का तात्पर्यमात्र का निर्देश करती है। जहां कारिका का आशय वृत्ति द्वारा ही स्पष्ट हो गया हो वहां पुण्यराज वैसा निर्देश करके बिना व्याख्या किए आगे बढ़ जाते हैं, उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझते।[2] तथापि यह टीका वृत्ति के समान दुरूह नहीं हैं अपितु सुगम, स्पष्ट एवं संक्षिप्त होने से श्रेष्ठ टीकाओं में मानी जाती है।

वाक्यपदीय के कुछ हस्तलेखों और प्रकाशित ग्रन्थों में यह टीका केवल दूसरे काण्ड पर ही लिखी मिलती है। तीसरे काण्ड पर पुण्यराज द्वारा टीका लिखने की कहीं कोई सूचना नहीं मिलती। प्रथम काण्ड पर पुण्यराज की टीका के विषय में श्री के॰ए॰ सुब्रह्मण्य अय्यर का मत[3] है कि निश्चितरूप से उसने इस काण्ड पर भी टीका लिखी थी, जैसा कि द्वितीय काण्ड की टीका के प्रारम्भ करने से अनुमित होता है। वहां एकदम प्रारम्भ

---

1. सं॰का॰शा॰ इति॰, पी॰वी॰काणे, पृ॰304

2. यथा - ...."ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्।"

......."तथा च टीकाकार: प्रदर्शयिष्यति।"

-पुण्यराजटीका, लाहौर संस्करण, पृ॰ 46॰10

3. के॰ए॰सु॰ अय्यर : भर्तृहरि, द्विवेदीकृत अनुवाद, पृ॰43

में पुण्यराज ने लिखा है – एवं शब्दस्य प्रयोजनसहितं स्वरूपादिकं लेशतो निर्णीतम् । .... इदानीं मतभेदेन .... द्वितीयकाण्डारम्भः ।"
"एवम्" शब्द यहां भर्तृहरि के मूल वाक्यपदीय सहित पुण्यराज की टीका द्वारा प्रथम काण्ड में किए गये विषयप्रतिपादन को सूचित करता है । यदि पुण्यराज की टीका लिखने का प्रयास केवल द्वितीय काण्ड से ही प्रारम्भ होता तो वह "एवम्" की बजाय "प्रथमकाण्डे" शब्द का प्रयोग करते और वहां मंगलाचरण आदि करते । तथापि इस काण्ड पर इस विद्वान् की टीका अब कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है । वाक्यपदीय के लाहौर संस्करण में बनारस संस्कृत सीरीज़ के सन् 1887 के संस्करण में तथा श्री रघुनाथ जी द्वारा सम्पादित काशी संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित नवीन संस्करण में पुण्यराज की टीका केवल दूसरे काण्ड पर ही प्रकाशित है जैसाकि इस काण्ड की टीका के अन्त के श्लोकों और पुष्पिका से भी स्पष्ट होता है ।[1] बनारस संस्कृत सीरीज़ के 1887 के संस्करण में छपी प्रथम काण्ड की टीका हरिवृषभ की अर्थात् भर्तृहरि की है [जिसे लघ्वीवृत्ति कहा जाता है] । ऐसा इस टीका के अन्त की पुष्पिका में स्पष्ट है ।[2] तथापि सम्पादक ने प्रथमकाण्ड के प्रारम्भ में "पुण्यराजकृत-प्रकाशाख्यटीका" इस प्रकार पुण्यराज शब्द न जाने क्या समझकर लिख दिया है । महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, डा० कुन्हन राजा,[3] श्री अय्यर[4] आदि अनेक विद्वानों ने इस सम्पादकीय शब्द को गलत ठहराया

---

1. तत्रश्च उपसृत्य विरचिता राजानक-शूरवर्मनाम्ना वै ।।
शशांकशिष्याच्छ्रुत्वैतद् वाक्यकाण्डं समासतः ।
पुण्यराजेन तस्योक्ता संगतिः कारिकाश्रिता ।।
इति पुण्यराजकृता वाक्यपदीयद्वितीयकाण्डटीका समाप्ता ।
-वा०, काण्ड-2, पृ० 291, बनारस सं० सीरीज़, 1887

2. इति श्रीमहावैयाकरणहरिवृषभविरचितवाक्यपदीयप्रकाशे आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं प्रथमं समाप्तम् । -वा०, पृ० 62 [वही]

3. डा० कुन्हन राजा, "डा० कृष्णास्वामी आयंगर स्मृतिग्रन्थ में प्रकाशित लेख, इत्सिंग और भर्तृहरि का वाक्यपदीय"

4. के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, भर्तृहरि का वाक्यपदीय, पृ० 43

है और एकमत से कहा है कि उक्त टीका बिना किसी सन्देह के हरिवृषभ की लघ्वी वृत्ति है और पुण्यराज की टीका केवल दूसरे काण्ड पर ही मिलती है ।

महत्त्व :

पुण्यराज की टीका प्राचीन टीकाओं में प्रामाणिक मानी जाती है । यह टीका संक्षिप्त है । जहां मूल कारिका का भाव वृत्ति द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है वहां तात्पर्यमात्र लिखकर पुण्यराज आगे बढ़ जाते हैं परन्तु जहां कोई बात उल्लेखनीय या उद्घाटनीय होती है - वहां अपना सारगर्भित व्याख्या करते हैं या वक्तव्य देते हैं । परन्तु वृत्ति और पुण्यराज की टीका की तुलना करने पर विदित होता है कि वृत्ति कारिका की व्याख्या में मत-मतान्तरों को विस्तार से प्रकट करती हुई अन्तस्तल तक पहुंच जाती है परन्तु पुण्यराज ऐसा नहीं कर पाते हैं । वह मत-मतान्तरों के झमेले में न पड़कर बचकर चलते हैं । वह इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि कहीं वह व्याख्या करते-करते सीमाएं न लांघ जाएं । उनके सारगर्भित संक्षेप को विद्वानों ने सराहा भी और यह भी आक्षेप किया है कि पुण्यराज अपनी व्याख्या के द्वारा भर्तृहरि-दर्शन की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाए हैं तथा उनके सिद्धान्तों को उस रूप में प्रकट करके स्थापित नहीं कर पाए हैं जो उन जैसे तलस्पर्शी विद्वान् से अपेक्षित था । तथापि पुण्यराज ने जितना लिखा है वह, संक्षिप्त, सारगर्भित, प्रमाणिक एवं महत्वपूर्ण है । पुण्यराज की व्याकरण-दर्शन के विकास में जो कुछ देन रही है, उसका कुछ अनुमान अगले अध्याय में भर्तृहरि-दर्शन के सन्दर्भ में आए उनके कुछेक वक्तव्यों या व्याख्यावचनों से लगाया जा सकता है ।

यहां यह बताना भी संगत होगा कि यद्यपि व्याकरण-दर्शन का अप्रतिम प्रतिनिधिग्रन्थ वाक्यपदीय संग्रह की तरह अति विशालकाय नहीं है, तथापि दार्शनिक एवं सूक्ष्म विश्लेषणों के कारण सामान्य पाठकों में उपयुक्त एवं प्रामाणिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है । पुण्यराज जैसे विद्वान् एवं प्रामाणिक टीकाकारों ने किसी सीमा तक इस आवश्यकता को पूरा करते हुए यह ग्रन्थ हम तक पहुंचाया है ।

हेलाराज : प्रकीर्णप्रकाश {975 ई0}

पुण्यराज के कुछ ही समय बाद हेलाराज नाम के प्रकाण्ड विद्वान् ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर टीका रची जो सम्प्रति मात्र तृतीय काण्ड पर ही उपलब्ध है । आजतक की टीकाओं में हेलाराज की टीका सर्वाधिक अधिकारपूर्ण एवं प्रामाणिक है ।

परिचय तथा समय :

वाक्यपदीय के तृतीय प्रकीर्ण नाम के काण्ड की हेलाराजकृत टीका "प्रकीर्णप्रकाश" के अन्त की पुष्पिका के श्लोकों से विदित होता है कि वह कश्मीर के निवासी थे । वह काश्मीरनरेश मुक्तापीड़ के मन्त्री लक्ष्मण के वंशज थे और श्री भूतिराज के पुत्र थे ।[1] इधर काश्मीर के प्रख्यात विद्वान् अभिनवगुप्त भी भूतिराज पुत्र "इन्दुराज" के शिष्य थे - ऐसा स्वयं अभिनवगुप्त ने भगवद्गीता पर लिखे अपने भाष्य के उपसंहार के श्लोकों में प्रतिपादित किया है । अतः विदित होता है कि इन्दुराज और हेलाराज सहोदर भाई थे तथा दोनों भूतिराज के पुत्र थे । यदि यह सत्य है तो अभिनवगुप्त, जिनका समय 1000 ई0 निश्चित किया गया है, के गुरु के भाई हेलाराज का समय 975 ई0 के आसपास होना चाहिए ।

काश्मीर के इतिहासकार महाकवि कल्हण ने दो श्लोकों में जानकारी दी है कि उनसे पूर्व के इतिहासकार पद्ममिहिर ने महामति हेलाराज के ग्रन्थ प्रकीर्ण-प्रकाश में उल्लिखित आठ राजाओं के नाम लेकर अपने ग्रन्थ में

---

1. मुक्तापीड़ इति प्रसिद्धिमगमत् काश्मीरदेशे नृपः ।
   श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः ।।
   मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो ।
   हेलाराज इमं प्रकाशमकरोच्छ्रीभूतिराजात्मजः ।।
   - वा॰प॰प्रकीर्णप्रकाश के अन्त की पुष्पिका

उन्हें शामिल किया था ।[1] डा० कीथ ने कल्हण का समय ग्यारहवीं शती का अन्तिम भाग स्वीकार किया है । अतः कल्हण द्वारा अपने से पूर्ववर्ती पद्ममिहिर और उससे भी पूर्ववर्ती हेलाराज का उल्लेख भी हेलाराज का समय 975 ई० के लगभग मानने की पुष्टि करता है ।

वाक्यपदीय पर टीकाएं:

हेलाराज ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर प्रामाणिक टीकाएं विभिन्न नामों से लिखी थी । इनमें से अब केवल तीसरे काण्ड पर ही प्रकीर्णप्रकाश नाम से टीका उपलब्ध है । हेलाराज ने तीसरे काण्ड की अपनी टीका की भूमिका में ही यह बात स्पष्ट कह दी है कि - "हमने व्याकरणागम की परम्परा का अनुसरण करते हुए वृत्ति के अनुसार पहले दो काण्डों पर सैद्धान्तिक अर्थों के तत्व का प्रतिपादन करने वाला प्रबन्ध लिख दिया है । अब बचे हुए इस तीसरे काण्ड पर प्रकाश नामक प्रबन्ध (टीकाग्रन्थ) लिखा जा रहा है ।[2]" स्पष्ट है कि हेलाराज ने आजकल प्राप्त होने वाले प्रकीर्णप्रकाश के अतिरिक्त पहले दो काण्डों पर भी टीकाग्रन्थ लिखे थे । उनमें से पहले काण्ड की उनकी टीका का नाम शब्दप्रभा था, यह उन्होंने प्रकीर्णप्रकाश में अनेक स्थलों पर लिखा है । वह कहते हैं कि इस विषय पर चर्चा यह ब्रह्म-

---

1· येषां द्वादशभिर्ग्रन्थसहस्रैः पार्थिवावलिः ।
प्राङ् महामतिना येन हेलाराजद्विजन्मना ।।
तन्मतं पद्ममिहिरो दृष्टाशोकादिपूर्वकान् ।
अष्टौ लवादीन् नृपतीन् स्वस्मिन् ग्रन्थे न्यवेशयत् ।।
- कल्हण, राजतरंगिणी, 1·17·18

2· काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः ।
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः ।।
तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन्सप्रपंचे स्वरूपतः ।
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते ।।
-हेलाराज, वाक्यपदीय प्रकीर्णप्रकाश की भूमिका ।

काण्ड या प्रथम काण्ड की शब्दप्रभा में कर चुके हैं ।[1] परन्तु दूसरे काण्ड की टीका का नाम क्या था, यह अवगत नहीं है । तथापि प्रकीर्णप्रकाश के उक्त भूमिकावचन से निश्चित है कि दूसरे काण्ड पर भी हेलाराज की टीका अवश्य थी । हेलाराज द्वारा रचित द्रव्यसमुद्देश की कारिका संख्या 15 की टीका में भाव-अभाव के प्रसंग में लिखा है कि इन दो में अन्तर की व्याख्या उन्होंने वाक्यप्रदीप में की है ।[2] इस वचन से सूचित होता है कि उनकी दूसरे काण्ड की टीका का नाम वाक्यप्रदीप था ।

हेलाराज का प्रकीर्णकाण्ड पर प्रकाश टीकाग्रन्थ दो त्रुटित अंशों को छोड़कर शेष पूरा मिलता है । जिस हस्तलेख के आधार पर यह टीका छपी है उसमें दो स्थलों पर लिपिकर ने निर्दिष्ट किया है कि यहां से ग्रन्थपात के सन्धान के लिए फुल्लराज की टीका लिखी जा रही है ।[3] काशी संस्कृत सीरीज़ के वाक्यपदीय संस्करण में यह प्रकीर्णप्रकाश पूरा छपा है तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय बनारस ने भी पं0 रघुनाथ शर्मा की अम्बाकर्त्री टीका के साथ हेलाराज का प्रकीर्णप्रकाश प्रकाशित किया है ।

अन्य रचनाएं :

हेलाराज ने वाक्यपदीय पर टीकाएं रचने से पूर्व क्रियाविवेक और वार्तिकोन्मेष नाम के दो ग्रन्थ रचे थे - यह उन्होंने प्रकीर्णप्रकाश में अनेक स्थलों में स्पष्ट लिखा है । उन्होंने एक सन्दर्भ में लिखा है कि वाक्यार्थ में

---

1. यथा - विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम् ।

   - हेलाराज, वा० 3·46 पृ० 39 काशीसंस्करण ।

2. विशेषश्चानयोर्वाक्यप्रदीपेऽस्माभिर्व्याख्यात इति तत एवावधार्यताम् ।

   - वा०प०, 3 पृ० 93 हेलाराज (काशी सं०)

3. क) इतो ग्रन्थपातसन्धानाय फुल्लराजकृतिर्लिख्यते । - वही, पृ० 178

   ख) इहापि प्रतिग्रन्था हेलाराजकृतिः फुल्लराजकृत्या सन्धीयते ।

   - वही, पृ० 124

क्रिया प्रधान होती है अत: उसी की अपेक्षा से कर्म का कारकत्व सिद्ध होता है । यह बात उन्होंने विस्तार से क्रियाविवेक में लिखी है अत: वहीं से जान ली जाए ।[1] सम्भवत: "क्रियाविवेक" वाक्यपदीय के क्रियासमुद्देश के आधार पर लिखी एक स्वतन्त्र रचना थी । प्रकीर्णप्रकाश में हेलाराज ने एक प्रसंग में लिंग को त्रिगुणों की ही एक अवस्था का रूप मानने के सिद्धान्त का व्याख्यान अपने वार्तिकोन्मेष में किए जाने का उल्लेख किया है ।[2] उन्होंने वाक्यपदीय की टीकाओं को लिखने से पहले तीसरा महत्वपूर्णग्रन्थ "अद्वयसिद्धि" लिखा था यह भी उनके प्रकीर्णप्रकाश के अनेकों वचनों से सूचित होता है,[3] परन्तु यह भी सम्प्रति अनुपलब्ध है । इस ग्रन्थ के नाम से सूचित होता है कि हेलाराज ने इस में शब्दाद्वैत पर लिखा होगा ।

महत्त्व एवं देन :

भर्तृहरि के व्याख्याकारों में हेलाराज का नाम मूर्धन्य है । यह एक ऐसा प्रामाणिक टीकाकार है जिसके व्याख्या-वचन अपने में प्रमाण बन जाते हैं । यह एक अधिकारी टीकाकार और लगभग भर्तृहरि के स्तर के प्रकाण्ड विद्वान् हैं । यह महाभाष्य में पारंगत, आगमशास्त्रों के ज्ञाता, विभिन्न दर्शन-शास्त्रों में निष्णात और वाक्यपदीय के परम मर्मज्ञ और भर्तृहरि के वास्तविक उत्तराधिकारी एवं अनुयायी हैं । इनकी टीका में जो मौलिकता, प्रामाणिकता तथा चारुता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । निस्सन्देह वृषभदेव तथा पुण्यराज की अपेक्षा हेलाराज कहीं अधिक अधिकारी और भर्तृहरि के आशय को

---

1. तथा च तदपेक्षं कर्मण: कारकत्वमेति वाक्यार्थप्रधानभूता क्रियेति क्रिया-विवेके विस्तरेणास्माभिरभिहितमिति तत एव अवधार्यताम् ।
   - हेलाराज, वा॰ जातिसमुद्देश, पृ॰44
2. ...... इत्यस्माभि: वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातं तत एवावधार्यताम् ।
   - वही, लिंगसमुद्देश, पृ॰446
3. कारणान्तरव्युदासश्चाद्वयासिद्धावभिहित इति सत्यार्थित्वे तत एवावगन्तव्य: ।
   - वही, द्रव्यसमुद्देश कारिका-15, पृ॰93

सही अर्थों में उद्घाटित करने वाले विद्वान् हैं । पतंजलि की इष्टियों के समान ही हेलाराज के अपने वक्तव्य भर्तृहरि-दर्शन को समृद्धि प्रदान करते हैं जो व्याकरण-दर्शन के विकासक्रम में महत्वपूर्ण हैं ।

वाक्यपदीय के दार्शनिक और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, व्याकरण के प्रक्रियात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से भी हेलाराज की व्याख्या अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और प्रामाणिक है । भर्तृहरि विभिन्न मतों से सम्बन्धित सिद्धान्तों को उनके नाम लेकर प्रकट नहीं करते हैं जबकि हेलाराज स्पष्ट करते हैं कि भर्तृहरि ने यह सिद्धान्त किस दर्शन या मत की दृष्टि से प्रतिपादित किया है । अतः वह उसी अधिकार के साथ उसकी व्याख्या या समन्वय करते चले जाते हैं । वह कारिका के शब्दों की व्याख्या में नहीं पड़ते हैं अपितु सम्पूर्ण कारिका के विषय में स्वतन्त्र लेखक के समान अधिकारपूर्वक वक्तव्य देते चले जाते हैं । वह अपने विचारों को प्रकट करने के लिए कारिका के शब्दों पर निर्भर नहीं करते हैंजो हेलाराज की मौलिकता का परिचायक है । हेलाराज की ब्रह्मकाण्ड की शब्दप्रभा तथा वाक्यकाण्ड की वाक्यप्रदीप नाम की टीकाएं और उनकी क्रियाविवेक, वार्तिकोन्मेष तथा अद्वयसिद्धि रचनाएं लुप्त होने से संस्कृत व्याकरण-दर्शन को हानि हुई है । उनकी ये रचनाएं भी उपलब्ध होती तो व्याकरण-दर्शन की विचार-राशि में निस्सन्देह और अधिक वृद्धि होती । तथापि जो कुछ उपलब्ध है, वह भी मौलिक, प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण है । प्रामाणिक एवं आधिकारिक व्याख्या के रूप में हेलाराज की देन तथा उनकी अपनी विशिष्ट उद्भावनाओं तथा विचारों का परिचय उदाहरण-रूप में अगले अध्याय में भर्तृहरि-दर्शन तथा व्याकरण-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के प्रसंग में दिया जाएगा । यहां यह कहना उचित होगा कि परम्परा से प्राप्त व्याकरण-दर्शन को भर्तृहरि ने विकास की जिस सीमा तक पहुंचाया है, हेलाराज ने न केवल उसे समर्थित एवं पुष्ट किया है अपितु अपने समकालीन कैयट तथा अपने सूत्रवर्ती उत्तरवर्ती नागेश की भान्ति स्वतन्त्र वक्तव्य एवं व्यवस्थाएं देकर अपने व्यक्तित्व एवं विचारों की पृथक् एवं विशेष छाप छोड़ी है । कुल मिलाकर हेलाराज का प्रकीर्णप्रकाश व्याकरण-दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अगली कड़ी है ।

फुल्लराज : प्रकीर्णटीका (975 ई0 से पूर्व)

वाक्यपदीय के तीसरे काण्ड पर हेलाराजकृत प्रकीर्णप्रकाश टीका में दो स्थलों पर खण्डित पाठ को पूरा करने के लिए फुल्लराज की टीका को लिखा गया है और ऐसा लिपिकार ने स्पष्ट निर्दिष्ट किया है ।[1] इसी से मालूम होता है कि फुल्लराज ने भी कम से कम प्रकीर्णकाण्ड पर व्याख्या अवश्य लिखी थी । फुल्लराज के सम्बन्ध में तथा उन द्वारा टीका लिखने के विषय में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता । उन्होंने पहले दो काण्डों पर भी टीका-ग्रन्थ लिखा था या नहीं इस विषय में भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । फुल्लराज का स्थान और समय भी अज्ञात है । हेलाराज के प्रकीर्णप्रकाश के अन्तर्गत फुल्लराज की टीका के अंशों के समावेश से और नामसाम्य से अनुमान होता है कि फुल्लराज भी पुण्यराज और हेलाराज की भान्ति काश्मीरी रहे होंगे । प्रकीर्णप्रकाश में छपे उनकी टीका के दो अंशों को देखने से पता चलता है कि यह टीका भी प्रकाश की तरह ही सरल एवं सुगम है और वाक्यपदीय को सुबोध बनाने में सहायक रही है । फुल्लराज निश्चय ही हेलाराज (समय 975 ई0) से पूर्व हुए हैं, परन्तु कब हुए यह कुछ नहीं कहा जा सकता है ।

धर्मपाल : प्रकीर्णटीका (550 ई0)

चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा के वर्णन में लिखा है कि धर्मपाल ने भर्तृहरि के "पेइन" (प्रकीर्ण) ग्रन्थ पर टीका लिखी थी । भर्तृहरि के वाक्यपदीय (पहले दो काण्डों) की चर्चा करने के बाद इत्सिंग

---

1. क) इतो ग्रन्थपातसन्धानाय फुल्लराजकृतिर्लिख्यते ।

-हेलाराजकृत वा.प्र. प्रकाश. , पृ. 198 काशी संस्करण

ख) इहापि पतितग्रन्था हेलाराजकृतिः फुल्लराजकृत्या सन्धीयते ।

- वही, काशीसंस्करण ।

लिखता है - "इसके अनन्तर पेइन है, इसमें 3000 श्लोक हैं । और इसका टीका-भाग 14000 §गद्य§ श्लोक परिमित है । श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीका-भाग शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल का है ।"[1] बाद के विद्वानों ने इत्सिंग द्वारा उल्लिखित भर्तृहरि के "पेइन" की पहचान प्रकीर्ण-काण्ड §प्राकृतरूप पैण्ण§ से की है । धर्मपाल की व्याख्या के बारे में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता और उनकी उक्त टीका भी अब अप्राप्य है ।

धर्मपाल अपने समय में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे । वह शीलभद्र के गुरु थे । शीलभद्र ह्वेनच्यांग §625 ई0§ की भारत यात्रा के समय इतने ज्यादा वृद्ध थे कि वे ह्वेनच्यांग को पढ़ा नहीं सकते थे । शील-भद्र गुरु धर्मपाल की मृत्यु 570 ई0 में हो गयी थी ।[2] अतः धर्मपाल द्वारा प्रकीर्णकाण्ड पर व्याख्या लिखने का समय 550 ई0 के आसपास हो सकता है ।

गंगदास : टीका §समय अज्ञात§

पण्डित गंगदास द्वारा वाक्यपदीय के तीसरे काण्ड पर लिखी टीका के हस्तलेख के केवल 9 पत्रे भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना में सुरक्षित है । इससे विदित होता है कि पण्डित गंगदास ने वाक्यपदीय के प्रकीर्णकाण्ड पर व्याख्या लिखी थी । पहले दो काण्डों पर भी उन्होंने टीका लिखी थी या नहीं, यह अज्ञात है । उपलब्ध हस्तलेख के अन्तिम पत्रे पर ग्रन्थ का उपसंहार इस प्रकार है - "§ इति पण्डित गंगदा§ सविरचिते सम्बन्धोद्देशः । षष्ठस्त-द्वितोद्देशः समाप्तः ।" इस पाठ में "इति पण्डित गंगदा" इतना अंश कोष्ठ में लिखा है ।[3] पं0 गंगदास का स्थान और समय अज्ञात है ।

---

1. इत्सिंग की भारतयात्रा, सन्तराम बी॰ए॰ द्वारा अनूदित, पृ॰ 276

2. Introduction to Vaisheshika Philosophy according to the DASHAPADARTHI SHASTRA-By H.U.I.1917p. 10

3. पं॰ यु॰ मीमांसक, सं॰ व्या॰शा॰इति॰, भाग-2, पृ॰410

द्रव्येश झा : ब्रह्मकाण्डटीका 1926 ई0

सन् 1926 में श्री द्रव्येश झा द्वारा वाक्यपदीय पर लिखी संस्कृत-टीका प्रकाशित हुई है, जो इस भांति की पहली टीका है । यह टीका विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मकाण्ड पर ही लिखी गई है । इसकी भाषा और शैली की तुलना से ज्ञात होता है कि यह वाक्यपदीय के काशीसंस्करण (1887) में प्रकाशित भर्तृहरि की वृत्ति के आधार पर रची गई है । इसमें इस वृत्ति का आश्रय लेकर केवल कारिकाओं की ही व्याख्या की गई है । वृत्ति और कारिका के एककर्तृत्व के विषय में इसमें कोई चर्चा नहीं की गई है । यह टीका भर्तृहरि-दर्शन के विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त उपयोगी रही है । हरिवृत्ति का आश्रयण करने से कहा जा सकता है कि यह भर्तृहरि के अभिप्राय को ही स्पष्ट करती है ।

पं0 सूर्यनारायण शुक्ल : भावप्रदीप (1937 ई0)

काशी के पं0 सूर्यनारायण शुक्ल ने भी केवल वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड पर "भावप्रदीप" नाम की व्याख्या लिखी है जो काशी संस्कृत सीरीज़ पुस्तकमाला में सन् 1937 में प्रथम बार प्रकाशित हुई है । यह व्याख्या उन्होंने यथार्थ के अवबोध के लिए सरलव्याख्या पढ़ने वाले छात्रों के लिए लिखी है - ऐसा उन्होंने स्वयं भूमिका में प्रतिपादित किया है ।[1] निस्सन्देह यह व्याख्या विद्यार्थियों के लिए सरल और उपयोगी सिद्ध हुई है, विशेषतया इसके रामगोविन्द शुक्ल द्वारा रचित हिन्दी रूपान्तर के कारण । परन्तु इससे "यथार्थ" का बोध कितना हो पाया है यह भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के साथ इस व्याख्या की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है । शुक्लजी ने अपने इस "भावप्रदीप" में केवल मूलकारिकाओं का स्वतन्त्र व्याख्यान किया है । इसमें भर्तृहरिकृत वृत्तिभाग की व्याख्या नहीं की गई है और न ही उसका आश्रयण लिया गया है ।[2] व्याकरण के अतिरिक्त वेदान्त, मीमांसा और नव्यन्याय के पण्डित और इन सभी विषयों के व्याख्याकार[3] पं0 सूर्यनारायण शुक्ल ने अधिकांश कारिकाओं

---

1. सूर्यनारायणशुक्ल की वा·प· ब्रह्मकाण्ड की भूमिका ।
2. के·ए·सु·अय्यर, वा·प·काण्ड-1, अम्बाकर्त्री सहित की भूमिका ।
3. रामगोविन्द शुक्ल, वा·प· काण्ड-1, भावप्रदीप सहित की भूमिका ।

की व्याख्या में व्याकरणदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ तालमेल बैठाने का प्रयास किया है । इससे भी यह व्याख्या भर्तृहरि के मूल अभिप्राय से हट गई है तथा छात्रों का स्तर दृष्टिगत रखते हुए भी वैदुष्यद्योतक बन गई है । तथापि पं॰ सूर्यनारायण शुक्ल जी का सरल और रोचक शैली में दर्शन के गूढ़ रहस्यों तक आज के छात्रों को पहुंचाने का यह स्वतन्त्र प्रयास श्लाघ्य है ।

पं॰ रघुनाथ शर्मा : अम्बाकर्त्री व्याख्या (1963-77 ई॰)

सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर आज तक की सबसे बड़ी बृहदाकार, परन्तु प्रांजल टीका काशी के विद्वान् पं॰ रघुनाथ शर्मा ने लिखी है, जो निस्सन्देह श्रीवृषभ, पुण्यराज और हेलाराज की टीकाओं के समान प्रथम श्रेणि की टीकाओं में आती है । यह इस शती की सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक टीका है जिसे विद्वानों ने बार-बार सराहा है । प्रथम काण्ड पर इनकी यह टीका 1963 में और द्वितीय काण्ड पर सन् 1968 में प्रकाश में आई । विद्वानों में इसका इतना अभिनन्दन हुआ कि वाक्यपदीय में गहरी रुचि रखने वाले शोधकर्ता और अन्य विद्वान् लोग तीसरे काण्ड पर भी इस टीका के प्रकाशित होने की लगातार प्रतीक्षा में रहे और सन् 1974 में इस अन्तिम एवं विशाल काण्ड पर भी तीन समुद्देशों पर अम्बाकर्त्री प्रकाश में आ गई । शेष समुद्देशों पर भी यह टीका अब दो खण्डों में प्रकाशित हो गयी है । वाक्यपदीय पर अम्बाकर्त्री व्याख्या के ये सभी पांच खण्ड वाराणसी के वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किए हैं ।

पण्डित रघुनाथ शर्मा की "अम्बाकर्त्री" की प्रामाणिकता और महत्ता का मुख्य कारण यह है कि इन्होंने वाक्यपदीय का पहला भाग सम्पूर्ण ब्रह्मकाण्ड कारिकाओं के साथ भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति को सम्बद्ध करके उस वृत्ति की मूलभावना के आधार पर कारिकांश और फिर वृत्त्यंश - दोनों पर यह व्याख्या लिखी है । सन् 1968 में प्रकाशित द्वितीय काण्ड भी इन्होंने इस काण्ड पर उपलब्ध हरिवृत्ति को कारिकाओं के साथ सम्बद्ध करके पुण्यराज की टीका और अपनी "अम्बाकर्त्री" टीका के साथ सम्पादित किया है । इस

काण्ड की अम्बाकर्त्री भी कारिकांश और उपलब्ध वृत्यंश - दोनों पर भर्तृहरि और पुण्यराज की परम्परा तथा भावना पर अपनी विशिष्ट शैली में लिखी है । तीसरा बृहत् प्रकीर्णकाण्ड इन्होंने क्रमश: तीन खण्डों में हेलाराज की प्रकाश व्याख्या और अपनी अम्बाकर्त्री के साथ सम्पादित किया है । इस काण्ड की "अम्बाकर्त्री" इन्होंने हेलाराज की व्याख्या का आश्रय लेकर लिखी है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० रघुनाथ शर्मा जी ने सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर एक विशिष्ट व्याख्या लिखने के साथ-साथ हरिवृत्ति, पुण्यराज और हेलाराज की टीकाओं और स्वकृतटीका के साथ इस सम्पूर्ण विशाल ग्रन्थ को सम्पादित करने का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है । इस गुरूतम कार्यभार को पूरा करने में रात-दिन के अनथक परिश्रम के साथ इनके लगभग तीस वर्ष लगे हैं । जहां तक अम्बाकर्त्री की महत्ता और उपादेयता की बात है, इससे पहले हरिवृत्ति और कारिकाभाग - दोनों पर लिखी वृषभदेव की पद्धति केवल प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध थी । पुण्यराज की प्रामाणिक टीका केवल द्वितीय काण्ड पर तथा हेलाराज की केवल तृतीय काण्ड पर ही प्राप्य रही । पं० रघुनाथ की यह परम्परानुसारिणी तथा प्रामाणिक अम्बाकर्त्री टीका वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर सर्वजनसुलभ हो गयी है । व्याकरण और भारतीय दर्शनों के पारम्परिक और तलस्पर्शी विद्वान् पं० रघुनाथ जी की यह व्याख्या भर्तृहरि, पुण्यराज, हेलाराज आदि की परम्परा से प्राप्त व्याकरणागम की अनुगामिनी होते हुए भी व्याकरणदर्शन के रहस्यों के उद्घाटन करने में विशिष्ट, नवीन और स्वतन्त्र है । इन दोनों विशेषताओं से "अम्बाकर्त्री" ने इस महाविद्वान् को वृषभदेव, पुण्यराज और हेलाराज जैसे प्राचीन प्रामाणिक व्याख्याकारों की अग्रश्रेणि में लाकर खड़ा कर दिया है ।

1• अम्बाकर्त्र्यां न केवलं वाक्यपदीयगतकारिकार्थो विशदं व्याख्यात:, प्रकाशोऽपि हेलाराजकृतो यथायोगं स्पष्टीकृत इति विदुषां महानुपकार: कृत: व्याख्यातृपर्यै: ।

-वा•प• कारिका-1, अम्बाकर्त्री पर सु• अय्यर-कृत उपोद्घात पृ• ।

परिचय :

पण्डित रघुनाथ शर्मा ने वाक्यपदीय के प्रत्येक प्रकाशित खण्ड में अपनी टीका के अन्त में श्लोकों में अपना परिचय दिया है ।[1] तदनुसार इनका जन्म काशी के समीप बलिया मण्डल के अन्तर्गत "छाता" नामक गांव में ब्राह्मणकुल में हुआ । इन्होंने अपनी माता का नाम सुभद्रा[2] तथा पिता का नाम काशीनाथ लिखा है । हरिनाथ शर्मा इनके छोटे भाई हैं । इनका अध्ययन अध्यापन और लेखन कर्म में अधिकांश जीवन काशी में ही बीता है ।

वाक्यपदीय की संस्कृतेतर भाषाओं की टीकाएं

वाक्यपदीय की उपरि वर्णित सभी टीकाएं संस्कृत में रची गई हैं । संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी विद्वानों ने वाक्यपदीय पर टीकाएं लिखी हैं । श्री शान्तिभिक्षुशास्त्री ने सन् 1957 में वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं की अंग्रेजी में व्याख्या की है । इसे पश्चिमी जर्मनी के लिप्जिग विश्वविद्यालय में 1963 में प्रकाशित किया है । फ्रांस की विदुषी डा० एम० बियार्दो ने सन् 1964 में पं० चारुदेव द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड तथा हरिवृषभ की वृत्ति का फ्रांसिसी भाषा में अनुवाद किया है । डा० के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ने वाक्यपदीय के वृत्ति सहित प्रथम काण्ड का अंग्रेजी अनुवाद सन् 1965 में तथा तृतीय काण्ड का सन् 1971 में लिखकर प्रकाशित किया है । सम्प्रति इनका द्वितीय काण्ड का अंग्रेजी अनुवाद भी

---

1. काशीनाथतनूजेन हरिनाथानुजन्मना ।
   बलियामण्डलान्तःस्थे छाताग्रामे जनुर्भृता ।।
   - वा॰प॰काण्ड-1, अम्बाकर्त्री का अन्तिम श्लोक-3

2. सौभद्ररघुनाथेन कृतेयं कृतिरुत्तमा ।
   शिवापादयुगे न्यस्ता स्थेयादाचन्द्रतारकम् ।।
   - वही, श्लोक-4

प्रकाश में आ गया है । दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० सत्यकाम शर्मा ने विद्यार्थियों के उपयोग के उद्देश्य से ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं पर संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी में संक्षिप्त टीका लिखी है जो सन् 1970 में प्रकाशित हुई है । राम गोबिन्द शुक्ल ने अपने पिता सूर्यनारायण-शुक्ल की संस्कृत भावप्रदीप टीका के आधार पर वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं पर हिन्दी में टीका लिखी है । गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के उपाचार्य डा० शिवशंकर अवस्थी ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं तथा वृत्ति पर "विवरण" नाम की विस्तृत हिन्दी टीका लिखी है, जो चौखम्बा विद्याभवन ने सन् 1990 में प्रकाशित की है ।

निष्कर्ष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याकरण-दर्शन के विकास के इतिहास में भर्तृहरि और उनके व्याख्याकारों का विशिष्ट योगदान रहा है । पातंजल महाभाष्य के उपरान्त भर्तृहरि का वाक्यपदीय ही ऐसा ग्रन्थ है जिससे व्याकरण-दर्शन को सही अर्थों में सार्थकता प्राप्त हुई है तथा यह दर्शन भारतीय दर्शनों की उच्च श्रेणि में गिना जाने लगा है । भर्तृहरि एवं वाक्यपदीय के व्याख्याकारों विशेषतया श्रीवृषभदेव, पुण्यराज, हेलाराज और पं० रघुनाथ शर्मा ने वाक्यपदीय के रहस्यों को उद्घाटित करने का महनीय कार्य किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से निस्सन्देह महत्वपूर्ण है ।

-:-:-:-:--:-

पंचम-अध्याय

भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्त

पंचम अध्याय

भर्तृहरि के अनुसार व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त

वेदों पर निष्ठा रखते हुए और प्राचीन व्याकरणागम का आश्रय लेकर सभी दर्शनमार्गों का समानरूप से गम्भीर ज्ञान रखने वाले महान् दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि ने राग-द्वेष और पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर जिस तत्त्वपरक आर्षदृष्टि से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक पक्षों को विवेचित और उद्घाटित किया है - उससे व्याकरणदर्शन ने विकास के उच्चतम शिखर को प्राप्त करके समस्त भारतीय दर्शनों में अत्युच्च प्रतिष्ठाजनक स्थिति को प्राप्त किया है । भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त व्याकरणदर्शन के मान्य सिद्धान्त हैं तथा व्याकरणदर्शन के विकासक्रम में ऐतिहासिक महत्व रखते हैं । इनमें से प्रमुख सिद्धान्तों का नातिविस्तृत परिचय यथेष्ट समीक्षा के साथ देना अपेक्षित है, जो क्रमशः इस प्रकार है -

प्रमाण-मीमांसा

अनिर्ज्ञात पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाण का उपयोग नितान्त आवश्यक होता है । व्याकरणमहाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार जिस साधन से अनिर्ज्ञात का विश्लेषण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान होता हो उसे "मान" या "प्रमाण" कहते हैं ।[1] व्याकरणदर्शन में प्रतिभा-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अभ्यास, अदृष्ट, व्यवहार, अर्थापत्ति तथा चेष्टादिक को ज्ञान का साधन अर्थात् प्रमाण माना गया है । प्रत्यक्ष यहाँ दो प्रकार का माना गया है - लौकिक और योगज । इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है[2]

1· मानं हि नामानिर्ज्ञातार्थमुपादीयते, अनिर्ज्ञातार्थं ज्ञास्यामीति ।

—व्या·म·भा·, 2·1·55

2· क) योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः । - वा·मु·, अनुमान खण्ड

ख) अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते । - वा·प·, 1·37

ग) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।

—न्या·सू·, 1·1·4

तो योगावस्था में ऋषियों या शिष्टों की अन्तर्दृष्टि से जन्य ज्ञान अलौकिक अथवा योगज प्रत्यक्ष माना गया है ।[1] शब्द प्रमाण यहाँ दो प्रकार का है - सामान्य व्यवहार के आप्त-वचन और आगम ।[2] आगम में श्रुति और स्मृति दोनों आते हैं ।[3] पतंजलिकृत महाभाष्य और भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में तथा तदनन्तर कैयटकृत प्रदीप, नागेशभट्टकृत उद्योत, मंजूषा और शेखर ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाणों को मानने के सम्बन्ध में व्यापक चर्चा हुई है । इनमें उपमान को हेलाराज आदि ने यह कहते हुए प्रमाण न मानकर प्रमाण के समीप (उप-मान) माना है कि वहाँ गवय एवं उसके सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है । उपमान से तो आंशिक ज्ञान होता है ।[4]

महाभाष्य, प्रदीप, उद्योत, शेखर आदि में "व्यवहार" को भी प्रमाण माना गया है ।[5] वैयाकरणों ने शब्दशास्त्रीय प्रक्रिया में अनुपपत्तिमूलक "अर्थापत्ति" प्रमाण का भी बहुशः उपयोग करके अर्थों की सिद्धि की है ।[6] महाभाष्यकार ने चेष्टादि संकेतों को भी लोक-व्यवहार में अर्थ-ज्ञान के साधन के रूप में प्रतिपादित किया है ।[7]

भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में अलग-अलग सन्दर्भों में प्रमाणों पर पर्याप्त चर्चा की है । उनके अनुसार "मान" या "प्रमाण"

---

1. अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । - वा॰प॰, 1.38
2. ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् । - वा॰प॰, 1.30
3. वा॰प॰, 1.144
4. वा॰प॰, 2.360 पर हेलाराज
5. क) त्रिविधवृद्ध व्यवहाराद् तेषामर्थो विज्ञायत एव । -व्या॰म॰भा॰, 2.1.1 पर प्रदीप

   ख) आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाभरपरं भवतीति । - वही, आ॰-1
6. यथा - सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमिति भाष्यवार्तिकप्रदीपे - संज्ञयैव आक्षिप्तः संज्ञीत्यर्थः -इति । -लघु॰पा॰सू॰, 1.1.7।
7. अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च ।
   -व्या॰म॰भा॰, 2.1.1

वह साधन है, जिसके द्वारा सर्वथा अज्ञात वस्तु का निःशेषरूप से अर्थात निश्चयपूर्वक ज्ञान हो ।[1] भर्तृहरि के विवेचनों से विदित होता है कि वह प्रत्यक्ष (लौकिक और योगज), अनुमान, शब्द (सामान्य आप्त वचन, वेद और आगम) उपमान और प्रतिभा को ज्ञान का साधन, अर्थात प्रमाण मानते हैं ।

प्रत्यक्ष :

इन्द्रिय और उसके विषय के सामीप्य से होने वाला ज्ञान ऐन्द्रिय है जिसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है ।[2] भर्तृहरि इस लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त योगज या *अलौकिक* प्रत्यक्ष को भी सर्वथा विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं । वह लिखते हैं कि राग-द्वेष, रजो-गुण और तमोगुण से जिनका अन्तःकरण कलुषित नहीं हुआ है, जो ज्ञानरूप-प्रकाश से समन्वित हैं, ऐसे ऋषियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा की अन्तर्दृष्टि से होने वाला अतीत और भविष्य का ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष की भान्ति विश्वसनीय होता है ।[3]

चक्षुः, श्रोत्र, रसना आदि इन्द्रिय के सन्निकर्ष से लौकिक पदार्थों को तो जाना जा सकता है परन्तु जो पदार्थ इन्द्रिय से परे हैं, जैसे - धर्म, स्वर्ग, परमात्मा, मोक्ष आदि उन्हें लौकिक प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता । उन्हें जानने का साधन अनुमान भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है । ऐसे पदार्थों को ऋषि लोग अपने आर्ष चक्षुः से अर्थात योगजप्रत्यक्ष से जानकर प्रतिपादित करते हैं । अतः ऐसा ज्ञान अनुमान द्वारा बाधित नहीं होता है ।[4] भर्तृहरि के मत में अनुमान से अधिक विश्वसनीय लौकिक प्रत्यक्ष है तथा इन दोनों से

---

1. अनिर्ज्ञातस्य निर्ज्ञानं येन तत्प्रमानमुच्यते । -वा॰प॰, 3·357

2. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । - न्या॰द॰, 1·1·4

3. आविर्भूत-प्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।। - वा॰प॰, 1·37

4. अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।। - वा॰प॰, 1·38

अधिक विश्वसनीय योगज प्रत्यक्ष है ।[1]

अनुमान :

भर्तृहरि लौकिक व्यवहार में अनुमान की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं कि हम किसी भी वस्तु के समस्त अवयवों को पूरा नहीं देख सकते हैं। जितने अवयवों का प्रत्यक्ष होता है, उनसे हम शेष अदृष्ट अवयवों को अनुमान से जान लेते हैं।[2] अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि में अनुमान को सहायक मानते हुए भी उसे सर्वथा विश्वसनीय नहीं माना है। भर्तृहरि कहते हैं कि अनुमान करने में चतुर (कपिल आदि) महर्षियों ने जिस पदार्थ की सिद्धि बड़े यत्न से अनुमान द्वारा की है, उसी को दूसरे (कणाद आदि) ने अन्यथा ही साबित कर दिया।[3] अतः आगममूलक तर्क ही धर्म आदि पदार्थों को सिद्ध कर सकता है।[4] जिस प्रकार दुर्गम मार्ग पर सहायक के बिना दौड़ने वाले अन्धे का गिरना दुर्लभ नहीं है, उसी प्रकार आगम के बिना केवल अनुमान को प्रधान साधन बनाकर ज्ञान प्राप्त करने वाले का तात्विक ज्ञान की प्राप्ति से पतन निश्चित है।[5]

शब्द या आगम :

वैयाकरण लोग "शब्दप्रमाणका: वयम्, यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्"[6] कहते हुए "शब्द" को प्रमुख प्रमाण मानते हैं। जो पदार्थ न तो स्वयं "प्रत्यक्ष" से जाना हो और न ही अनुमान से, परन्तु किसी अन्य ने लौकिक प्रत्यक्ष या योगज प्रत्यक्ष से जाना हो, उसे हम "शब्द" प्रमाण से जान सकते हैं।

---

1. वा॰प॰, 1·37
2. दुर्लभं कस्यचिल्लोके सर्वावयवदर्शनम् ।
   कैश्चित्त्ववयवैर्दृष्टैरर्थ: कृत्स्नोऽनुमीयते ।। – वा॰प॰, 2·161
3. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ: कुशलैरनुमातृभि: ।
   अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।। – वा॰प॰, 1·34
4. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते । – वा॰प॰, 1·30
5. हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
   अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभ: – वा॰प॰, 1·42
6. व्या॰म॰भा॰, आह्निक–1

किसी आप्त पुरुष का सत्य वचन ‖लिखित या मौखिक‖ "शब्द" प्रमाण कहलाता है । यह शब्द-प्रमाण भर्तृहरि ने तीन प्रकार का माना है - व्यावहारिक आप्त-वचन, वेद तथा आगम । लोक आप्तशब्द सुनकर या पढ़कर ही तो अर्थों या विचारों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । वेद अतीन्द्रिय तत्त्व शब्दब्रह्म को जानने का साधन है ।[1] श्रुति और स्मृतिरूप आगम समस्त धर्माधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने का साधन है ।[2] वाक्यपदीय में "आगम" श्रुति और स्मृति की अनवच्छिन्न परम्परा को कहा गया है, जिसमें शिष्टों के सुदीर्घकाल से चले आ रहे विश्वास एवं आधार भी सम्मिलित हैं ।[3] यह आगम आत्मवत् नित्य और अविच्छिन्न है, अतः इसे कोई भी अन्य तर्क बाधित नहीं कर सकता है ।[4]

उपमान :

भर्तृहरि किसी अंश में उपमान को भी प्रमाण स्वीकार करते हैं । वह कहते हैं कि जिस प्रसिद्ध ‖गौ आदि‖ के साधर्म्य से अप्रसिद्ध ‖गवय आदि‖ का अनिर्ज्ञात धर्म जाना जाये, ज्ञान के उस साधनभूत को उपमान कहते हैं ।[5]

अभ्यास :

वाक्यपदीयकार ने अभ्यास नाम के प्रमाण की भी चर्चा की है । वह कहते हैं कि स्वर्णकार आदि लोगों के मणि आदि के सत्य-असत्य तथा उसके मूल्य के तारतम्य आदि का विशेष ज्ञान अनुमान आदि से नहीं बल्कि "अभ्यास" से होता है । इससे स्पष्ट होता है कि वह "अभ्यास" को भी

---

1. प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः । -वा॰प॰ 1·5
2. नागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते । - वा॰प॰, 1·30
3. वा॰प॰, 1·41, 136 तथा इनपर हरिवृत्ति
4. चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
   आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ।। -वा॰प॰, 1·41
5. अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते ।
   साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते ।। - वा॰प॰, 3·360

प्रमाण मानते हैं ।[1] दूसरे अध्याय में भर्तृहरि ने इसे ज्ञान के "प्रतिभा" नाम के परम प्रमाण के उद्बोधन का हेतु बताया है ।[2]

अदृष्ट :

वाक्यपदीयकार अगली कारिका में कहते हैं कि लोक में प्रसिद्ध पितर, राक्षस और पिशाच आदि को सिद्धियों से जो (बन्द कमरे की वस्तुओं, गड़े धन आदि का) ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष या अनुमान से तो होता नहीं । ऐसा ज्ञान कर्माधीन है जो "अदृष्ट" के बल पर ही किसी को प्राप्त होता है ।[3] दूसरे अध्याय में भर्तृहरि ने अदृष्ट को भी "प्रतिभा" का हेतु बताया है ।[4]

प्रतिभा :

भर्तृहरि ने प्रतिभा को सभी प्रमाणों में प्रामाणिक एवम् विश्वसनीय प्रमाण माना है । हमारा अन्तःकरण जो ज्ञान देता है वह प्रतिभा है । यह एक अन्तःसंज्ञा है । यह पदार्थ से भिन्न है । पदार्थ ज्ञान के अनन्तर सम्पूर्ण बौद्ध वाक्यार्थ सहसा कौंध जाता है।[5] इसे अन्यों को बताना सरल नहीं है । यह स्वसंवेदन का विषय है । प्रत्येक इसका अनुभव करता है, परन्तु इसे बता नहीं पाता ।[6] इस अन्तःसंज्ञारूप प्रतिभा को सभी लोक प्रमाण मानते हैं ।[7] इसीलिए कहा है कि सन्दिग्ध वस्तुओं में सात्त्विक लोगों की अन्तःकरण की

---

1. परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते ।
   मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ।। - वा॰प॰, 1·35
2. वा॰प॰, 2·152
3. प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः ।
   पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः ।। -वा॰प॰, 1·36
4. वा॰प॰, 2·152
5. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैवोपजायते ।
   वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ।। - वा॰प॰ 2·143
6. वा॰प॰, 2·144
7. प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति । -वा॰प॰, 2·147

वृत्तियां ही प्रमाण होती हैं ।[1] इस अन्तःसंज्ञारूप प्रतिभा के बल पर तो पशु-पक्षी तक अपने स्वाभाविक कार्य बिना किसी प्रेरणा या शिक्षा के करते हैं ।[2] यह समझ की एक चमक (उपदर्शन) सी है जो हमें प्रेरणा देती है कि अब हमें क्या करना चाहिए ।[3] इस प्रकार प्रतिभा नाम की इस अन्तःकरण की वृत्ति को भर्तृहरि ने परम प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया है । भर्तृहरि कहते हैं कि यह प्रतिभा स्वभाव, चरण, अभ्यास, योग, अदृष्ट तथा विशिष्टोपधान - इन छः हेतुओं से उद्बुद्ध होती है ।[4]

प्रमाणों की प्रामाणिकता :

भर्तृहरि ने उक्त प्रकार से अभ्यास और अदृष्ट को "प्रतिभा" के उद्बोधन में हेतु बताया है । "उपमान" को साकल्येन प्रमाण न मानकर उसे प्रमाण के समीप बताया है । लौकिक प्रत्यक्ष अनुमान और सामान्य शब्द को लोक-व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी मानते हुए भी इन द्वारा होने वाला ज्ञान सर्वदा प्रामाणिक एवं विश्वसनीय नहीं माना है । वह कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से आकाश तल वाला तथा जुगनू अग्नि वाला दिखाई देता है, परन्तु न तो आकाश में तल है और न ही जुगनू में आग ।[5] अतः प्रत्यक्ष से भी अनेक बार स्खलनाएं हो जाया करती हैं । इसी प्रकार शब्द भी कई बार वक्ता के विवक्षित अर्थ की बजाय श्रोता को अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार भिन्न अर्थ गृहीत करवाता है । विभिन्न प्रतिपत्ताओं में अर्थ कई बार भिन्न-भिन्न

1· तथा चोच्यते - "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।
- वा·प·, 2·147 की वृत्ति पर उद्धृत अभिज्ञानशाकुन्तल की उक्ति ।

2· समारंभाः प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् । -वा·प·, 2·147

3 अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम् । - वा·प·, 2·118

4· स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम् ।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः ।। - वा·प·, 2·152

5· तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
नैव चास्ति तलं व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः ।। -वा·प·, 2·140

रूप से लिया जाता है ।[1] अतः ऐसी स्थिति में अनेक बार सामान्य "शब्द" प्रमाण भी वास्तविक अर्थ का ज्ञान करवाने से स्खलित हो जाता है । अनुमान प्रमाण भी पूरी तरह प्रामाणिक एवं विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि एक अनुमाता अनुमान से किसी अतीन्द्रिय पदार्थ को एक प्रकार से सिद्ध करता है तो दूसरा अनुमाता उसे अन्यथा ही सिद्ध कर देता है ।[2] इस प्रकार भर्तृहरि ने लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान, सामान्य, शब्द तथा उपमान प्रमाणों को व्यवहारोपयोगी मानते हुए भी इनसे होने वाला ज्ञान सर्वथा विश्वसनीय एवं प्रामाणिक नहीं माना है । उन्होंने अन्तःसंज्ञारूप "प्रतिभा" को तथा ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से जन्य आगम रूप प्रमाण को ज्ञान प्राप्ति का सर्वदा और सर्वथा विश्वसनीय तथा प्रामाणिक साधन माना है ।

शब्द-ब्रह्म का स्वरूप :

भर्तृहरि के दर्शन के अनुसार विवेचन की दृष्टि से शब्द की तीन स्थितियां हैं -

1· शब्दब्रह्म

2· स्फोटशब्द

3· अनुशासनीय शब्द

शब्दब्रह्म समस्त नाम-रूपात्मक जगत् का मूल कारण है । स्फोट भी शब्दब्रह्म का ही एक रूप है तथा वैखरी (ध्वन्यात्मक) शब्द भी उसीका विवर्त है ।

शब्दब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की प्रथम चार कारिकाओं तथा इसकी वृत्ति में कहा है कि यह शब्दमय ब्रह्म उत्पत्ति और नाश से रहित, अर्थात् नित्य है । यह अक्षर या

1· वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
स्वप्रत्ययानुसारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ।। - वा·प·, 2·135

2· यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततररन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।। - वा·प·, 1·34

प्रणव नाम से जाना जाता है । इसी से जगत के समस्त विकास अर्थ के रूप में विवर्त को प्राप्त होते हैं ।[1] इसे स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि स्वोपज्ञ वृत्ति में कहते हैं कि यह शब्दब्रह्म सभी प्रकार के विकल्पों- परिकल्पों से परे हैं ।[2] अर्थात् "वह सत् है" "वह असत् है" "वह उभयरूप है"- इस प्रकार के जितने भी दर्शन-विकल्प[3] वेदों में कहे गये हैं, शब्दब्रह्म उन सबसे परे है । यह शब्द-ब्रह्म "भेद" और "संसर्ग" - इन मौलिक विकल्पों से भी परे है ।[4] यह शब्द-ब्रह्म न केवल अविवर्तावस्था में अपितु विवर्तावस्था में भी उत्पत्ति और नाश के आश्रय से रहित है, अत: नित्य है ।[5] वह शब्दब्रह्म काल और देश की सीमा से शून्य है । ब्रह्म की पूर्व और पर तथा प्रवृत्ति या निवृत्ति की मर्यादा नहीं बांधी गई है ।[6] इस कारण विकृतावस्था में भी ब्रह्म का अनादि-निधनत्व सिद्ध है ।[7] वह शब्दब्रह्म सभी शक्तियों से समाविष्ट है ।[8]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भर्तृहरि ने ब्रह्म की दो अवस्थाएं कही हैं, एक सर्वविकल्पातीततत्त्वात्मक और दूसरी सर्वशक्तिसमाविष्ट रूप । इनमें सभी विकल्प-परिकल्पों से परे जो ब्रह्म कहा गया है, वह परब्रह्म या शान्तब्रह्म के नाम से जाना जाता है । यही ब्रह्म जब सभी शक्तिओं से समाविष्ट हो जाता है तो वह शब्दब्रह्म कहलाता है जिसे वेदान्त में शबल (चित्र) ब्रह्म कहा गया है । भर्तृहरि ने ब्रह्म का यही रूप जगत का

---

1. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।। - वा·प·, 1·1
2. सर्वपरिकल्पातीततत्त्वं·····। - वा·प·, 1·1· पर हरिवृत्ति
3. यत्र चैते सर्वविकल्पातीते एकस्मिन्नर्थे सर्वशक्तियोगाद् द्रष्टृणां दर्शनविकल्पा: ·····। - वा·प·, 1·? की वृत्ति की अवतरणिका
4. भेदसंसर्गसमतिक्रमेण । - वा·प·, 1·1 पर हरिवृत्ति
5. क) सर्वास्ववस्थास्वनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते । - वही
   ख) न केवलमविवर्तावस्थायां, विवर्तावस्थायामपीति । -वही, श्रीवृषभ
6. वा·प·, 1·1· हरिवृत्ति
7. वही, श्रीवृषभ
8. समाविष्टं सर्वाभि: शक्तिभि: । - वा·प·, 1·1· हरिवृत्ति

कारण बताया है । इस तथ्य को भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ वृत्ति में किसी प्राचीन परम्परा का उद्धरण[1] देते हुए कहा है कि अविद्या और उसके कार्यों {विकल्पों} से शून्य वह शान्त, विद्यात्मक शुद्ध तत्व {परब्रह्म} अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा आच्छादित सा हो जाता है । यह निर्विकार अमृत ब्रह्म अविद्या से कलुषित हुआ सा भिन्न-भिन्न नाम-रूपों में विवर्त को प्राप्त होता है । इस प्रकार अविद्या से उपहित तथा सभी शक्तियों से समाविष्ट यह "शब्दब्रह्म" ही सम्पूर्ण शब्दार्थ जगत् का कारण है ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "प्रणवस्त्रेधा व्यभज्यत" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार वह शब्दब्रह्म एक है, अद्वितीय है, परन्तु भिन्न-भिन्न शक्तियों के आश्रय से वह एक, अभिन्न होता हुआ भी अनेक एवं भिन्न-भिन्न रूपों में भासता है ।[2]

वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में "शब्दतत्त्वं यदक्षरम्" कहकर शब्द-ब्रह्म को अक्षर कहा गया है । अक्षर का अर्थ "प्रणव" है तथा भर्तृहरि ने व्याकरण महाभाष्य की त्रिपदी टीका में "प्रणव" ब्रह्म का वाचक कहा है । यहां से परे अर्थात् प्रणव ब्रह्म या शब्दब्रह्म से परे शब्दार्थव्यवहार निवृत हो जाते हैं । अतः ब्रह्म की यह अवस्था व्यवहारातीत है ।[3] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार यह ओंकाररूप प्रणव ही परब्रह्म और अपरब्रह्म - दो प्रकार का है ।[4]

---

1. शान्तं विद्यात्मकं तत्वं तदुहैतदविद्यया ।
   तया ग्रस्तमिवाजस्रं या निर्वक्तुं न शक्यते ।।
   तयेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
   कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ।। - वा॰प॰, 1॰1, हरिवृत्ति पर

2. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
   अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ।। - वा॰प॰, 1॰2

3. ···ज्ञाने किं सत्यम् ? ओम् । अथ तद् ब्रह्म । तदेतदुक्तं भवति -
   अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते । व्यवहारातीतोयमर्थ इति ।
   - महाभाष्य त्रिपदी, पृ॰27

4. एतद्वै सत्यकामः परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः ।
   - प्रश्नोपनिषद्, वल्ली--2

ब्रह्म की शान्त अवस्था परब्रह्म या पर प्रणव है तथा उसकी शब्द-ब्रह्मरूप शबलावस्था अपर ब्रह्म या अपर प्रणव है । इस प्रकार वही ब्रह्म निष्क्रिय भी है और सक्रिय भी । सर्व विकल्पातीत शान्त ब्रह्म निष्क्रिय है और सर्वशक्ति समाविष्ट शब्दब्रह्म जिसे शबलब्रह्म या प्रणव ब्रह्म भी कहते हैं, सक्रिय है ।

वाक्यपदीय में प्रकृति[1] या पश्यन्ती आदि शब्दों का प्रयोग "शब्दब्रह्म" के लिए तथा "परा प्रकृति" शब्द का प्रयोग शान्त ब्रह्म के लिए हुआ है ।[2] वाक्यपदीय में सता, महानात्मा, प्रतिभा, अविद्यायोनि, भावविकारप्रकृति, और पश्यन्ती – ये सब "शब्दब्रह्म" के पर्यायवाची हैं ।[3] पराप्रकृति या परपश्यन्ती ब्रह्म की शान्तावस्था के वाचक हैं, जिसे "ब्रह्म" नाम से भी कहा गया है । यद्यपि भर्तृहरि ने वाणी के पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी- ये तीन रूप कहे हैं,[4] "परा वाक्" का नामत: कहीं उल्लेख नहीं किया है । तथापि उन्होंने "पराप्रकृति"[5] तथा "परपश्यन्ती"[6] नामों से उसी व्यवहारातीत, निर्विकार, किसी उपाधि से असंकीर्ण, शुद्ध एवं शान्त "ब्रह्म" का स्वरूप प्रतिपादित किया है

भर्तृहरि ने स्वयं भी कहा है कि पराप्रकृति अर्थात् शान्त परब्रह्म शब्दब्रह्म की सुषुप्ति दशा है । प्रतिभा या सता अर्थात् शब्दब्रह्म उसी ब्रह्म की जागरणोन्मुखी स्थिति है ।[7]

---

1. प्रकृतौ प्रविलीनेषु भेदेष्वेकत्वदर्शिनाम् । – वा॰प॰, 3·43, जा॰ समु॰
2. विकारापगमे सत्यां तथाहु: प्रकृतिं पराम् । –वा॰प॰, 3·द्र॰ समु॰ 15
3. वा॰प॰, 1·145 की वृत्ति
4. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
   अनेकतीर्थभेदाया: त्रय्या वाच: परं पदम् ।। –वा॰प॰ 1·142
5. तस्माच्च – प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते । –वही, वृत्ति
6. परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम् । –वा॰प॰, 1·142 वृत्ति
7. काचित् स्वाभाविकी प्रतिभा । परस्या: प्रकृते: प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानुगुण्यं – सुषुप्तावस्थस्येव प्रबोधानुगुण्यं फलसत्तामात्रं निद्राया:
   – वा॰प॰, 2·152 की वृत्ति

इस सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता[1] तथा महाभारत[2] में किसी प्राचीन ग्रन्थ का उद्धरण द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है - "एवं ह्याह -

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।"

अर्थात् दो ब्रह्म ज्ञातव्य हैं शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म । शब्दब्रह्म को जानकर व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

भर्तृहरि ने ब्रह्म को "एक" अद्वितीय तत्त्व प्रतिपादित किया है । अतः शब्दब्रह्म {शबलब्रह्म} तथा शान्त ब्रह्म {परब्रह्म} एक ही तत्त्व है । हेलाराज ने भी "परब्रह्म को "संवित" शब्दवाच्य कहकर[3] यह प्रतिपादित किया है कि यह संवित {परब्रह्म} भी शब्दब्रह्ममयी पश्यन्तीरूप परावाक् ही है । अतः परब्रह्म तत्त्व पारमार्थिक दृष्टि से शब्दब्रह्म से भिन्न नहीं है ।[4]

भर्तृहरि तथा उनसे तीन-चार सौ वर्ष बाद हुए शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित "ब्रह्म" की दो अवस्थाओं के विचारों में पूरी तरह समानता है । भर्तृहरि ने जिसे शक्तिरहित, सर्वव्यवहारातीत और शान्त ब्रह्म कहा है, तथा उसे पर पश्यन्ती या परा प्रकृति नाम दिया है, उसे ही शांकर वेदान्त में माया से रहित, शुद्ध, निर्गुण ब्रह्म बताया है । भर्तृहरि ने शक्ति से समाविष्ट उस ब्रह्म की अविद्याजनित सचेष्ट स्थिति को "शब्दब्रह्म" कहा है तो शांकर वेदान्त में उसे सगुण ब्रह्म या शबलब्रह्म कहा गया है ।[5]

---

1. मैत्रायणी उपनिषद, प्रपाठक 6, कण्डिका 22
2. महाभा0, शान्तिपर्व, अ0 270
3. वा॰प॰, 3॰ द्र॰ समु॰, का॰ ।। पर हेलाराज
4. संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयी ीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते । - वही
5. द्र॰ क} ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य
   ख} बृ॰ आ॰ उ॰, तथा तै॰ उ॰ शांकरभाष्य

इन दोनों दर्शनों में जो कुछ अन्तर दिखता है वह शक्ति के स्वरूप, उसके ब्रह्म के साथ सम्बन्ध, तथा मोक्ष की स्थिति को लेकर है, जिसपर अनन्तर शक्ति और मोक्ष के प्रकरणों में प्रकाश डाला जाएगा ।

"शब्द-ब्रह्म" नाम का आधार

ऊपर कहा जा चुका है कि परम्परा से प्राप्त व्याकरणागम के आधार पर भर्तृहरि के मत में निर्विकार, शुद्ध, सर्वविकल्पातीत, व्यवहारातीत एवं निष्क्रिय "शान्त ब्रह्म" जब सर्व शक्तियों से समाविष्ट होकर जागृत तथा सक्रिय होता है, तो उसे ही "शब्दब्रह्म" कहा जाता है। इस स्थिति में शबलब्रह्म को "शब्दब्रह्म" नाम से कहने का आधार यह तर्क है कि शक्ति-समन्वित सचेष्ट ब्रह्म का विवर्त समस्त नाम-रूपात्मक जगत् जब शब्दमय है तो इसका कारण भी शब्दमय अवश्य होना चाहिए । क्योंकि कार्य तो अपने कारण से ही गुण को ग्रहण करता है[1]-यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है ।

भर्तृहरि कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के अनुगम के बिना होता हो । समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध सा भासित होता है ।[2] यहां तक कि व्यक्त वाणी से अनभिज्ञ एक शिशु भी पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त सूक्ष्म प्रतिभा अर्थात् शब्दभावना के बल पर समझने और क्रिया करने में प्रवृत्त होता है ।[3] ज्ञान की शाश्वती और स्वाभाविक वाग्रूपता यदि नष्ट हो जाए या न मानी जाए तो प्रकाश प्रकाशित नहीं होगा, ज्ञान ज्ञान नहीं रहेगा । क्योंकि वह शाश्वती वाग्रूपता ही तो पदार्थों के आकार का निरूपण करने

1· कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । - नैषधीय-चरितम्

2· न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। - वा·प·, 1·123

3· इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
तां पूर्वाहित-संस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ।।

- वा·प·, 1·121

वाली है ।[1] सभी विद्याएं और विज्ञान, सभी शिल्प और कलाएं शब्दमूलक हैं, प्रत्येक वस्तु शब्दमय है, शब्द से अपृथक् है -- उसके बल पर अभिनिष्पन्न है ।[2] अत: इन शब्दानुविद्ध पदार्थों का मूलकारण ब्रह्म भी अवश्य शब्दमय है - अत: उसे "शब्दब्रह्म" कहा जाता है । अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की प्रथम कारिका की वृत्ति में कहा है कि - "क्योंकि ब्रह्म के भिन्न-भिन्न विकार {कार्य} अपनी प्रकृति अर्थात् कारण {ब्रह्म} में अन्वय वाले होते हैं, अत: "शब्दोपग्राह्यता" तथा "शब्दोपग्राहिता" के कारण उस ब्रह्म के लिए कारिका में "शब्दतत्त्व" अर्थात् "शब्दमय ब्रह्म" ऐसा कहा गया है[3]।" ब्रह्म के विकारों {पदार्थों} में शब्द की उपग्राह्यता अर्थात् स्वीकृति है तथा शब्द ही आन्तरज्ञाता बनकर इन विकारों का उपग्रहण कराने वाला है । अत: ऐसा होने से इन विकारों का कारणभूत शबलब्रह्म शब्दात्मक होने से "शब्दब्रह्म" के नाम से कहा जाता है ।[4]

शब्दब्रह्म की स्वातन्त्र्य या काल-शक्ति :

शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों के मत में एक, अद्वितीय, अनवच्छिन्न शब्दब्रह्म समस्त प्रपंच का कारण है । उसकी "काल" नाम की शक्ति है जो कर्तृशक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति के नाम से भी जानी जाती है । इस शक्ति द्वारा नित्य और अद्वितीय ब्रह्म संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय को

---

1. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
   न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।।- वा॰प॰, 1.124
2. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी ।
   तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ।। - वा॰प॰, पृ॰ 172
3. तत्तु भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यन्वयित्वाच्छब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते । - वा॰प॰, 1.1 हरिवृत्ति
4. वही, अम्बाकर्त्री

विवर्त के रूप में प्राप्त होता है । इस शब्दब्रह्म की आरोपित कलाओं वाली "कालशक्ति" का आश्रय लेकर जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और नाश - ये छः भाव विकार होते हैं जो पदार्थों के क्रमिक भेद के कारण हैं ।[1] शब्दब्रह्म शक्ति एक होते हुए भी कार्यों के भेद से आरोपित कलाओं {भेदों} वाली है । अर्थात् इसी "काल" या "स्वातन्त्र्य" नाम की शक्ति की उपाधि भेद से अनेक अवान्तर कारण शक्तियां हैं जिन्हें "कला" भी कहा जाता है ।[2] शब्दब्रह्म की इस शक्ति को "काल" कहने का कारण यह है कि कूएं से जल निकालने वाले रहट के बार-बार नीचे-ऊपर घूमने से होने वाले जलक्षोभ {विवर्त} की तरह की प्रवृत्तियों से यह व्यापक एवं नित्य ब्रह्म कलाओं को कालित {उत्पन्न} करता है, अर्थात् अतः इसे "काल" कहते हैं ।[3] अर्थात् स्वातन्त्र्य-शक्तिसम्पन्न यह शब्दब्रह्म अपनी इस "काल" नामक शक्ति से उपरोक्त जलक्षोभ के समान नाना कलाओं - शक्तिभेदों तथा उनसे पदार्थों के रूपभेदों को बिखेरता है ।

सृष्टि के विकास में वह शब्दब्रह्म स्वतन्त्र कर्ता है, अतः उसकी यह शक्ति कर्तृशक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति कहलाती है ।[4] हेलाराज ने अनेक बार इस कालशक्ति को "स्वातन्त्र्यशक्ति" कहा है । भर्तृहरि ने स्वयं भी ब्रह्मकाण्ड की "अध्याहितकलां-" इस कारिका की स्वोपज्ञ वृत्ति में कहा है कि उस पूर्वोक्त शब्दब्रह्म के काल या स्वातन्त्र्य के द्वारा {सृष्टिकाल में} जन्म लेने वाली अवान्तर - कारण शक्तियां उसी कालशक्ति की वृत्ति का अनुसरण करती हैं । यह कालशक्ति स्वतन्त्र है तथा अवान्तर - कारणशक्तियां इसके परतन्त्र हैं ।[5]

---

1. अध्याहित-कलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
   जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।। - वा०प०, 1.3
2. "अध्याहितकलाम्...।" - वही
3. वा०प०, 3, काल समु०, 14
4. वही, 3. काल समु० 14
5. कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्राः जन्मवत्यः शक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपपतन्ति ।
   - वा०प०, 1.3, हरिवृत्ति

कारण-शक्तियां :

सर्वशक्तिमान् शब्दब्रह्म एक एवं अद्वितीय है । परन्तु यह अविद्यावश सृष्टि के समय अपनी ही शक्ति से सर्प के कुण्डलीभाव अथवा स्वर्ण के कुण्डलभाव की भान्ति विभिन्न रूपों को धारण करता है ।[1] इस स्थिति में कारण-कार्यों के उपाधिभेद से एक ही शक्ति {कालशक्ति} पृथक्-पृथक् एवं असंख्य प्रतीत होती है, जिनके कारण वह एक ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है ।[2] स्वातन्त्र्य या काल नाम की शक्ति के अधीन ये अवान्तर शक्तियां सृष्टि के समय उत्तरोत्तर कारण-कार्य - श्रृंखला में से कारणों में रहकर उन्हें {कारणों को} कार्य की उत्पत्ति या प्रतिबंध आदि के लिए समर्थ बनाती हैं, अतः इन्हें कारण शक्तियां कहा जाता है ।[3]

भर्तृहरि ने इन कारण शक्तियों में अभ्यनुज्ञा शक्ति, प्रतिबन्ध-शक्ति, क्रमशक्ति और समवाय शक्ति का विशेषरूप से विवेचन किया है । कालशक्ति के अधीन होकर प्रतिबन्ध शक्ति व्यापार का विघात करती है, जबकि अभ्यनुज्ञा शक्ति व्यापार का प्रसार करती है । जिस प्रकार व्याध की शक्ति के अधीन होकर सूत्र में बांधकर छोड़ा गया पक्षी कभी दूर तक उड़ता है तो कभी खींच लिया जाने पर वापिस आ जाता है । समस्त जड़ चेतन पदार्थों में ये व्यापार होते हैं । पदार्थों का उन्मज्जन और स्थगन, आविर्भाव और तिरोभाव, सर्ग, स्थिति और प्रलय - सब इन दो शक्तियों से होता है ।[4]

क्रम नाम की शक्ति उपसंहृत वस्तु को विभक्त करके उसके अवयवों को क्रमशः अभिव्यक्त करती है ।[5] समवाय नाम की शक्ति कारण और कार्य

---

1. वा॰प॰, 3, सा॰ समु॰ 105 तथा 3॰9॰13
2. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
   अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ।। - वा॰प॰, 1॰2
3. वही, तथा वा॰प॰ 1॰3 की वृत्ति
4. तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते ।
   प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते ।। - वा॰प॰ 3॰ पृ॰42, 45
5. वा॰प॰, 3॰का॰समु॰20 तथा हेलाराज

के भेद को तिरोहित करती है । वह कारणों और कार्यों में एकत्व {अभेद} स्थापित करती है ।[1]

भर्तृहरि के इस शक्तिविवेचन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म और उसकी शक्ति की अवधारणा जो उपनिषदों में वर्णित है, भर्तृहरि के वाक्यपदीय में न केवल परिष्कृत होकर सामने आयी है, बल्कि सहकारिणी कारण शक्तियों के सूक्ष्म विवेचन में वैज्ञानिक धरातल भी प्रदान करती है । अद्वैत वेदान्त में इस शक्ति को "अविद्या" या माया कहा है । भर्तृहरि की कालशक्ति की परिकल्पना कश्मीर शैवागम में गृहीत कालशक्ति के स्वरूप से पर्याप्त मेल खाती है । स्वातन्त्र्य शक्ति दोनों जगह समान है । दोनों में वह "काल" का ही दूसरा नाम है । अन्तर केवल इतना है कि भर्तृहरि दर्शन में यह शब्दब्रह्म की शक्ति है जबकि शैवागम में परमेश्वर की । केवल नाम से ही अन्तर है । यही कारण है कि अभिनवगुप्त ने स्वातन्त्र्यशक्ति का प्रतिपादन करते हुए अपने कथन की पुष्टि हेतु वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत की है ।[2] इतना अन्तर अवश्य है कि शैवागम में स्वातन्त्र्य शक्ति को विभिन्न रूपों में उपचरित करते हुए उसका सम्बन्ध परा वाक् से जोड़ा गया है जबकि भर्तृहरि ने "परा" वाक्" नहीं कही है ।

अविद्या

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कुछ स्थलों में "अविद्या" का भी उल्लेख किया है । उन्होंने यद्यपि "अविद्या" के स्वरूप को वाक्यपदीय की मूल-कारिकाओं में प्रतिपादित नहीं किया है, तथापि वाक्यपदीय की अपनी ही वृत्ति में इस पर प्रकाश डाला है । अविद्या के विषय में अपने अभिमत को प्रकट करते हुए भर्तृहरि किसी प्राचीन व्याकरणागम का उद्धरण देकर बताते हैं -

---

1. ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका ।
   एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः ।। -वा॰प॰, 3॰ का॰ समु॰ 18
2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग-11, पृ॰8

"उक्तं च - मूर्ति-क्रियाविवर्तौ अविद्याशक्ति - प्रवृत्तिमात्रम्, तौ विद्यात्मनि तत्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ । एतद्धि अविद्याया: अविद्यात्वम् ।"[1]

अर्थात् मूर्तिविवर्त और क्रियाविवर्त अविद्या का प्रवृत्तिमात्र है ।[2] अथवा ये दो प्रकार के विवर्त अविद्याशक्तिरूप तथा अविद्याप्रवृत्तिरूप हैं । जब इन अविद्यारूप विवर्तों का विपर्यासरूप दर्शन नहीं होता, तब इसे अविद्याशक्ति कहा जाता है । जब ऐसा विपर्यासरूप दर्शन होता है तब इसी को "अविद्याप्रवृत्ति" कहा जाता है ।[3] उक्त प्रकार ब्रह्म के असत्याभासरूप विवर्तों का जनन ही अविद्या का अविद्यात्व है ।

अविद्या और ब्रह्म

अविद्या को विद्यारूपब्रह्म से अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विद्या और अविद्या तो विरोधी तत्त्व हैं । अविद्या को ब्रह्म से भिन्न भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म परमार्थत: एक एवम् अद्वितीय तत्त्व है । अत: अविद्या का ब्रह्म से अभेद या भेद अनिर्वचनीय है ।[4] यह बात भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति में दिए निम्न श्लोक द्वारा पुन: प्रतिपादित की है -

शान्तविद्यात्मकं योंश: {तत्वं} तद् हेतदविद्यया ।
तथा ग्रस्तमिवाजस्रं या निर्वक्तुं न शक्यते ।।[5]

काल-शक्ति और ब्रह्म

काल-शक्ति की स्थिति अविद्या की तरह नहीं है । काल नाम की स्वातन्त्र्य शक्ति तथा उसके अन्तर्गत उपाधिभेद वाली कला नाम की

1· वा·प·, 1·1 हरिवृत्ति पर
2· वही, श्रीवृषभकृत व्याख्या
3· वही, अम्बाकर्त्री व्याख्या
4· तौ {अविद्यारूपविवर्तौ} विद्यात्मनि तत्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ ।
- वा·प·, 1·1 हरिवृत्ति
5· वही, हरिवृत्ति पर उद्धृत प्राचीन व्याकरणागम-वचन

अभ्यनुज्ञा, प्रतिबन्ध आदि कारण-शक्तियाँ शब्दब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, अपितु ब्रह्मरूप ही हैं । भर्तृहरि इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णय: ।
भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका ।।[1]

वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की दूसरी कारिका तथा इसकी वृत्ति में भी भर्तृहरि ने कालशक्ति और उसी की आरोपितभेद वाली कला शक्तियों को शब्दब्रह्म से अपृथक् कहा है ।[2]

काल-शक्ति और अविद्या

उक्त विवेचन से ही स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि ने अविद्या को ब्रह्म की कालशक्ति से पृथक् माना है । उपाधिभेद वाली काल या स्वातन्त्र्य शक्ति "शक्तिशक्तिमतोर्[illegible]" सिद्धान्त से अद्वितीय शब्दब्रह्म से अभिन्न है,[3] जबकि अविद्या को ब्रह्म से अभिन्न न मानकर इसे अनिर्वचनीय कहा है ।[4] कालशक्ति की पारमार्थिक सत्ता है, परन्तु विवर्त का कारण या साक्षात् विवर्तरूप में कही गयी[5] अविद्या की सत्ता पारमार्थिक नहीं, अपितु व्यावहारिक है । शक्तियुक्त अद्वितीय ब्रह्म एक, अभिन्न है, परन्तु भेद की जनक अविद्या से शब्दब्रह्म तथा उसकी कालशक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होते हैं । जबकि ये भेद स्वरूप से पारमार्थिक नहीं हैं । इनकी जननी अविद्या भी व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं ।[6]

---

1. वा॰प॰, 3॰1॰22
2. वा॰प॰, 1॰2
3. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
   अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्य: पृथक्त्वेनेव वर्तते ।। - वा॰प॰, 1॰2 तथा हरिवृत्ति
4. तौ [मूर्तिक्रियाविवर्तौ] विद्यात्मनि तत्वान्यत्वाभ्यामनाख्येयौ ।
   -वा॰प॰, 1॰1 हरिवृत्ति
5. मूर्तिक्रियाविवर्तौ अविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम् । - वही
6. एकमेव ब्रह्म सर्वशक्तीति प्रमाणेन सिद्धे अस्मिन्नर्थे अविद्यापरिकल्पितत्व भावभेदस्य अपारमार्थिकत्वात् कालनानात्वोन्नीयमान-शक्तिभेद एवैकस्य युक्तो न तु स्वरूपभेद: । - वा॰प॰ 3॰1॰22 पर हेलाराज

वेदान्तदर्शन में अद्वैतवाद के प्रवक्ता आदि शंकराचार्य ने तथा विवरण-प्रस्थान के लेखकों ने "माया" (ब्रह्म की शक्ति) और "अविद्या" में लक्षण एक होने के कारण तथा पूर्व परम्परा के अनुसार "एकत्व" बताया है । उन्होंने एक ही वस्तु का विक्षेप की प्रधानता से माया और आच्छादन की प्रधानता से अविद्या नाम प्रतिपादित किया है ।[1] परन्तु पंचदशीकार विद्यारण्य ने "माया" और "अविद्या" नाम की दो भिन्न शक्तियां बताई हैं जो भर्तृहरि-मत के अनुकूल है ।[2]

भर्तृहरि[3] और शंकराचार्य[4] ने समानरूप से अविद्या और अहंकार की ग्रन्थि काटकर अर्थात् अविद्या को पृथक् करके जीव के शब्दब्रह्म में ऐक्य को मोक्ष कहा है । परन्तु भर्तृहरि के मत में ऐसी स्थिति में भी काल या स्वातन्त्र्य शक्ति शब्दब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध से एक होकर रहती है ।[5] जबकि शंकराचार्य की मोक्ष स्थिति में ऐसी शक्ति नहीं रहती । वह माया (अविद्या) को ही शक्ति मानते हैं और मोक्षस्थिति में माया की निवृत्ति हो जाती है । दूसरे शब्दों में व्याकरणदर्शन में शक्ति समन्वित शब्दब्रह्म से ऐक्य मोक्ष है[6] तो अद्वैतवेदान्त में शक्तिरहित शुद्ध ब्रह्म में अवस्थान मोक्ष है ।[7]

इसी दृष्टि से व्याकरण-दर्शन का अर्वाचीन काश्मीर सिद्धान्त शैव-दर्शन एवम् परमेश्वराद्वयवाद से पर्याप्त मेल है । इन दर्शनभेदों के विद्वानों ने व्याकरण-दर्शन, विशेषतया भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शक्ति और शक्तिमान्

---

1. तस्माद् लक्षणैक्याद् वृद्धव्यवहाराच्च एकत्वावगमाद् एकस्मिन् अपि वस्तुनि विक्षेप-प्राधान्येन माया, आच्छादनप्राधान्येन अविद्येति व्यवहारभेदः । - ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰ पृ॰2।।
2. पंचदशी, 4·15 और 16
3. वा॰प॰, 1·131, हरिवृत्ति तथा अम्बाकर्त्री
4. क) तै॰ उ॰, शांकरभाष्य, 1·11
   ख) बृ॰ उ॰, 1·4·7 तथा शांकरभाष्य
5. क) वा॰प॰ 1·2 तथा हरिवृत्ति ख) वा॰प॰, 3·1·22
6. वा॰प॰ 1·131
7. तै॰ उ॰, शांकरभाष्य, 1·11

{शब्दब्रह्म} की एकता के सिद्धान्त का न केवल उल्लेख किया है अपितु इसका समर्थन भी किया है । भर्तृहरि के एतद्विषयक मत का समर्थन करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रकाश {शिव} तथा उसकी विमर्श नाम की स्वातन्त्र्य शक्ति को अग्नि और उसकी दाहशक्ति के समान अभिन्न माना है ।[1] इस दृष्टि से शब्दाद्वयवाद तथा परमेश्वराद्वयवाद में पूरी तरह समानता है । सिद्धान्त शैवाद्वैत में भी शिव तथा उसकी समवायिनी ज्ञानशक्ति में तादात्म्य मानकर उसे एक ही तत्त्व कहा गया है ।[2]

विवर्तवाद

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की पहली कारिका में ही शब्दब्रह्म को समस्त जगत् का कारण बताते हुए कहा है कि वह शब्दात्मक ब्रह्म अर्थरूप से विवर्त को प्राप्त होता है ।[3] अन्यत्र भी उन्होंने शब्दब्रह्म से हुए विश्व के विकास को "विवर्त" कहा है ।[4] परन्तु -

> शब्दस्य परिणामोयमित्याम्नायविदो विदुः ।
> छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ।।[5]

इस कारिका में भर्तृहरि ने "शब्दस्य परिणामोयं" कहकर संसार को शब्दब्रह्म का "परिणाम" भी माना है तथा "एतद् विश्वं व्यवर्तत" कहकर उसे विवर्तरूप में भी प्रतिपादित किया है ।

1· शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वांछति ।
7 तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ।। - बोधपंचदशिका, 3

2· अष्टकप्रकरण, रत्नत्रय, कारिका 61; 75; 81

3· अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। - वा·प· 1·1

4· यथा - वा·प·, 1·112, 120

5· वा·प·, 1·120

अर्वाचीन दर्शनों में परिणाम और विवर्त - के अर्थ एवं सिद्धान्त में पर्याप्त भेद माना गया है । उपादानकारण की सत्ता के समान सत्ता वाले कार्य की उत्पत्ति को "परिणाम" कहते हैं । जैसे दूध व्यवहारत: सत है - अत: दधि दूध का परिणाम है । उपादान कारण की सत्ता से विषम सत्ता वाले कार्य की उत्पत्ति को "विवर्त" कहते हैं । जैसे शुक्तिका में रजत की भ्रान्ति ।[1] शुक्तिका की सत्ता व्यावहारिक है परन्तु रजत की सत्ता प्रातिभासिक होने से इससे विषम है । परिणामवाद सांख्यों का ख्यात हुआ जहां स्थूल प्रकृति को मूल प्रकृति का सम-सत्ताक परिणाम कहा गया है । विवर्तवाद शांकर वेदान्त आदि का प्रसिद्ध हुआ जहां ब्रह्म को सत्य कहकर उसके विवर्त जगत को रज्जु में सर्प की या शुक्तिका में रजत की प्रतीति की भ्रान्ति मिथ्या कहा गया है । व्याकरण-दर्शन में शब्दाद्वयवादी आचार्य भर्तृहरि ने (जो कि शंकराचार्य से लगभग 350 वर्ष पहले हुए) उक्त कारिका में जगत को शब्द-ब्रह्म का "परिणाम" भी कहा है और "विवर्त" भी। अत: जिज्ञासा होती है कि भर्तृहरि वस्तुत: परिणामवादी हैं या विवर्तवादी? इस सम्बन्ध में दार्शनिक विद्वानों ने पर्याप्त परीक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि भर्तृहरि का दर्शन विवर्तवादी है । इसमें तर्क इस प्रकार है -

1. ब्रह्मकाण्ड की प्रथम कारिका की स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरि ने "विवर्तते" पद की व्याख्या विवर्तपरक की है ।

2. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अधिकांशतया "विवर्त" शब्द का ही प्रयोग किया है ।

3. वाक्यपदीय के सभी टीकाकारों ने विवर्तवाद को ही भर्तृहरि का अभिमत सिद्धान्त दर्शाया है । ग्यारहवी शती में हुए हेलाराज ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान भर्तृहरि का यह दर्शन सांख्यों के सिद्धान्त की

---

1. उपादानसमसत्ताककार्यापत्ति: परिणाम: । यथा दुग्धस्य दधिभवनम् । उभयोरपि व्यावहारिकसत्वात् । उपादान-विषमसत्ताककार्यापत्ति: विवर्त: । यथा शुक्तिकाया रजतभवनम् ।
- वा.प., 1.120 पर भावप्रदीप टीका

भ्रान्ति परिणाम-दर्शन नहीं है, अपितु यह तो विवर्तपक्ष है ।[1]

4. अनेक तन्त्रकारों तथा सर्वदर्शनसंग्रह के कर्ता श्री माधव ने भी शब्दविवर्तवादी के रूप में भर्तृहरि का स्मरण किया है ।[2]

जिज्ञासा होती है कि भर्तृहरि जब विवर्तवादी है तो उन्होंने "शब्दस्य परिणामोयं - कारिका में विश्व को शब्द का "परिणाम" और "विवर्त"-दोनों क्यों कहा है ? इस सम्बन्ध में टीकाकारों तथा समीक्षकों का कथन है कि ये दोनों शब्द बाद में भिन्न अर्थों में रूढ़ हुए हैं । प्राचीन समय में परिणाम और विवर्त शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे । वाक्यपदीय की "शब्दस्य परिणामोयम् -" आदि कारिका में एक ही अर्थ में आए परिणाम और विवर्त शब्द इस बात के ही प्रमाण हैं । यही कारण है कि शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में वाक्यपदीय की "अनादिनिधन-" कारिका के अनुवाद में विवर्तते का अर्थ परिणाम किया है ।[3] आदि शंकराचार्य[4] तथा भवभूति[5] ने भी परिणाम के समानार्थक विकार शब्द के साथ विवर्त शब्द का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विवर्तवादी भर्तृहरि ने परिणाम शब्द का प्रयोग विवर्त के अर्थ में ही किया है ।

वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में समस्त अर्थ जगत् को शब्दब्रह्म का विवर्त कहकर भर्तृहरि विवर्त का अर्थ अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में इस प्रकार करते हैं - एक अखण्ड तत्त्व का स्वरूप से अच्युत रहते हुए भेदानुकरण से

---

1. नेदं सांख्यनयवत् परिणामदर्शनम् अपितु विवर्तपक्षः ।
   - वा.प., काण्ड-3 पृ. समु. 14 पर हेलाराज

2. सर्वद. सं., पा.द., पृ. 524 (चौखम्बा संस्करण)

3. नाशोत्पीड़समालीढं ब्रह्मशब्दमयं परम् ।
   यत्तस्य परिणामोयं भावग्रामः प्रतीयते ।। - तत्त्वसंग्रह, 128

4. यतत्सुखदुःखमोहात्मकं ..... विचित्रेण विकारात्मना विवर्तते ।
   - ब्र. सू. शां. भा., 2.2.1.1

5. एको रसः ... भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्,
   आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान् । - उ.रा.च., 3.47

(सन्निवेशविशेष द्वारा) असत्यरूप में विभक्त, भिन्न-भिन्न रूपों - आकारों को धारण करना विवर्त है, जो स्वप्न-विषय प्रतिभास कहा गया है।[1] जिस प्रकार स्वप्नावस्था में एक ही स्वप्न-विज्ञान वाला पुरुष अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए उद्यान, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न असत्य रूपों में भासित होता है। वैसे ही जागरावस्था में शक्तियों की महिमा एवं अविद्या के सहकार से अद्वितीय शब्दब्रह्म भी भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है। जैसे जाग्रदवस्था में प्रतीत न होने से स्वप्न मिथ्या कहा जाता है, वैसे ही तुरीय दशा में प्रपंच के न रहने से इसका मिथ्यात्व ज्ञात होता है और शब्दब्रह्मरूप संवित का सत्यत्व सिद्ध होता है।[2]

नागेश भट्ट[3] तथा वैद्यनाथ पायगुण्डे[4] ने वेदान्तियों द्वारा दिये जाने वाले "रज्जु में सर्प की प्रतीति" के दृष्टान्तों को विवर्त नहीं माना है बल्कि इसे भ्रम कहा है। वैद्यनाथ कहते हैं कि शब्दब्रह्म की अविद्या का प्रपंचात्मक परिणाम दूध से दधि की तरह का भी नहीं है अपितु स्वर्ण का कुण्डल के समान होता है। भर्तृहरि ने भी "जन्म" की चर्चा करते हुए "सर्प का कुण्डलीभाव" विवर्त का उदाहरण दिया है।[5]

इस प्रकार भर्तृहरि के विवर्तवाद के अनुसार वाक्यपदीय के "विवर्ततेऽर्थभावेन"[6] तथा "एतद् विश्वं व्यवर्तत"[7] का अर्थ यह है कि वह एक,

---

1. विवर्ततेऽर्थभावेन। एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्य-
   विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत्।
   -वा॰प॰, 1.1 पर वृत्ति
2. मंजूषा, पृ॰482 पर उद्धृत हेलाराज की शब्दप्रभा का प्रासंगिक उद्धरण
3. मंजूषा, चौखम्बा संस्करण, पृ॰316
4. वही, कलाटीका
5. यथाहि: कुण्डलीभावो व्यग्राणां वा समग्रता।
   तथैव जन्मरूपत्वं सतामेके प्रचक्षते॥ - वा॰प॰, 3 सा॰ समु॰ 1.5
6. वा॰प॰ 1.1
7. वा॰प॰, 1.120

शक्तिसम्पन्न अखण्ड तत्त्व "शब्दब्रह्म" अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए पारमार्थिक दृष्टि से असत्यरूप में भिन्न-भिन्न पद-पदार्थों के रूपों में प्रतीत होता है ।[1] षड्भावविकार उसी के रूप हैं ।[2] वही एक अद्वितीय तत्त्व अविद्यावश भोक्ता जीव, भोक्तव्य विषय और भोग क्रिया के रूप में भासित होता है ।[3] भर्तृहरि का यह विवर्तवाद उनके शब्दाद्वयवाद का पोषक है ।

शब्दाद्वैतवाद

भर्तृहरि ने ब्रह्म को एक, अद्वितीय तत्त्व मानकर शब्दब्रह्माद्वैत अथवा शब्दाद्वैत का प्रतिपादन किया है । भर्तृहरि से पूर्व शब्दाद्वैत के बीज वेद,[4] ब्राह्मण,[5] उपनिषद[6] संग्रह तथा पातंजल महाभाष्य आदि में उपलब्ध होते हैं । भर्तृहरि ने भी आगम को आधार मानकर शब्दब्रह्माद्वैत सिद्धान्त को प्रतिपादित कर प्रतिष्ठापित किया है । इसीलिए भर्तृहरि शब्दब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में उस शब्दब्रह्म को एक एवम् अद्वितीय कहा गया है ।[7] एक होता हुआ भी ब्रह्म शक्तियों की विभिन्नता के कारण भिन्न से प्रतीत होता है । परन्तु वस्तुत: यह अभिन्न है, अद्वितीय है - एक है ।[8] जो कुछ भिन्नता या एकता कार्यरूप व्यक्त जगत में भासित होती है, वह सब ब्रह्म की एकता का अतिक्रम किये बिना होता है।[9]

1· वा·प·, 1·1-2

2· वा·प· 1·3

3· वा·प· 1·4

4· यथा- ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदु: । इत्यादि
 - ऋग्वेद, 1·164·39

5· यदि वै प्रजापते: परमस्ति वागेव । - श·प·ब्रा·, 5·1·3·3

6· ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् । - छा·उ·, 7·2·2

7· एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् । -वा·प·, 1·2

8· अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्य: पृथक्त्वेनेव वर्तते ।। - वही

9· यावद् विकारविकारिविभागेनैकत्वरूपं पृथक्त्वरूपं वा सर्वं, तत्प्रकृत्येकत्वानतिक्रमेणेत्येतदाम्नातम् । - वही, वृत्ति

शक्तियां भी भिन्न-भिन्न होते हुए भी ब्रह्म के साथ अभिन्न होने के कारण एकता का त्याग नहीं करतीं । वह शब्दब्रह्म प्रक्रिया-भेद से अनेक प्रकार से प्रविभक्त होता है, परन्तु वस्तुत: वह एक है ।[1] अर्थात् लौकिक दृष्टि से भेद दीखता है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो सब रूपों में वही एक, अद्वितीय शब्दब्रह्म है । वह कारणों का भी कारण है तथा वही जगत् के विभिन्न पदार्थों का रूप ग्रहण करता है । भोक्ता जीव भी ब्रह्म ही है, भोक्तव्य रूप-रस आदि के रूप में भी ब्रह्म ही स्थित है तथा भोगों एवम् अनुभवों के रूप में भी उसी की स्थिति है ।[2] सूक्ष्म स्फोट और स्थूल ध्वन्यात्मक शब्दों के रूप में भी वह शब्दब्रह्म ही स्थित है;[3] जगत् के समस्त जड़-चेतन पदार्थ भी उसी का भासमान रूप है[4] तथा प्राणियों में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में भी वही महान् ऋषभ शब्दब्रह्म अवस्थित है ।[5] सभी प्राणियों में चैतन्य तथा आन्तरिक और बाह्य संज्ञा भी वही पश्यन्ती-वाणी अपरनाम शब्दब्रह्म है ।[6] अत: वह संवर्त और विवर्त - दोनों अवस्थाओं में एक है, अद्वितीय है । सृष्टि की स्थिति में भी शब्दब्रह्म के अद्वैतभाव का कारण यह है कि वह सृष्टि को किन्हीं अन्य उपादानों से उत्पन्न नहीं करता या बनाता है बल्कि वह स्वयं सृष्टि का उपादान है तथा सृष्टि तो मात्र इसका विवर्त है । वह एक अखण्ड तत्त्व शब्दब्रह्म सृष्टि के समय भी अपने स्वरूप से अच्युत रहते हुए भेदानुकार से असत्यरूप में

---

1. यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
   तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ।। - वा॰प॰, 1·22
2. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थिति: ।। - वा॰प॰ 1·4
3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । - वा॰प॰, 1 पूर्वार्द्ध
4. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतो यत: ।। - वा॰प॰, 1·1, उत्तरार्द्ध
5. अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
   प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। - वा॰प॰, 1·130
6. सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
   तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु ।। - वा॰प॰, 1·126

भिन्न-भिन्न रूप-आकारों को ग्रहण करता है - यही उसका विवर्त है ।[1] अतः पारमार्थिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप में दीखने वाले शब्दब्रह्म का भेद असत्य तथा अभेद सत्य है । यही शब्दब्रह्माद्वैत या शब्दाद्वैत का सार है ।

वाक्यपदीय में प्रतिपादित सत्ताद्वैत या भावाद्वैत भी शब्दाद्वैत ही है । "सत्ता" और "भाव" - ये दोनों समानार्थक हैं ।[2] "सत्ता" को जाति भी कहा जाता है । महासत्ता या जाति शब्दब्रह्म का ही पर्याय है । यहां महासत्ता या महाजाति ही विभिन्न शब्द जातियों और अर्थजातियों के रूप में विवृत होती है । आश्रय (व्यक्ति) आदि सम्बन्धियों के भेद से वह सत्ता एक होते हुए भी गोत्व, घटत्व आदि के रूप में भिन्न प्रतीत होती है । शब्द उसी सत्ता अर्थात् जाति के बोधक होते हैं ।[3] प्रत्येक भाव-पदार्थ में दो भावतत्व नियम से रहते हैं - एक सत्यांश और दूसरा असत्यांश । दूसरे शब्दों में एक मूल तत्त्व तथा दूसरा स्थूल तत्त्व । इनमें से जो सत्य अंश है, वह जाति है और जो असत्य अंश है उसे व्यक्ति कहा जाता है ।[4] भर्तृहरि कहते हैं कि निष्कर्षरूप में इस संसार में एक तत्त्व ब्रह्म ही है । वह सर्वशक्तिमान् है । भाव पदार्थों में भेद असत्य और काल्पनिक है ।[5] वही शब्दब्रह्म अपर नाम वाली महासता नित्य है, महान् आत्मा शब्दब्रह्म है, त्व तल् आदि उसी का बोध कराते हैं ।[6] यह महासता शब्दमय है, अतः इसे ही "शब्दब्रह्म" कहा जाता है ।[7] इस प्रकार भर्तृहरि का शब्दब्रह्माद्वैत, सत्ताद्वैत या भावाद्वैत

---

1. एकस्य तत्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः ।
   - वा॰प॰, 1॰1 पर हरिवृत्ति
2. तत्र च भावस्य परमार्थरूपस्य सत्तात्मकस्य ।
   -वा॰प॰, काण्ड-3, जा॰ समु॰ 36 पर हेलाराज
3. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
   जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥ - वही, 33
4. सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।
   सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः ॥-वा॰प॰,काण्ड-3॰1॰32
5. सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः ।
   भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका ॥- वा॰प॰3॰1
6. सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः । - वा॰प॰, 3॰1॰34
7. वा॰प॰, 1॰1 तथा इसकी हरिवृत्ति

सिद्धान्त विभिन्न नामों से एक ही अद्वितीय तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है ।

शब्दब्रह्म और ईश्वर

पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि-दर्शन में उनके अपने शब्दों में ब्रह्म की दो अवस्थाएं हैं । जब वह ब्रह्म अविद्या से रहित, निर्विकार, सर्वविकल्पातीत, व्यवहारातीत तथा सुषुप्ति अवस्था की भान्ति निश्चेष्ट एवं शान्त रहता है, तब भर्तृहरि ने उसे पर ब्रह्म, पर पश्यन्ती या परा प्रकृत्ति के नाम से अभिहित किया है ।[1] परन्तु जब वह ब्रह्म सर्वशक्ति-समाविष्ट अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति अपरनामा कालशक्ति से युक्त होकर समस्त विश्व के अविद्यारूप विवर्त को प्राप्त होता है, ऐसे ब्रह्म को भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म,[2] शब्दवृषभ, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर[3] और परमात्मा[4] कहा है । वह नित्य शब्दात्मा है, समस्त जड़-चेतन जगत का कारण है, सुख दुःख का अधिष्ठान है, उसकी शक्ति कहीं भी बाधित नहीं होती, वह जन्म, पालन और संहार करने की शक्ति से युक्त है, सर्वशक्तिमान् है सब का ईश्वर है ।[5] भर्तृहरि कहते हैं -

> प्रविभज्यात्मनात्मानं दृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान् ।
> सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते ।।[6]

अर्थात् वह सभी का ईश्वर एवं सर्वव्यापी परमात्मा नाना प्रकार के

---

1. वा॰प॰, 1॰1 पर हरिवृत्ति
2. वा॰प॰, 1॰1
3. वा॰प॰, 1॰130 हरिवृत्ति
4. ···· सा सिद्धि परमात्मनः । - वा॰प॰13।
5. इह द्वौ शब्दात्मानौ - नित्यः कार्यश्च ।···नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः, सर्वेषामन्तःसन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुख-दुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः ···प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः, सर्वेश्वरः सर्वशक्तिमान् महान् शब्दवृषभः···। - वा॰प॰, 1॰130 हरिवृत्ति
6. वा॰प॰, 1॰128 की हरिवृत्ति

पदार्थों के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही भोक्ता (प्राणियों के) रूप में प्रकट होता है, परन्तु इसका यह सारा व्यापार स्वप्नवत मिथ्या है । इस प्रकार भर्तृहरि ने ब्रह्म के शक्तिसमन्वित रूप को ही ईश्वर माना है तथा यह ईश्वर "शब्दब्रह्म" से अभिन्न था यूं कहें कि शब्दब्रह्म ही है।

शब्दब्रह्म और जीव

भर्तृहरि ने उक्त श्लोक में बताया है कि वह सर्वेश्वर शब्दब्रह्म ही नाना प्रकार के भोग्यपदार्थों के भोक्ता के रूप में स्थित है । ब्रह्मकाण्ड की एक प्रारम्भिक कारिका[1] में भी कहा है कि वह शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म ही अपनी शक्तियों से एक होता हुआ भी भोक्तव्य पदार्थ, भोक्ता तथा भोग-क्रिया के रूप में स्थित है । यहां दोनों जगह "भोक्ता" "जीव" के लिए ही आया है ।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की "अपिप्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरव-स्थितम्"[2] कारिका में स्पष्ट शब्दों में शब्दों के प्रयोक्ता पुरुष के अन्दर स्थित "आत्मा" अर्थात् जीव के स्वरूप का प्रतिपादन किया है । इस कारिका की स्वोपज्ञ वृत्ति में इसे स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि शब्दात्मा दो हैं - नित्य और कार्य । इनमें कार्य व्यावहारिक आत्मा (जीव) है, जो नित्य शब्दात्मा (शब्दब्रह्म) के प्रतिबिम्ब का उपग्राहक है । नित्य शब्दात्मा (शब्दब्रह्म) की कार्यशक्ति सर्वत्र अप्रतिहत है, परन्तु जिस प्रकार एक दीपक बाहिर की वस्तुओं को प्रकाशित करने में समर्थ होते हुए भी जब घड़े के अन्दर रख दिया जाए तो उसका प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है । उसी प्रकार नित्य शब्दात्मा अर्थात् शब्दब्रह्म अपने ही विवर्तभूत शरीरों में परिगृहीत एवं सीमित

---

1. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ।। - वा॰प॰, 1·4
2. अपिप्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
   प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।।

   - वा॰प॰, 1·130

होने पर उस शरीर के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव करता है ।[1]

इसी प्रकार वाक्यपदीय की दो निम्न कारिकाओं में शब्द-ब्रह्म के जीवभाव का वर्णन भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है -

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम् ।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रितास्त्रय्यान्तवेदिनः ।।[2]

तस्य शब्दार्थसम्बन्धरूपमेकस्य दृश्यते ।
तद् दृश्यं दर्शनं द्रष्टा दर्शने च प्रयोजनम् ।।[3]

इन कारिकाओं में कहा गया है कि वही वेदान्त (उपनिषदों) में प्रतिपादित "एक" सत्य तत्त्व ही दृश्य जगत्, द्रष्टा (जीव) तथा दर्शन (अनुभव) के रूप में दिखाई देता है । यहां "द्रष्टा" पद की व्याख्या करते हुए हेलाराज ने कहा है कि द्रष्टा का तात्पर्य यहां "जीवात्मा" है । यह चेतन ब्रह्म ही है जो अविद्या के कारण भिन्न, नियत तथा संसारी भोक्ता बना हुआ है । तात्त्विक दृष्टि से शब्दब्रह्म और जीवात्मा में यह भेद अनुपपन्न है ।[4] भर्तृहरि ने ब्रह्म-काण्ड की "अपि प्रयोक्तु -" कारिका[5] की स्वोपज्ञ वृत्ति में कार्यशब्दात्मा को अर्थात् जीव को नित्य शब्दात्मा अर्थात् शब्दब्रह्म के प्रतिबिम्ब का उपग्राही बताया है । इससे भी स्पष्ट होता है कि जीव शब्दब्रह्म का ही रूप एवं उससे अभिन्न तत्त्व है ।

---

1. इह द्वौ शब्दात्मानौ - नित्यः कार्यश्च । तत्र कार्यो व्यावहारिकः, पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः, ······ अधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोग-सेवावधिः ··· आदि ।

   - वा·प·, 1·130 की हरिवृत्ति

2. वा·प·, 3, काल· समु· 72
3. वा·प·, 3, द्र· समु· 14
4. द्रष्टापि जीवात्मा अविद्या-कृतावच्छेदो नियतः संसारी, भोक्ता ब्रह्मैव चेतनत्वाद्, भावतो भेदानुपपत्तेः । - हेलाराज, वा·प·3, द्र·समु·14
5. उपरिलिखित पा· टि·संख्या=1

शब्दब्रह्म से जगत् का विकास

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की पहली ही कारिका में कहा है कि उत्पत्ति और नाश से रहित शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म (काल शक्ति से सम्पन्न होकर) अर्थ-जगत् के रूप में विवर्त को प्राप्त होता है ।[1] इसी कारिका की स्वोपज्ञ वृत्ति में प्राचीन आगम के आधार पर उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार क्षुधामा शक्ति ग्रीष्म के अन्त में मेघों से आकाश भर देती है, उसी प्रकार वह शब्द ब्रह्म ऐसे कारणभूत विकारों को बिखेर देता है जो अगले कार्यों की प्रकृति अर्थात् कारण बनते जाते हैं ।[2] उसी शब्दब्रह्म का अद्वितीय और अखण्ड चैतन्य ही बहुधा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में प्रविभक्त होता है ।[3] शब्दब्रह्म की मात्राओं, अंशों या शक्तियों से ही यह शब्दात्मक और अर्थात्मक जगत् विवृत हुआ है तथा, प्रलय के समय भी उन्हीं में लीन होता है ।[4]

प्रकाशों को भी प्रकाशित करने वाली वह परम ज्योति "शब्द-ब्रह्म" सर्वप्रथम ऋक् यजु साम - इस त्रयी के रूप में प्रकट होती है ।[5] सूक्ष्म वाक् से तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित आन्तरज्ञान रूप ब्रह्म अपना स्वरूप प्रकट करने के उद्देश्य से शब्दों के रूप में प्रकट होता है ।[6] न केवल शब्दात्मक अपितु समस्त अर्थजगत् का विकास भी छन्द: से लक्षित सूक्ष्म शब्दात्मक ब्रह्मतत्त्व से ही होता है ।[7]

1· अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। -वा·प·, 1·1

2· प्रकृतित्वमपि प्राप्तान् विकारानाकरोति सः ।
क्षुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसम्प्लवान् ।। - वा·प·, 1·1 हरिवृत्ति पर

3· तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते । - वही

4· ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ;
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ।। - वही

5· शान्तं विद्यात्मकं [illegible] प्रकाशं [illegible] । - वही

6· [illegible] ।
[illegible] ।। - वा·प·, 1·112

7· शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ।। - वा·प·, 1·120

समस्त जीव-जगत आदि प्रपंच का उपादान कारण शब्दब्रह्म है ।[1] उसकी काल नाम की स्वातन्त्र्य शक्ति तथा उसके अधीन अभ्यनुज्ञा क्रम, समवाय आदि शक्तियां सहकारी {निमित्त} कारण हैं जिनके द्वारा वह समस्त नाम-रूपात्मक विश्व के रूप में नाना प्रकार के भाव-विकारों तथा पदार्थों के रूपों-आकारों को बिखेरता है ।[2] उसका यह व्यापार ऐसा है जिस प्रकार सर्प कुण्डल का रूप धारण करता है ।[3] स्वातन्त्र्य नाम की काल-शक्ति से सम्पन्न वह शब्दब्रह्म अपनी "अभ्यनुज्ञा" नामक कारण शक्ति को कार्यकारी बनने की अनुमति देता है । जिन वस्तुओं को जिस में प्रकट नहीं करना चाहता, प्रतिबन्ध नामक कारण शक्ति से उसके प्राकट्य को रोक देता है । इसलिए उसे कठपुतली के सूत्रधार के समान नियामक कहा गया है ।[4] सभी कार्यों का सहकारी कारण {निमित कारण} भी काल को इसी कारण से कहा गया है[5]। ये कार्य उत्पन्न होने के बाद विद्यमान रहते हैं, बढ़ते हैं, बदलते हैं - यह सब भी काल की अभ्यनुज्ञा नाम की अवान्तर कारण शक्ति से होता है । अन्त में कार्य नष्ट होते हैं तो यह प्रलय भी उसकी प्रतिबन्ध शक्ति से होता है ।[6] जब सृष्टि का प्रलय होता है तो अगली सृष्टि के बीज उसी में रहते हैं जो "काल" के वैशिष्ट्य से पककर पुन: सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं । बीज के पकने पर नवीन सृष्टि करने वाली अभ्यनुज्ञा आदि कारण-

---

1· वा·प·, 1·120 तथा अम्बाकर्त्री टीका

2· अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता: ।
जन्मादयो विकारा: षड् भावभेदस्य योनय: ।। - वा·प·, 1·3

3· वा·प·, 3·सा·समु· 105

4· तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते ।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते ।। - वा·प·, 3·1·8

5· सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वपेक्षावतां प्रतिबन्धजन्मना-
मभ्यनुज्ञया सहकारि-कारणं काल: । - वही, 3·1·2 हेलाराज

6· उत्पत्तौ च स्थितौ चैव विनाशे चापि तद्वताम् ।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम् ।। - वही3·1·24

शक्तियां भी उस कालशक्ति की महिमा से प्रकट हो जाती हैं । वे शक्तियां कहां प्रकट होती है, यह भर्तृहरि ने नहीं बताया है । वैशेषिकों के अनुसार ये शक्तियां परमाणुओं में तथा सांख्य के अनुसार प्रधान {मूल प्रकृति} में प्रकट होती है । इन शक्तियों द्वारा सृष्टियों के कारणों को प्रभावित करने पर इनमें परस्पर प्रयोग नामक क्रिया अर्थात् सन्निकर्ष होता है ।[1] इस प्रवृत्ति से कारण सक्रिय हो जाते हैं, एक दूसरे के सन्निकृष्ट हो जाते हैं और कार्यों को उत्पन्न करते हैं । इसके बाद जातिस्वरूप शब्दब्रह्म की ही जातियां अपने लिए अधिष्ठानभूत व्यक्तियों का अन्वेषण करती है जिसमें कोई न कोई जाति समवेत रहती है । इसीलिए जाति को "प्रयोजिका" कहा गया है ।[2] इस प्रकार से उत्पन्न कार्य यद्यपि अपने-अपने कारणों से भिन्न होते हैं, किन्तु उस शब्दब्रह्म की कालशक्ति की "समवाय" नामक सहकारिणी शक्ति के द्वारा उनमें एकत्व आ जाता है जिससे भेद प्रतीत नहीं होता । तदनन्तर गुण और गुण की जातियां प्रकट होती हैं । सृष्टि का यह विकास कालशक्ति के अभ्यनुज्ञा नामक व्यापार से होता है ।[3]

भर्तृहरि ने विवर्तवाद के आधार पर शब्दब्रह्म से विश्व का विकास बताया है । किसी प्राचीन श्रुति के आधार पर उन्होंने विवर्त दो प्रकार का माना है - मूर्ति-विवर्त और क्रिया-विवर्त । ये दोनों प्रकार के विवर्त अविद्याशक्ति की सृष्टिपरक प्रवृत्तिमात्र है ।[4] उत्पत्ति और विनाश आदि क्रियाओं से उपहित कालशक्ति के क्रम को क्रिया विवर्त कहते हैं ।

---

1. विशिष्टकालसंबन्धाल्लब्धमाकासु शक्तिषु ।
   क्रियाभिव्यज्यते नित्या प्रयोगाख्येन कर्मणा ।। - वा॰प॰, 3॰1॰20 तथा हेलाराज
2. जातिप्रयुक्ता तस्यां तु फलव्यक्तिः प्रतीयते ।
   कुतोऽप्यद्भुतया वृत्या शक्तिभिः सा नियम्यते ।। - वही, 3॰1॰21
4. उक्तं च - "मूर्तिक्रियाविवर्तौ अविद्याशक्ति-प्रवृत्तिमात्रम् ।
   -वा॰प॰ 1॰2 पर हरिवृत्ति
3. ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका ।
   एकत्वमिव सा व्यक्तीरापादयति कारणैः ।। -वा॰प॰, 3॰1॰22 तथा हेलाराज

अर्थात् परब्रह्मस्वभावा सत्ता काल एवं अभ्यनुज्ञा शक्तियों के आश्रय से षड्भाव विकारों में प्रकट {विवृत} होती है । इसे ही साध्य या क्रिया विवर्त कहा जाता है ।[1] जब क्रमरूप का प्रतिबन्ध और निष्पन्दावस्था अभिप्रेत होती है तो वही परम सत्ता सत्य या द्रव्यरूप में प्रकट होती है । यही मूर्ति या सिद्ध विवर्त है ।[2] नदी, पर्वत, पृथ्वी आदि वस्तुएं जो देश-विशेष को घेरकर रहती है ब्रह्म के मूर्तिविवर्त के रूप में प्रकट होते हैं ।[3]

इस प्रकार भर्तृहरि के सृष्टिसिद्धान्त का प्रासाद उनके विवर्त के मौलिक सिद्धान्त पर खड़ा है, तथा यह विवर्तवाद उनके शब्दब्रह्म के अद्वैत सिद्धान्त का पोषक है । इस सृष्टि सिद्धान्त में अभ्यनुज्ञा आदि शक्तियों के व्यापार का वर्णन भर्तृहरि ने जिस प्रकार किया है, वह सांख्य तथा वैशेषिक के पदार्थ निरूपण का स्मरण करवाता है । इन्होंने सांख्य आदि की भान्ति जागतिक पदार्थों, तन्मात्राओं, पंचमहाभूतादिकों की क्रमिक सृष्टि नहीं बताई है । इसका कारण यही हो सकता है कि एक तो व्याकरण-दर्शन का यह मुख्य विषय नहीं रहा है और दूसरे भारतीय दर्शनों की परस्परानुबन्धिनी सोपान-परम्परा में किसी अन्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यदि अपने अनुकूल हों तो उन्हें उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जाता है । न्यायदर्शन में प्रमाण-मीमांसा मौलिक एवं विस्तारपूर्वक प्रतिपादित है, अतः अन्य दर्शनों में स्वाभिमत प्रमाणों की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में उपलब्ध होती है । सांख्य ने सृष्टि सिद्धान्त पर विस्तार से महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला तो वेदान्त ने मात्र स्वाभिमत पक्ष रखकर शेष सांख्य सिद्धान्त को ही स्वीकार कर लिया । इसी प्रकार भर्तृहरि ने भी सृष्टि के क्रम तथा तत्त्वों पर एक-एकशः सांगोपांग विवेचन करने की अपेक्षा

---

1. उत्पादविनाशादि क्रियोपहितरूपावस्थानं क्रियाविवर्तः ।
   - श्री वृषभ, वा·प·, 1·3 पर
2. साधनसम्पर्कहेतुकप्रतीयमानरूपापरामर्शे सत्तैव सत्वं द्रव्यमित्युच्यते इति सिद्धसाध्यरूपो द्विधा विवर्तः तन्मात्ररूपस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ।
   - हेलाराज, वा·प·, 3·1·36 पर
3. देशभेदावग्रहरूपेणावस्थानं मूर्तिविवर्तः ।
   - श्रीवृषभ, वा·प·, 1·3 पर

केवल उतना ही विचार किया जो शब्दब्रह्म, विवर्तवाद तथा कालशक्ति के प्रतिपादन के लिए आवश्यक था । इसी कारण भर्तृहरि के विश्व विकास सम्बन्धी विचार किसी प्रकरण विशेष में निबद्ध न होकर उक्त सन्दर्भों में ही उपलब्ध होते हैं । वैयाकरणों में नागेश भट्ट ने इसे आगे बढ़ाते हुए सृष्टि के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला है परन्तु उनका यह विवेचन वैयाकरण परम्परा का न होकर शैवतन्त्रों से अत्यधिक प्रभावित है, जबकि भर्तृहरि का वेदान्त{ श्रुति} तथा प्राचीन व्याकरणागम पर आधारित शब्दाद्वैतवाद, विवर्त-वाद तथा सृष्टि विषयक विवेचन न केवल मौलिक है अपितु अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों के अतिरिक्त शैव दर्शन तथा वेदान्त दर्शन के प्रख्यात लेखकों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बना है ।

शब्दब्रह्म से सायुज्यरूप मोक्ष

अन्य भारतीय दर्शनों की भान्ति ही व्याकरण-दर्शन भी मोक्ष को अन्तिम एवं चरम लक्ष्य मानता है । "महता देवेन नः साम्यम् यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्"[1] कहकर महर्षि पतंजलि ने महान् देव {शब्दब्रह्म} से साम्य प्राप्त करने हेतु व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की । श्रुति को व्याकरणस्मृति का आधार मानने वाले भर्तृहरि ने "आत्मेवोपासीत" 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"[2] आदि श्रुतियों तथा पतंजलि के उक्त विचार सूत्र के अनुकूल शब्दब्रह्म से सायुज्यरूप मोक्ष प्राप्त करने की बात एक दार्शनिक की तरह खुलकर की है ।[3] "तद द्वारमपवर्गस्य;"[4] "तद व्याकरणामागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते;"[5]

1· व्या·म·भा· आह्निक ।

2· बृ·आ·, 2·4·5

3· वा·प·, 1·130

4· वा·प·, 1·14

5· वा·प, 1·22

" इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति:"[1]- इत्यादि वचनों द्वारा भर्तृहरि ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि व्याकरण-शास्त्र मोक्षप्राप्ति का भी उपाय है तथा इससे परब्रह्म की प्राप्ति होती है । यह मोक्ष चाहने वाले लोगों के लिए अकुटिल अर्थात् सीधा सा राजमार्ग है ।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की पहली चार कारिकाओं में शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करके पांचवी कारिका में कहा है कि उसका अनुकार {प्रतिमा} तथा प्राप्ति का उपाय वेद है ।[2] इस दृष्टि से व्याकरण, जिसे वेद का उपकारक होने से उसका प्रधान अंग कहा गया है, परम्परया ब्रह्म प्राप्ति में उपाय है । परन्तु ब्रह्मकाण्ड की "अपि प्रयोक्तु:-" तथा "तस्मात् य: शब्दसंस्कार: -" इन दो कारिकाओं[3] में व्याकरण को साक्षात् सायुज्य मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बताया गया है ।

ब्रह्मकाण्ड की पांचवीं कारिका "प्राप्त्युपायोनुकारश्च तस्य-" की स्वोपज्ञ वृत्ति में भर्तृहरि ने ब्रह्म की प्राप्ति के दस विकल्प प्रतिपादित किये हैं । इनमें पहला विकल्प या मत यह है कि मेरा और मैं इस प्रकार की अहंकारग्रन्थि ही जन्मबन्धन का कारण है । तत्त्व ज्ञान से इस अहंकार ग्रन्थि को अतिक्रान्त करने पर ब्रह्म प्राप्ति होती है । यह उपनिषदों के ऋषियों का मत है ।[4] भर्तृहरि ने ब्रह्मप्राप्ति के दस विकल्प बताकर उनमें से उपनिषत्कारों द्वारा प्रतिपादित उक्त प्रथम विकल्प को ही व्याकरण-परम्परा में स्वीकृत बताया है । शेष नौ विकल्पों में "इत्यपरे" कहकर अनिष्ठा जताई है[5]।

मोक्ष चार प्रकार का कहा गया है - सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य । इनमें से सायुज्य अर्थात् शब्दब्रह्म से ऐक्यरूप मोक्ष ही

1· वा·प, 1·16

2· प्राप्त्युपायोनुकारश्च तस्य वेद: ····। -वा·प·, 1·5

3· वा·प·, 1·131-32

4· ममाहमित्यहंकारग्रन्थिसमतिक्रममात्रं ब्रह्मण: प्राप्ति: । - वही, 1·5 वृत्ति

5· वही, वृत्ति

भर्तृहरि को स्वीकृत है । वह कहते हैं कि महर्षियों ने शब्दप्रयोक्ता की आत्मा को, जो उसी के अन्दर स्थित है, महान् देव {ब्रह्म} कहा है और वे {महर्षि लोग} उसी {ब्रह्म} के साथ सायुज्य {ऐक्य} चाहते हैं ।[1] इस संसार में शब्दात्मा दो हैं - एक नित्य तथा दूसरा कार्य । इनमें कार्य व्यावहारिक पुरुष अर्थात् जीवात्मा है जो नित्य पुरुष शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है ।[2] वह {शब्दब्रह्म} नित्य, है तथा समस्त व्यवहारों का कारण है । जिस प्रकार घट के अन्दर रखा गया दीपक घट के बाहिर की वस्तुओं को प्रकाशित करने में समर्थ होता हुआ भी घट के आवरण के कारण उन्हें प्रकाशित नहीं कर पाता, बल्कि घट से अवरुद्ध होने से अन्तश्चारी रहता है, उसी प्रकार नित्य शब्दात्मा {शब्दब्रह्म} सर्वशक्तिमान होते हुए भी भोगक्षेत्र अर्थात् शरीर की अवधि को स्वीकार करके जीवात्मा के रूप में केवल वहीं भोगों को उपलब्ध करता है, शरीर से बाहिर नहीं ।[3] वाणी के योग को जानने वाला वैयाकरण ज्ञान द्वारा अहंकार ग्रन्थियों को काटकर अत्यन्त विनिर्भाग के रूप से उस शब्दब्रह्म से ऐक्य को प्राप्त करता है ।[4]

अत: शब्दसंस्कार साक्षात् परमात्मा की सिद्धि है । इस शब्द-ब्रह्म की षड्भाव-विकार रूप प्रवृत्ति और सत्य तत्त्व को ठीक से जानने वाला

---

1. अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
   प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। - वा॰प॰, 1॰130
2. इह द्वौ शब्दात्मानौ - नित्य: कार्यश्च । तत्र कार्यो व्यावहारिक: पुरुषस्य वागात्मन: प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु -वा॰प॰1॰130, वृत्ति
3. नित्यस्तु {शब्दात्मा} सर्वव्यवहारयोनि: ... अधिष्ठानं सुखदु:खयो:, सर्वत्राप्रतिहत-कार्यशक्ति: घटादिनिरुद्धइव प्रकाश: परिगृहीतभोगक्षेत्रावधि:.. सर्वशक्तिमान् महान् शब्दवृषभ: । - वही, वृत्ति
4. तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिन्नाहंकारग्रन्थीन् अत्यन्तविनिर्भागेण संसृज्यन्ते । - वा॰प॰, 1॰130 वृत्ति

वाग्योगविद् (वैयाकरण) वेदों, उपनिषदों, व्याकरणागम तथा ब्रह्मकाण्ड आदि में वर्णित उस अमृत ब्रह्म का अनुभव करता है[1] तथा ऐसा करने से स्वयं भी ब्रह्म ही बन जाता है ।[2]

स्फोट और ध्वनि

भर्तृहरि ने ब्रह्म, स्फोट और प्राकृतध्वनि- इन तीन को शब्द कहकर[3] विवेचित किया है । उनके शब्दाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार स्फोट और ध्वनि भी अन्य पदार्थों की तरह ही पारमार्थिक दृष्टि से शब्दब्रह्म से अभिन्न हैं । परन्तु यहां यह अवधेय है कि स्फोट शब्द का प्रयोग भर्तृहरि ने कहीं भी शब्दब्रह्म के पर्यायवाची के रूप में नहीं किया है । वह शब्दब्रह्म को स्फोट से कहीं बहुत गहरा और भिन्नरूप से लेते हैं ।[4] स्फोट का प्रतिपादन भर्तृहरि ने अर्थवाचक सूक्ष्म शब्द के रूप में तथा प्राकृत ध्वनि का उस स्फोट के अभि-व्यंजक के रूप में किया है ।[5]

स्फोट और ध्वनि :

भर्तृहरि ने अर्थ की वाचकता के सम्बन्ध में शब्द का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है -

> द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः ।
> एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ।।[6]

1· तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः
   तस्य प्रवृत्ति तत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ।। - वा·प·, 1·131

2· क) ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति । - श्रुति
   ख) वा·प·, 1·130-31

3· क) अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । - वा·प·, 1·1
   ख) प्राकृतस्यध्वनेः कालः शब्दस्य (स्फोटस्य) इत्युपचर्यते । - वा·प·1·76
   ग) न भेदो ध्वनिशब्दयोः । - वा·प·, 1·96

4· वा·प, 1·131 की हरिवृत्ति

5· वा·प·, 1·11

6· वा·प·, 1·44

अर्थात् अर्थ का उपादान §ग्रहण§ कराने वाले वाचक शब्द में दो प्रकार के शब्द समाहित हैं - §स्फोट और ध्वनि§ । उनमें से एक शब्दों का कारण है और दूसरा अर्थ के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है । इसका तात्पर्य यह है कि शब्द दो प्रकार का है जो अर्थबोधन में निमित्त बनता है - स्फोट और ध्वनि । स्फोट शब्द शब्दभावनारूप सूक्ष्म और नित्य है । ध्वन्यात्मक शब्द विखर §शरीर§ से उच्चार्यमाण, वैखरीरूप, स्थूल §श्रोत्रेन्द्रिय से उपलभ्यमान§ एवम् अनित्य है । इनमें से वक्ता और श्रोता - दोनों के लिए उनके अन्त:करण में स्थित सूक्ष्म स्फोटशब्द ही अर्थ का बोधक होता है । ध्वनि-शब्द तो मात्र उस अर्थबोधक स्फोट को जगाने का उपाय या निमित्त है । वक्ता को ध्वन्यात्मक शब्दों के बिना ही उसके अन्त:स्थित सूक्ष्म स्फोट के द्वारा ही बौद्ध अर्थ का बोध हो जाता है । क्योंकि स्फोट और बौद्ध अर्थ में तादात्म्य होता है । परन्तु जब वक्ता श्रोता को उन अर्थों का बोध कराना चाहता है तो वह श्रोता के अन्त:करण में स्थित सूक्ष्म स्फोट को जगाने की इच्छा से ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग करता है । अत: वक्ता द्वारा ध्वन्यात्मक शब्दों के उच्चारण में स्फोटात्मक शब्द निमित्त होता है । परन्तु श्रोता के लिए वक्ता द्वारा उच्चारित तथा श्रोता की श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत ध्वन्यात्मक शब्द उसके §श्रोता के§ अन्त:करण में स्थित सूक्ष्म स्फोट शब्द को जगाने का निमित्त बनता है । ध्वनिशब्द से अभिव्यक्त हुआ वह स्फोटशब्द श्रोता को अर्थ का ज्ञान करवाता है । इस प्रकार वैयाकरणों के मतानुसार सूक्ष्म तथा नित्य स्फोटशब्द ही अर्थबोधक माना गया है तथा उच्चार्यमाण तथा श्रूयमाण ध्वन्यात्मक §अनु-शासनीय§ शब्द को स्फोट के अभिव्यंजन का सरल और व्यावहारिक उपाय कहा गया है ।[1]

भर्तृहरि उक्त दर्शन को दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हैं कि अरणि में आग बीजरूप में होती है । जिस प्रकार वह मन्थन करने पर दाहक एवं प्रकाशक अग्नि का कारण बनती है उसी प्रकार वक्ता की बुद्धि §अन्त:करण§ में स्थित स्फोट शब्द भी अर्थ बोध की इच्छा से प्रकट होकर भिन्न-भिन्न

---

1. वा·प·, 1·44 की हरिवृत्ति, अम्बाकर्त्री तथा भावप्रदीप

श्रुतियों का कारण बनता है ।[1]

स्फोट शब्द तथा ध्वन्यात्मक शब्द में परस्पर स्वभाव-भेद से भेद है, अर्थात् ये दोनों स्वभावतः भिन्न हैं - ऐसा कुछ प्राचीन लोक मानते हैं । परन्तु कार्य और कारण में अभेद मानने वाले दूसरे लोग स्फोट और वैखरी शब्द को एक और अभिन्न मानकर मात्र बुद्धिभेद से ही भेद मानते हैं ।[2]

उच्चारण से पहले अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा 'योयं शब्दः सोर्थो योर्थः स शब्दः' इस प्रकार के अध्यासरूपी संकेत के द्वारा बुद्धि (अन्तःकरण) में स्थित स्फोट शब्द और बौद्ध अर्थ में तादात्म्य होता है । फिर प्रयोक्ता श्रोता को अर्थ समझाने की इच्छा से, स्फोट शब्द का जिस अर्थ में तादात्म्य गृहीत करता है उस प्रकार की ध्वनि का उच्चारण करता है । इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ वह स्फोट शब्द स्वयं अविकृत होता हुआ भी कृत गत्वादि विकृत धर्मों भी मानता है ।[3]

यद्यपि वह स्फोट रूपी शब्द कालकृतपरिच्छेद से रहित है । अतः नित्य है । तथापि स्फोट को व्यक्त करने वाली अनित्य ध्वनि में कालिक सम्बन्ध होने से उनके उपाधिभेद से द्रुतता ह्रस्वत्व आदि वृत्तियों के भेद माने जाते हैं ।[4] ध्वनि दो प्रकार की होती है - प्राकृत तथा वैकृत । अनुशासनीय शब्दों की उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण ध्वनियों में से प्रारम्भिक ध्वनियां प्राकृत ध्वनि कहलाती है । उन प्राकृत ध्वनियों से पैदा होने वाली, संगीत आदि

---

1. अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तर-कारणम् ।
   तद्वच्छब्दोपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। - वा॰प॰, 1·46
2. आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः ।
   बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ।। - वा॰प॰, 1·45
3. वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः ।
   करणेभ्यो विवृतेन ध्वनिना सोनुगृह्यते ।। - वा॰प॰, 1·47
4. स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ।
   ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ।। - वा॰प॰, 1·75

के स्वरों में स्पष्टत: श्रूयमाण ध्वनियाँ वैकृत ध्वनियां कहलाती हैं। इनमें से प्राकृत ध्वनि ही स्फोट की व्यंजक होती है, वैकृत नहीं। प्राकृत ध्वनि के ह्रस्वत्व आदि धर्म स्फोटशब्द में भी आरोपित हो जाते हैं।[1]

जिस प्रकार जल में दिखाई देने वाला चन्द्रमा आदि का प्रतिबिम्ब यद्यपि स्वयं नहीं हिलता है, परन्तु अनेक जल तरंगों के हिलने से अनेक रूपों में हिलता हुआ दिखता है, उसी प्रकार का सम्बन्ध स्फोट और नाद में भी है।[2] यद्यपि वह स्फोट शब्द स्वरूपत: एक, अखण्ड और अक्रम है। तथापि स्फोट को अभिव्यक्त करने वाले उच्चार्यमाण नाद (प्राकृत ध्वनि) की उत्पत्ति क्रम से होती है अत: स्फोट भी सक्रम और सखण्ड की तरह भासित होता है।[3]

इस प्रकार भर्तृहरि ने स्फोट तत्त्व को अत्यन्त विस्तार से विवेचित किया है। सारांश यही है कि सूक्ष्म और नित्य स्फोट ही वक्ता और श्रोता - दोनों के लिए अर्थ का बोधक होता है। वह प्राकृतध्वन्यात्मक शब्द द्वारा व्यंग्य है। यह ध्वन्यात्मक शब्द मात्र उसका व्यंजक है। उन्होंने ध्वन्यात्मक शब्द के इस महत्त्व को भी स्वीकारा है कि श्रोता की बुद्धि में सोये हुए अर्थबोधक स्फोट को जगाने के लिए वैखरी शब्द अत्यन्त उपयोगी है तथा इस स्फोट की उपलब्धि सदा ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही होती है।[4] वाक्यपदीय का स्फोटवाद सूक्ष्म-स्फोट के ध्वनिसम्बद्ध रूप को मुख्यरूप से प्रतिपादित करता है। भर्तृहरि ने एक अखण्ड और अक्रम स्फोट का वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप में परिच्छेद भी ध्वनि के आधार पर ही किया है।[5]

---

1. प्राकृतस्य ध्वने: काल: शब्दस्येत्युपचर्यते। - वा.प., 1.76
2. प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
   तत्प्रवृत्तिमन्वेति स धर्म: स्फोटनादयो:॥ - वा.प., 1.49
3. नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च स:।
   अक्रम: क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥ - वा.प, 1.48
4. ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते। - वा.प, 1.75 हरिवृत्ति
5. वा.प., 1.89 हरिवृत्ति

भर्तृहरि ने स्फोट के अखण्ड सखण्ड, वाक्य, पद, वर्ण आदि स्फोट के भेद उस प्रकार पृथक्-पृथक् करके स्पष्ट शब्दों में नहीं किये हैं जैसे बाद में कौण्डभट्ट, नागेशभट्ट आदि वैयाकरणों ने भूषण और मंजूषा आदि में किये हैं, परन्तु उन्होंने ये भेद भर्तृहरि के ध्वन्यात्मक शब्दों [वाक्य पदों] के कल्पित भेद तथा इन [ध्वन्यात्मक शब्दभेदों] के स्फोट में आरोपित हो जाने के सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन के आधार पर ही किये हैं। भर्तृहरि के ग्रन्थों में "अखण्ड स्फोट""सखण्ड स्फोट""बाह्यस्फोट""आभ्यन्तर स्फोट" जैसे शब्दों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि उन्होंने सखण्ड स्फोट और अखण्ड स्फोट के लिए भाग शब्द तथा निर्भाग शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृहरि के स्फोट विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि वह अखण्ड वाक्य स्फोट को ही वाचक मानते हैं, वर्ण, पद आदि भेद काल्पनिक हैं।[1] शब्दगत जातिस्फोट - वादियों, व्यक्तिस्फोटवादियों और शब्द को एक तथा नित्य तत्त्व माने वाले वैयाकरणों के दर्शन को भर्तृहरि ने निष्पक्ष होकर प्रकट किया है।[2]

व्याकरण दर्शन के शब्दाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से स्फोट शब्द निश्चय ही शब्दब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु यह अभिन्नता अन्य सूक्ष्म पदार्थों की तरह ही है। भर्तृहरि ने स्फोट शब्द को शब्द ब्रह्म के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं किया है, जैसा कि बाद के कुछ वैयाकरणों और समीक्षकों ने किया है। भर्तृहरि ने निस्सन्देह स्फोट को नित्य और स्फोटात्मा कहा है। परन्तु उन्होंने इस शब्द का प्रयोग सावधानी से ध्वनिव्यंग्य, सूक्ष्म, नित्य एवं अर्थबोधक शब्द के रूप में ही किया है। जगत् के शब्दात्मक मूल कारण के लिए वह "शब्दब्रह्म""ब्रह्म" "पश्यन्ती" या "सत्ता" जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। भर्तृहरि ने स्फोट के लिए पश्यन्ती या मध्यमा शब्द का प्रयोग नहीं किया है, यद्यपि उन्होंने स्फोट को इनसे भिन्न भी नहीं बताया है। बाद के वैयाकरणों ने स्फोट को शब्दब्रह्म मानकर इसकी ही क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी - ये चार अवस्थाएं बताई हैं।[3]

---

1. वा॰प॰, 1·173

2. वा॰प॰, 1·93-94

3. द्र॰, वैयाकरण-सिद्धान्तलघुमंजूषा, पृ॰ 159

मध्यमा : यही वाक् जब इन्द्रिय में न रहकर सूक्ष्म स्थिति में अन्तः सन्निविष्ट (या हृदयस्थ) रहती है, वह मध्यमा कहलाती है। इसका उपादान कारण बुद्धि है। मध्यमा वाक् वर्णात्मक क्रम वाली न होते हुए भी बुद्धि में उस विशिष्टक्रम को स्वीकार करती हुई सी भासित होती है।[1] भर्तृहरि कहते हैं कि कुछ लोग मानते हैं कि मध्यमा वाक् सूक्ष्मप्राणवृत्ति का अनुगमन करती है, स्थूल प्राण का नहीं। क्रम के न रहने पर भी प्राणवृत्ति को स्वीकार किये हुए रहती है।[2] भर्तृहरि ने इस मध्यमा को परमोपांशु भी कहा है।[3]

पश्यन्ती : वाक् की और अधिक सूक्ष्म स्थिति है पश्यन्ती। यहाँ क्रम भासित नहीं होता है। यह अभिन्न एवं अखण्ड है। क्रमशक्ति इसमें समाविष्ट हो जाती है।[4] इस पश्यन्ती के अपरिमितभेद हैं - चलाचला, प्रतिलब्ध समाधाना, आवृता, विशुद्धा, सन्निविष्ट-ज्ञेयाकारा, प्रतिलीनाकारा, निराकारा, परिच्छिन्नार्थ-प्रत्यवभासा, संसृष्टप्रत्यवभासा, शान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा आदि।[5]

वैखरी कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप लोक व्यवहार में उपयोगी है। मध्यमा में भी स्वसंवेदित अवस्था व्यवहारानुपाती है। पश्यन्ती के सन्निविष्टज्ञेयाकारा और परिच्छिन्न प्रत्यवभासा - ये भेद व्यवहार के योग्य कहे जा सकते हैं।[6] "पर पश्यन्ती" का रूप जिसे प्रतिलब्ध-समाधाना, विशुद्धा,

---

1. मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना।
 - वा॰प॰, 1·143 की हरिवृत्ति
2. सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता क्रमसंहारभावेऽपि व्यक्तप्राणपरिग्रहेव केषाञ्चित्।
 - वही, हरिवृत्ति
3. वा॰प॰, 2·19 की वृत्ति
4. प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। - वही, वृत्ति
5. वा॰प॰, 1·143 की हरिवृत्ति। पश्यन्ती के इन भेदों की व्याख्या के लिए [illegible] की पद्धति तथा पं॰ रघुनाथ शर्मा की [illegible]।
6. वही, "पद्धति" तथा "[illegible]"

निराकारा और प्रशान्तसर्वार्थ-प्रत्यवभासा कहा गया है, शुद्ध होने से असंकीर्ण, अपभ्रंशरहित और लोक व्यवहार से परे हैं ।[1] इसी व्यवहारातीत पर पश्यन्ती वाक् (शब्दब्रह्म) की व्याकरण के द्वारा अथवा शब्दसाधुत्वज्ञान से लभ्य शब्दपूर्वयोग के द्वारा प्राप्ति होती है - यह आगम का सिद्धान्त है ।[2]

भर्तृहरि ने पर पश्यन्ती को व्यवहारातीत तत्त्व कहा है । यह बात उन्होंने महाभाष्यदीपिका में भी इस प्राचीन उद्धरण को देकर कही है - "नित्य: पृथिवीधातु: । पृथिवी - धातौ किं सत्यम्? विकल्प: । विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम् । ज्ञाने किम् सत्यम् ? ओम् । अथ तद् ब्रह्म । तदेदद्युक्तं भवति । अत: परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते । व्यवहारातीतोयमर्थ इति ।"[3]

भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ वृत्ति में इतिहास के नाम से महाभारत के कुछ प्रासंगिक श्लोक उक्त सन्दर्भ में उद्धृत किये हैं । इनमें भी ताल्वादिस्थान से उच्चार्यमाण को वैखरी और केवल बुद्धिमात्र उपादान-कारण वाली क्रमरूप से युक्त, प्राणवृत्ति से अतिक्रान्त वाक् को मध्यमा कहकर[4] पश्यन्ती का स्वरूप इस प्रकार बताया है -

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वत: संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्त: सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।[5]

अर्थात् पश्यन्ती वाक् विभागरहित है । शब्द और अर्थ के क्रम का यहाँ सर्वथा अभाव है । हृदय देश में स्थित, यह सूक्ष्मा वाक् स्वरूप-ज्योति है । अर्थात्

---

1. परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम् । -वा॰प॰, 1.143,वृत्ति
2. तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागम: । - वही, हरिवृत्ति
3. महाभाष्यदीपिका, पृ॰ 27 पूना संस्करण
4. वा॰प॰, 1.143 पर उद्धृत इतिहास (महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, अनुगीतान्तर्गत ब्राह्मणगीता अध्याय 21, श्लोक 1-2
5. वही, श्लोक संख्या 3

वाक् के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है । वह अनपायिनी अर्थात् विनाश-रहित है ।

उक्त पद्य में क्या पश्यन्ती के लिए ही "सूक्ष्मा" इस विशेषण का प्रयोग हुआ है अथवा यह "सूक्ष्मा" नाम की चौथी वाणी उक्त पद्य के उत्तरार्ध में कही गयी है, यह विचारणीय है । वृषभदेव ने वाक्यपदीय की पद्धति टीका में तथा वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में इस पद्य की जो व्याख्या की है, उससे पश्यन्ती और सूक्ष्मा वाणियों का स्पष्ट तौर पर पार्थक्य नहीं कहा गया है । परन्तु प्रमेय कमलमार्तण्ड में सूक्ष्मा को चतुर्थी वाक् वैयाकरण सम्प्रदायानुसारी कहा गया है ।[1] नागेश भट्ट ने महाभाष्य के उद्योत में उक्त पद्य को उद्धृत करके इसमें सूक्ष्मा शब्द के स्थान पर परा शब्द का उल्लेख किया है तथा इसे वाक् की चतुर्थी अवस्था बताया है ।[2] श्रृंगार प्रकाश के प्रथम व्याकरण भाग में भोजराज ने भी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा - ये चार प्रकार की वाक् मानकर उक्त पद्य तथा इसके साथ के अन्य पद्यों को उद्धृत किया है ।[3]

भर्तृहरि ने "वैखर्याश्च -" इस पूर्वोक्त कारिका की वृत्ति को आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि वह त्रयी वाक् चैतन्यग्रन्थि के विवर्त के समान अनन्त परिमाणों वाली है, अपने तुरीय रूप से या चौथाई भाग से मनुष्यों में प्रत्यवभासित होती है । इनमें भी इस त्रयी वाक् का कुछ ही भाग व्यावहारिक है, शेष सामान्य व्यवहार से परे है ।[4] यहां वृत्ति में आगम -के"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि ..."[5] को उद्धृत किया गया है । कुछ लोग मात्र इस ऋचा के उद्धरण को इस बात का प्रमाण मानते हैं कि भर्तृहरि वाणी के

---

1. प्रमेयकमलमार्तण्ड
2. व्या० म०भा०, उद्योत, आह्निक-1, पृ० 26
3. श्रृंगारप्रकाश, नवम प्रकाश, पृ० 367
4. वा०प०, 1.143 की हरिवृत्ति
5. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
   गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।
   - ऋ०वे०, 1.164.45

चार पद को मानने वाले थे ।[1] परन्तु यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने इस अंश के "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" का अर्थ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात किया है[2] तथा कैयट ने तुरीय आदि का अर्थ किया है कि इन नाम आख्यात आदि प्रत्येक का चौथा अंश ही अवैयाकरण मनुष्य बोलते हैं ।[3] भर्तृहरि ने भी वाणी के चतुर्थ अंश के मनुष्य में प्रत्यवभासन की बात कह कर उसी सन्दर्भ में उक्त कारिका को उद्धृत किया है ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि ने मूल कारिका तथा इसकी वृत्ति में वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के नाम से वाक् की भी - तीन अवस्थाओं वाला माना है । यद्यपि वह पश्यन्ती के अनेक अपरिमित भेद मानते हैं जिनमें से प्रतिसंहृतक्रमा-समाधाना, विशुद्धा, निराकारा और प्रशान्तसर्वार्थ-प्रत्यवभासा रूपों को लोकव्यवहारातीत कहा है और इसे "पर पश्यन्ती" का नाम दिया है । नागेश भट्ट ने भर्तृहरि की इस "पर-पश्यन्ती" को ही परा कहा है तथा प्रमाण में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत महाभारत के उपरिलिखित पद्य को प्रस्तुत किया है जहां सूक्ष्मा वागनपायिनी के स्थान पर (पाठभेद के कारण) परा वागनपायिनी लिखा है । अधिकांश विद्वानों ने महावैयाकरण नागेश भट्ट द्वारा वाक् की चौथी "परा" अवस्था को व्याकरण-दर्शन में स्वीकार करने का कारण उनपर तन्त्र का अत्यधिक प्रभाव बताया है । परन्तु नागेश ने स्वयं इसे भर्तृहरि के दर्शन के अनुकूल बताने का प्रयास किया है । वह कहते हैं कि पश्यन्ती लोकव्यवहारातीत है, परन्तु योगिजनों को वहां भी प्रकृति-प्रत्यय के विभाग की अवगति रहती है । परा वाणी में व्याकरण की यह दृष्टि नहीं रहती या भासित होती है ।[4] यद्यपि नागेश भट्ट का यह तर्क इस दृष्टि से सही लगता है कि भर्तृहरि ने

---

1. वैदिकल्पन्यास, ... पृ० 45 पर "व्याकरण-सम्प्रदाये स्फोटपरम्परा" लेख पर श्री ... मिश्र
2. ... , आह्निक-1 पृ० ...
3. वही, प्रदीप
4. वही, प्रदीपोद्योत, आह्निक-1, पृ० 26, "चत्वारि" की व्याख्या पर

जिस [illegible] कारिका में वैखरी आदि "त्रयी" वाक् का प्रतिपादन किया है - वह मुख्यरूप से व्याकरण की चर्चा से [illegible] है । [illegible] कहा है कि यह व्याकरण त्रयी वाक् का परम पद है ।[1] वृत्ति में भी इसे स्पष्ट किया गया है कि वैखरी तथा मध्यमा और पश्यन्ती का स्वरूप (साक्षात या परम्परा से) व्याकरण में निबद्ध है । परन्तु व्याकरण आदि के व्यवहार से परे विशुद्ध, निराकारा आदि स्वरूप वाली [illegible] सूक्ष्मतम अवस्था अर्थात् "पर पश्यन्ती" यदि भर्तृहरि को [illegible] वाक् की चौथी अवस्था के रूप में अभिप्रेत होती तो वह [illegible] स्पष्ट करते, विशेषतया महाभारत से उद्धृत पद्यों के सन्दर्भ में, [illegible] के लिए सूक्ष्म (या नागेश के अनुसार परा) कहा गया है ।

यही कारण है कि काश्मीर शैवागम के दार्शनिक लेखकों ने भर्तृहरि को पश्यन्ती और परा को एक मानने वाला कहा है ।[2] अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने भर्तृहरि का अत्यन्त आदर से स्मरण करते हुए तथा व्याकरण-दर्शन की "त्रयी वाक्" के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए चौथी "परा" नाम की वाक् का प्रतिपादन किया [illegible] और वैयाकरणों को इस चतुर्थ व्यवहारातीत वाक् को पृथक् मानने का सुझाव दिया है ।[3]

वस्तुतः व्याकरण-दर्शन और शैवागम का वाक् के प्रतिपादन का [illegible] दार्शनिक दृष्टिकोण [illegible] है । भर्तृहरि का दर्शन स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता हुआ अन्ततः [illegible] रूप प्रतिभा या महासत्ता पर आधारित है जिसे उन्होंने पश्यन्ती या पर पश्यन्ती और शब्दब्रह्म भी कहा है ।[4] शैवागम का वाक् दर्शन शिव-शक्ति का सामंजस्य बैठाते हुए प्रवृत्त हुआ है जो पहले से स्वीकृत मान्यताओं को पुष्ट करता है । परा वाणी को

---

1. [illegible] त्रय्याः वाचः परम पदम् । [illegible] वा॰ प॰, 1·143
2. इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् ।
   तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥ - शिवदृष्टि, 2·2
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग-II, पृ॰ 193
4. वा॰ प॰, 1·143 की वृत्ति

अवधारणा उनके स्वाभिमत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अपेक्षित थी जबकि भर्तृहरि के स्वतन्त्र शब्दाद्वयवाद सिद्धान्त में इसकी पृथक् से प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं थी । जहाँ [illegible] नागेश भट्ट द्वारा "परा" वाणी के स्वीकार करने की बात है, वह शैवतन्त्र से अधिक प्रभावित हुए हैं । सृष्टि सिद्धान्त के सन्दर्भ में भी वह शैवतन्त्र से प्रभावित हैं । तथापि "परा" वाणी का स्वरूप उन्होंने सदा भर्तृहरि की "पर-पश्यन्ती" तथा शब्दब्रह्म के स्वरूप से ही सम्बद्ध रखा है जो व्याकरण-सम्मत मूल तत्त्व है ।

अनुशासनीय शब्द

व्याकरण-दर्शन में [illegible] के [illegible] स्वरूपों का विवेचन किया गया है, जगत् का मूल कारण शब्द [illegible], अर्थवाचक सूक्ष्म स्फोट शब्द तथा स्फोट को अभिव्यक्त करने वाले ध्वनि [illegible] साधुशब्द, जो व्याकरण शास्त्र द्वारा अनुशासनीय है । ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं - निरर्थक और सार्थक । लोक में वस्तुओं के टकराने से होने वाली ध्वनियाँ, और शब्दों की वैकृत ध्वनियाँ जो स्फोट के अभिव्यक्त करने में निमित्त नहीं हैं, उनका व्याकरण-शास्त्र अनुशासन नहीं करता है । सार्थक शब्दों में यद्यपि साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्द स्फोट को अभिव्यक्त करके अर्थबोधन करवाने में सक्षम हैं, फिर भी व्याकरण स्मृति केवल आगम तथा शिष्टों से प्राप्त साधु शब्दों का ही अनुशासन करती है ।[1] क्योंकि केवल साधुशब्द ही ऐसे हैं जो स्फोटाभिव्यंजन द्वारा अर्थबोध भी कराते हैं तथा अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के निमित्त पुण्य की प्राप्ति भी कराते हैं ।[2] अतः केवल ऐसे ध्वन्यात्मक शब्द ही अनुशासनीय हैं ।

इन साधुशब्दों में अनुशासनीय शब्द दो प्रकार के हैं - अन्वाख्येय और प्रतिपादक ।[3] अन्वाख्येय [illegible] और वाक्य हैं । क्योंकि व्याकरण-

---

1. वा॰प॰, 1.25-26, 141

2. वा॰प॰, 1.27

3. अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ।
   ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिनुपवर्णिताः ।। - वा॰प॰, 1.24 से 26

वाक्यपदीय के प्रामाणिक व्याख्याकार पुण्यराज ने इन दो कारिकाओं तथा भर्तृहरि द्वारा अगली कारिकाओं में किये गये वाक्यस्वरूप से सम्बन्धित विवेचन के आधार पर आठ वाक्य-विकल्पों का उल्लेख इस प्रकार किया है[1] -

1. आख्यात पद वाक्य है ।
2. पद-संघात वाक्य है ।
3. संघात-वर्तिनी जाति वाक्य है ।
4. एक अनवयव शब्द वाक्य है ।
5. पद-क्रम वाक्य है ।
6. बुद्ध्यनुसंहृति वाक्य है ।
7. आद्य पद [illegible]ही वाक्य है ।
8. पृथक् साकांक्ष सर्वपद वाक्य है ।

अगली कारिकाओं में भर्तृहरि ने वाक्य के स्वरूप से सम्बन्धित उक्त मतों का विवेचन किया है, जिसका सार इस प्रकार है -

1. आख्यात शब्द वाक्य है :

वस्तु के अस्तित्व या अनस्तित्व की स्पष्ट प्रतीति वाक्य में श्रूयमाण या अनुमेय क्रिया से ही होती है ।[2] शाब्दबोध में प्रधानता भी क्रिया की ही होती है । काल, कारक, उपग्रह, पुरुष आदि भी यथावसर क्रिया पद में ही अन्वित रहते हैं । इसलिए आख्यात शब्द को वाक्य कहा गया है ।[3] आख्यात (क्रिया) में इतनी शक्ति है कि वह अन्य पदार्थों का भी स्वतः आक्षेप कर सकता है । यह लक्षण वाक्य के खण्डपक्ष में ही सम्भव है, ऐसा पुण्यराज ने प्रतिपादित किया है ।

---

1. वा.प., 2.2 पर पुण्यराज
2. तस्मात् श्रूयमाणक्रियापदम् अनुमीयमानक्रियापदं वा वाक्यमेव सर्व-व्यवहारेषूपपद्यते । - वा.प., 2.430
3. वा.प., 2.447-48 की हरिवृत्ति

2· संघात वाक्य है :

यह मत भी [illegible] से शब्दज्ञान करवाने हेतु वाक्य को सखण्ड मानने पर ही संगत होता [illegible] इस मत के अनुसार एक अर्थपरक पदों का संघात वाक्य होता है । [illegible] ने "पदसंघातजं वाक्यम्, वर्णसंघातजम् पदम्" इस प्राचीन उक्ति को उद्धृत करते हुए वाक्य के इस लक्षण की व्याख्या की है । वाक्यपदीय [illegible] वृषभ ने यह उक्ति संग्रहकार की कही है ।[1] पदार्थ ही आकांक्षा, [illegible] आदि के कारण परस्पर संसृष्ट होकर वाक्यार्थ को बनाते हैं अतः पदों का संघात वाक्य है ।[2]

3· संघातवर्तिनी जाति वाक्य है :

इस मत में सम्पूर्ण पदसंघात एक शब्द है और वह शब्दजातिपरक है । विभिन्न पदों के सुनने पर भी श्रोता को सर्वप्रथम एकाकार-एक शब्द सा भान होता है । वाक्यरूप शब्द भी शब्दजाति के रूप में प्रतीत होता है, जिस प्रकार (पंखे आदि के) भ्रमण क्रिया की बार-बार आवृत्ति में भ्रमणत्व जाति की ही अभिव्यक्ति होती है । अतः पदसंघात रूप शब्दजाति वाक्य है ।[3]

4· एक अनवयव शब्द वाक्य है :

मूलतः वाक्य अखण्ड, अवयवरहित, एक, एवं निराकांक्ष है । जिस प्रकार चित्र को हम सर्वप्रथम समग्ररूप में देखते हैं, उसके भिन्न-भिन्न भागों की आलोचना बाद में करते हैं उसी प्रकार मूलतः वाक्य अखण्ड, अवयव-रहित और एक है । उसके पदरूप अवयवों की कल्पना तो बाद में होती है ।[4]

1· वा·प·, 1·23 पर वृषभ द्वारा उद्धृत संग्रहोक्ति

2· वा·प·, 2·6।

3· वा·प·, 2·2, 21

4· [illegible]

5. शब्दक्रम वाक्य है :

पद बिना क्रम से अपना अर्थ तो बोधित करा सकते हैं, परन्तु विशिष्टार्थ का बोध बिना क्रम के नहीं होता है। एक अभिधेय वाक्यार्थ पदों के एक प्रकार के निश्चित क्रम से बोधित होता है, परन्तु वह पदक्रम बदल दिया जाए तो उसका सम्पूर्ण विशिष्टार्थ (वाक्यार्थ) ही बदल जाता है। इससे प्रतीत होता है कि पदों का क्रम ही विशिष्टार्थ का बोधक होने से वाक्य है।[1]

6. बुद्ध्यनुसंहार वाक्य है :

लिपि मात्र ध्वनि का संकेतक है। ध्वन्यात्मक शब्द भी आन्तरिक शब्द का संकेतक है। शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक स्फोटरूप है और वह अक्रम है। वक्ता के विवक्षित अर्थ का बुद्धि में स्फोटशब्द से तादात्म्य होता है और वह उसको व्यक्त नाद (ध्वनि) से श्रोता के अन्तःकरण में स्थित स्फोट को प्रकाशित करता है जिससे श्रोता की बुद्धि में जगे स्फोट का बौद्ध अर्थ से तादात्म्य हो जाता है ऐसी बुद्ध्यनुसंहृति ही वाक्य है।[2]

7. आदि पद वाक्य है :

इस सिद्धान्त के अनुसार आदि पद ही पूरे वाक्यार्थ का बोध करा देता है। आदि पद प्रायः क्रिया अथवा कारकवाची होता है। उसका वाक्य के अन्य पदार्थों से तथा पदों से अन्वय होता है। जैसे - वाक्य के आदि में प्रयुक्त "द्वारम्" या "[illegible]" पद से ही शेष पद पदार्थों का आक्षेप हो जाता है। उनका प्रयोग तो स्पष्ट प्रतीति एवं निश्चयात्मक ज्ञान के लिए होता है।[3] प्रथम पद में इस सामर्थ्य के कारण कुछ लोग उसे ही वाक्य मानते हैं।

---

1. वा॰प॰, 2·49
2. वा॰प, 2·30
3. वा॰प॰, 2·334

8· पृथक् सर्वपद वाक्य है :

इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पद परस्पर साकांक्ष होते हैं तथा अलग-अलग वाक्यत्व हेतु योग्यता रखते हैं। प्रत्येक शब्द सम्पूर्ण व्यापार वाला है । एक-एक के रहने से सम्पूर्ण व्यापार सम्पन्न होता है । एक के भी न रहने से व्यापार सम्पन्न नहीं होता है, अपितु पूरा वाक्यार्थ अधूरा या भिन्न हो जाता है । अतः पृथक् सर्वपद वाक्य है । पुण्यराज ने इस सिद्धान्त का सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है ।[1]

उक्त वाक्य-विकल्पों में से कोई एक ही विशेषतया प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है । अमरकोशकार, काशिकाकार, न्यासकार, व्याडि, कौटिल्य[2]आदि विचारकों एवं अनेक वैयाकरणों ने "एकार्थक पदसमुदाय" को वाक्य माना है । परन्तु पुण्यराज के कथनानुसार भर्तृहरि का झुकाव "एक, निरवयव, बाह्यरूप या आन्तर शब्दात्मक, बोधस्वभाववाला स्फोटशब्द वाक्य है"-- इस चौथे मत को अधिक युक्तिसंगत मानने की ओर लक्षित होता है ।[3]

सखण्डवाक्य-पक्ष :

पुण्यराज ने वाक्यपदीयकार द्वारा प्रतिपादित वाक्य-विषयक उक्त आठ मतों में से पांच मत सखण्ड पक्ष के तथा तीन अखण्ड पक्ष के बताए हैं । निम्न पांच मत वाक्य को व्यावहारिक सुविधा से सखण्ड मानते हैं -

1· आख्यात शब्द वाक्यवाद

2· पदसंघात वाक्यवाद

3· शब्दक्रम वाक्यवाद

1· यथा - कई पदसंघातजं वाक्यम् । --व्याडि, वृषभ द्वारा वा॰प॰, 1·23 पर उद्धृत

कई पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ । -कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ॰ 179 त्रिवेन्द्रम् संस्करण

2· वा॰प॰, [illegible], हरिवृत्ति [illegible]

3· पुण्यराज, वा॰प॰, 2·6 पर

4· आद्य पद वाक्यवाद

5· साकांक्ष पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

इस सखण्ड वाक्य पक्ष के भी पुण्यराज ने दो भाग किये हैं -

1· अभिहितान्वयवाद - संघात-वाक्य और क्रमवाक्य ।

2· अन्विताभिधानवाद - आख्यात शब्द वाक्य, प्रथम पद वाक्य और साकांक्ष सर्वपद वाक्य ।

अखण्डवाक्य पक्ष

वाक्य-स्वरूप-विषयक उक्त आठ मतों में से निम्न तीन मत वाक्य को एक एवं अखण्ड मानते हैं -

1· संघातवर्तिनी जाति वाक्यवाद,

2· एक अनवयव (स्फोट) शब्द वाक्यवाद और

3· बुद्ध्यनुसंहार वाक्यवाद ।

वैयाकरण-सम्मत अखण्ड-वाक्य पक्ष

तात्त्विक दृष्टि से भर्तृहरि के अनुयायी वैयाकरण वाक्य को अखण्ड मानते हैं । इनके मत में प्रतिभारूप बोध अर्थ अखण्ड वाक्यार्थ है । उससे तादात्म्य को प्राप्त सूक्ष्म स्फोट भी एक और अखण्ड है[1] तथा उसका अभिव्यंजक ध्वन्यात्मक वाक्य भी अखण्ड है । जहां केवल "वृक्ष" आदि एक पद होता है -वहां भी "अस्ति" आदि की क्रिया से समन्वित अखण्ड वाक्य वाक्यार्थ का बोध कराता है ।[2] वाक्य में पदविभाग तथा पदों में वर्णविभाग सत्य नहीं है ।[3] इसी प्रकार अर्थ-विभाग भी सत्य नहीं है । इस सत्य को न जानने

1· वा·प·, 2·1 तथा पुण्यराजकृत व्याख्या

2· वा·प·, 1·47 तथा हरिवृत्ति ।

3· पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।। - वा·प·, 1·73

वाला ही शब्दविभाग और अर्थविभाग को वास्तविक मानता है ।[1] वस्तुत: तो अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ ही सत्य है ।

विवक्षित वाक्यार्थ का बोध कराने के लिए एवं स्फोट के अभिव्यंजन के लिए भाषा की पूर्ण ईकाई वाक्य ही समर्थ है । परन्तु कठिनाई यह है कि प्रत्येक अज्ञात वाक्य का विशिष्टार्थ {वाक्यार्थ} में शक्तिग्रह सहित ज्ञान करवाना तथा साधु-असाधु में से वाक्यरूप शब्दों का साधुत्व बतलाना व्याकरण या किसी अन्य उपाय द्वारा कठिन ही नहीं बल्कि अशक्य है । लाघव के लिए व्याकरण शास्त्र मात्र कार्य-निर्वाह हेतु ऐसे अन्वय-व्यतिरेक की कल्पना करता है,[2] जिससे वह पृथक्-पृथक् पदार्थों का वाक्यांशों अर्थात् पदों के साथ तथा पदांशरूप प्रकृति और प्रत्यय के साथ सम्बन्ध का निश्चय करता है कि यह अर्थ किस वाक्यांश {पद} या पदांश {प्रकृति प्रत्यय} से सम्बन्धित है । इस आधार पर ही वाक्य की पदविभाग के रूप में तथा पदों की प्रकृति-प्रत्यय विभाग के रूप में कल्पना करके[3] लाघव से शब्दज्ञान हो जाता है । अत: व्याकरण शास्त्र कार्य-निर्वाह के लिए शब्दविभाग {पद, प्रकृति-प्रत्यय, वर्ण} और उनके सम्बन्धों का विवेचन करता है । उस कल्पित शब्दविभाग के संस्कार एवं प्रतिबिम्ब के कारण ही एक, अखण्ड स्फोट विभिन्न, सक्रम और भागों में भासित होता है ।[4] वस्तुत: अखण्ड वाक्यस्फोट, उसका अभिव्यंजक ध्वन्यात्मक अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड वाक्यार्थ ही वास्तविक है ।

---

1. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
   विभागैः प्रक्रियाभेदम् अविद्वान् प्रतिपद्यते ।। - वा·प·, 2·13
2. भागैरनर्थकैर्युक्ता वृषभोदकयावकाः ।
   अन्वय-व्यतिरेकौ तु व्यवहारे निबन्धनम् ।। -वा·प·, 2·12
3. यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः
   अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ।। - वा·प·, 2·10
4. वा·प·, 1·48,49

अन्वाख्येय पद

व्याकरणशास्त्र ... अन्वाख्येय शब्दों में वाक्य के बाद पद आते हैं । ये पद वाक्यों के कल्पित अपोद्धार (विभाग) से प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार पदों का कल्पित विभाग प्रकृति-प्रत्यय में किया जाता है ।

पदभेद :

भर्तृहरि ने "पद" के भेदों के बारे में कहा है कि कुछ लोग पद दो प्रकार के मानते हैं, कुछ चार प्रकार के और कुछ पाँच प्रकार के बताते हैं ।[1]

द्विधा पद :

भर्तृहरि के उल्लेख के अनुसार वार्ताक्ष और औदुम्बरायण पद के चार भेद न मानकर केवल नाम और आख्यात - ये दो पद ही तात्त्विक दृष्टि से मानते थे ।[2] पाणिनि ने भी "सुप्तिङन्तं पदम्"[3] इस सूत्र में पद को सुबन्त (नाम) और तिङन्त (आख्यात) इन दो भागों में विभक्त किया है ।

चतुर्धा पद :

पद के बाह्य भेद को लेकर ऋक्संहिता,[4] यास्कीय निरुक्त,[5] पतंजलि[6] आदि ने पद के चार भेद बताए हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । भर्तृहरि के बाद के भी अनेक वैयाकरणों और विचारकों ने पद के उक्त चार भेद माने हैं ।

1· द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ।। - वा·प·, 3·1

2· वा·प·, 2·347

3· पा·सू·, 1·4·14

4· चत्वारि वाक् परिमिता पदानि .... । - ऋक्सं·, 1·164·45

5· चत्वारि पदजातानि नामाख्याते उपसर्गनिपाताश्च । - निरु· 1·1·1

6· वही, व्या·म·भा·, आह्निक-1

पंचधा पद :

भर्तृहरि ने इन चार पदों के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय को भी पांचवा पद मानने वाले मत का उल्लेख किया है । इन पदों के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार हैं -

नाम - जिन पदों से द्रव्य अर्थात् सत्ता की प्रतीति होती है ।[1]

आख्यात - जिनसे भाव अर्थात् क्रिया की प्रतीति होती है ।[2]

उपसर्ग - जो पद क्रिया की विशेषता बताते हैं ।[3]

निपात - जो विभिन्न अर्थों को घोषित करते हैं ।[4]

कर्मप्रवचनीय - वे पद जो क्रिया द्वारा सम्बन्ध का बोध कराने के उपरान्त वहां उत्पन्न सम्बन्ध का नियमन करवाते हैं - वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं[5]।

भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित इन पंच प्रकार के पदों के लक्षण पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किए हैं । परन्तु उन्होंने स्पष्टरूप से "सुप्तिङन्तम्" सूत्र में सुबन्त और तिङन्त अर्थात् नाम और आख्यात को ही पद कहा है । उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है ।

प्रवृत्ति-निमित्तभेद से पद भेद

प्रयोक्ता की किसी भी शब्द के प्रयोग की प्रवृत्ति किसी अर्थ के बोधन के निमित्त होती है अतः वह अर्थ उस शब्द का प्रवृत्तिनिमित होता है । प्रवृत्तिनिमित (अर्थों) के भेद से वैयाकरणों ने पद चार प्रकार के माने हैं-

---

1· सत्वप्रधानानि नामानि । - निरु·, 1·1

2· भावप्रधानम् आख्यातम् । - निरु·, 1·1

3· क्रियाविशेषकाः उपसर्गाः । - ... वा·, 1·3·1

4· उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति । - निरु·, 1·2·1

5· वा·प·, 2·197,99

जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द ।[1]

जातिशब्द -- जो पूरी जाति का बोध कराएं । यथा-अश्व, गौ ।

गुणशब्द -- जो वस्तु के सिद्ध धर्म का बोध कराएं । यथा-शुक्ल, हस्व आदि

क्रियाशब्द - जो साध्य क्रिया का बोध कराएं, जैसे पचति आदि ।

यदृच्छाशब्द - जो केवल एक वस्तु का बोध कराते है - यथा-देवदत्त डित्थक आदि । इन्हें वक्ता अपनी ही इच्छा से किसी अर्थ में प्रयुक्त करता है ।

पतंजलि ने प्रवृत्तिनिमित्त की दृष्टि से चार भेद बताकर अन्तत: यदृच्छाशब्दों का प्रत्याख्यान करके केवल तीन प्रकार के शब्द माने हैं जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द ।[2] कैयट ने इसका स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से भी किसी का कोई नाम रखता है, तो भी वह किसी प्रशस्त क्रिया, गुण का उसमें आरोप करके ही ऐसा करता है ।[3] अत: वहां भी शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त क्रिया या गुण ही होता है । परन्तु व्यवहार में निर्धन का नाम "लक्ष्मीपति" और अन्धे का नाम "नयनसुख" भी देखा जाता है । अत: लौकिक व्यवहार यदृच्छा शब्दों के बिना नहीं चल सकता है ।[4] वस्तुत: पतंजलि ने विषय को सर्वत्र दो रूप से रखकर यह स्पष्ट किया है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदृच्छा शब्द मानना सही है और अन्त में उसका खण्डन करके इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि पारमार्थिक और तात्त्विक दृष्टि से अन्तिम मन्तव्य सही है ।[5]

---

1. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति: - जातिशब्दा:, गुणशब्दा:, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था: । - व्या·म·भा·, आह्निक-2, प्रत्या· सू·2
2. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्ति:, जातिशब्दा:, गुणशब्दा: क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छा-शब्दा: । - व्या·म·भा·, आ·2, प्रत्या· सू·2
3. वही, प्रदीप
4. पाणिनीयशब्दार्थसम्बन्धसिद्धान्त: - पृ· 117
5. अर्थवि० और व्या·द·, पृ·248

प्रकृति-प्रत्यय

व्याकरण शास्त्र में अनुशासनीय सार्थक शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । प्रकृति दो प्रकार की है - धातु और प्रातिपदिक।प्रत्यय मुख्यरूप से पांच प्रकार के हैं । इनमें से तिङ् और कृत प्रत्यय धातु से परे तथा शेष सुप्, तद्धित और स्त्री प्रत्यय प्रातिपदिक से परे होते हैं ।

प्रकृति और प्रत्यय मात्र व्याकरण शास्त्र में प्रयोग में आगे वाले प्रत्यय हैं । मात्र लाघवपूर्वक पदों के अन्वाख्यान के उद्देश्य से कल्पित अन्वय-व्यतिरेक से प्रकृति प्रत्यय का विभाग तथा इनके अर्थों का निश्चय किया जाता है । व्यावहारिक सत्ता प्रकृति और प्रत्यय की नहीं है । व्यवहार में प्रकृति-प्रत्ययात्मक सम्पूर्ण समुदाय का ही अर्थबोधकत्व है । इसीलिए भाष्यकार पतंजलि ने कहा है कि व्यवहार के समय न तो अकेले प्रकृति का प्रयोग करना चाहिए और न ही अकेले प्रत्यय का ।[1] व्याकरण में कार्यनिर्वाह के लिए प्रकृति और प्रत्यय, जिन्हें भर्तृहरि ने प्रतिपादक शब्द कहा है का अर्थ-सहित उपदेश किया जाता है ।[2]

अर्थस्वरूप - बारह मत

भर्तृहरि अर्थ का लक्षण करते हैं कि जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की नियमेन प्रतीति होती है, वह अर्थ है ।[3] पाणिनि के "स्वं रूपं शब्दस्य-" सूत्र (1·1·67) की व्याख्या में पतंजलि ने शब्द के दो अर्थ बताए हैं - शब्द का अपना स्वरूप तथा बोध्य पदार्थ । भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में अर्थ के विषय में उस समय तक प्रचलित बारह मतों का उल्लेख और

1· न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः । -व्या·म·भा·, 1·2·45
2· वा·प·, 1·24-26
3· यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् । - वा·प·, 2·330

विवेचन किया है । ये मत संक्षेप में इस प्रकार है -

1· जिस प्रकार शब्द, धर्म, अधर्म, देवता आदि आकारहीन अर्थों का बोध कराते हैं, उसी प्रकार सभी शब्द निराकार अर्थ का ही ज्ञान कराते हैं ।[1]

2· कुछ आचार्यों के मत में शब्दबोध्य अर्थ साकार है । आकृति आदि अर्थ शब्दवाच्य है तथा साकार व्यक्ति आदि अर्थ का जाति से समवाय सम्बन्ध है । अतः शब्द उनका भी बोध कराता है ।[2]

3· अवयवातिरिक्त अवयवीसमुदाय शब्द का अर्थ है ।[3]

4· अर्थ असत्य है, संसर्गरूप है । शब्द का अर्थ के साथ संसर्ग सम्बन्ध कहा जाता है, जो वस्तु के बिना नहीं रह सकता । वस्तुएं {अर्थ} अनित्य है तो सम्बन्ध रूप अर्थ भी अनित्य है ।[4]

5· अर्थ सत्य है, परन्तु असत्य वस्तु से सम्बद्ध होने से अनित्य प्रतीत होता है ।[5]

6· शब्द का स्वरूप ही अर्थ है । शब्दतत्व ही अभिजन्यत्व {विवर्त, अध्यास}को प्राप्त होकर अभिन्न होने से स्वरूप (अपने रूप)का ही बोध कराता है ।[6]

7· अर्थ शब्द से अभिन्न है तथापि उसमें अर्थ अंश की प्रधानता रहती है, क्योंकि अर्थ का ही उपयोग होता है ।[7]

8· अर्थ शक्ति वाले शब्द के अधीन है, अतः वह असर्वशक्तिमान् है ।[8]

9· अर्थ बौद्ध है । बुद्धिगत अर्थ ही शब्द का बोध्य अर्थ होता है, बाह्य वस्तुरूप अर्थ नहीं है । अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी बौद्ध है, बाह्य नहीं ।[9]

1· वा·प·, 2·121
2· वा·प·, 2·124
3· वा·प·, 2·128 पूर्वार्द्ध
4· वा·प·, 2·128 उत्तरार्द्ध
5· वा·प·, 2·129
6· वा·प·, 2·129
7· वा·प·, 2·130
8· वा·प·, 2·133
9· वा·प·, 2·134

10· अर्थ बौद्ध और बाह्य दोनों है। "धर्म", "देवता" आदि शब्दों का अर्थ आकारविशेष से रहित [illegible] होता है, परन्तु कुछ शब्दों से बोधित होने वाला अर्थ आ[illegible] से युक्त होता है।[1]

11· प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने संस्कार से ही अर्थ का स्वरूप गृहीत होता है। अत: "अर्थ का स्वरूप ऐसा [illegible] है" - ऐसा निश्चित नहीं है।[2]

12· अर्थ श्रोता की बुद्धि के अनु[illegible] है। वक्ता अपनी विवक्षा के अनुसार जिस अर्थ का बोध कराने के लिए शब्दविशेष का प्रयोग करता है, भिन्न-भिन्न श्रोता अपने-अपने ज्ञान, संस्कार और पृष्ठभूमि के कारण उस का अर्थ अपने तौर पर ही लेता है।[3] यहां तक कि एक ही श्रोता समय और परिस्थिति के भेद से एक ही शब्द के अर्थ को विभिन्न रूप में देखने लगता है।[4]

भर्तृहरि अन्य मतों को खण्डित न करके अन्तिम तीन मतों की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि शब्द का अर्थ प्रधानतया तो बौद्ध है, परन्तु बाह्य भी है। वक्ता द्वारा विवक्षित भी है और श्रोता द्वारा गृह्यमाण भी। वस्तुत: मनुष्य पूर्ण [illegible] नहीं है। अतत्त्वदर्शिता के कारण उसका ज्ञान त्रुटिपूर्ण और अनेक [illegible] से युक्त है। अत: उसका शब्द-प्रयोग और अर्थ-ग्रहण भी त्रुटिपूर्ण [illegible]। [illegible] कारण पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार अस्थिर हो जाते हैं।[5]

1· वा॰प॰, 2·135

2· वा॰प॰, 2·136

3· वा॰प॰, 2·137

4· वा॰प॰, 2·138

5· तस्माद् दृष्टतत्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम्।।

— वा॰प॰, 2·140

भाग ... 3

वाक्यार्थ पर प्राचीन काल से ही विचार चल पड़ा था । संग्रहकार व्याडि ने स्पष्ट सिद्धान्त स्थिर किया था कि पद का स्वरूप और उसका अर्थ केवल वाक्यार्थ से ही ज्ञात होता है ।[1] महाभाष्य में भी वाक्यार्थ के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण कथन्य मिलते हैं । पहला यह कि पद का सामान्य से विशेष में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है ।[2] दूसरा कथन्य यह कि प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग से क्रियाकृत-विशेष उत्पन्न हो जाते हैं, वही वाक्यार्थ है ।[3]

भर्तृहरि कहते हैं कि जैसे वाक्यरूप शब्द एक है, अखण्ड है, वैसे ही वाक्यार्थ भी एक और अखण्ड है । जैसे शब्द का कोई विभाग नहीं होता वैसे ही अर्थ का भी कोई विभाग नहीं होता है ।[4] विभाग तो कल्पित अन्वयव्यतिरेक के आधार पर केवल व्यवहार के सम्पादन के लिए माना जाता है ।[5] भर्तृहरि ने वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड में विभिन्न मतों के साथ विस्तार से विचार किया है । उन्होंने वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में आठ मत बताए हैं जिन्हें पहले "वाक्य" प्रकरण में बताया जा चुका है । पुण्यराज के विवेचन के अनुसार भर्तृहरि ने इन आठ प्रकार के वाक्य-विकल्पों के छः प्रकार के वाक्यार्थ प्रतिपादित किये हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. संसर्ग वाक्यार्थ है,
2. संसर्ग के कारण क्रियार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ वाक्यार्थ है,
3. संसृष्ट अर्थ वाक्यार्थ है,

---

1. पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ।
   - वा॰प॰, 1.24 हरिवृत्ति में संग्रहकार के नाम से उद्धृत
2. पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः ।
   - व्या॰म॰भा॰, 1.2.45
3. प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते । - वही॰ 2.3.50
4. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति । - ,वा॰प॰, 2.13
5. अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम् । - वा॰प॰, 2.12

4. क्रिया वाक्यार्थ है,

5. प्रयोजन वाक्यार्थ है,

6. प्रतिभा वाक्यार्थ है ।

पदसंघात को वाक्य मानने वाले आचार्य संसर्गरूप सम्बन्ध को वाक्यार्थ मानते हैं । इनमें भी कुछ लोग एक जाति के सदृश वाक्यार्थ की प्रत्येक में परिसमाप्ति मानता है । दूसरा पक्ष संख्या की तरह वाक्यार्थ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है । तीसरा सामान्य-विरोधी विशेष - विश्रान्त पक्ष का समर्थन करता है ।[1]

पुण्यराज की व्याख्या[2] के अनुसार जो आचार्य आद्य पद को और जो लोग पृथक् साकांक्ष सर्वपद को वाक्य मानते हैं, उनके मत में संसृष्ट वाक्यार्थ है । इस पक्ष में पदार्थों का परस्पर-भाव ही वाक्यार्थ है जबकि संसर्ग पक्ष में वाक्यार्थ में वैशिष्ट्य माना जाता है ।

कुछ आचार्य मानते हैं कि निराकांक्ष किन्तु विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्यार्थ है । यहां सम्बन्ध अतत्त्वभूत एवं अनुमेय है ।[3]

जिस मत में पद का अर्थ अभिधेय है, वहां वाक्यार्थ प्रयोजन है ।[4] आख्यात शब्द को वाक्य मानने वालों के मत में क्रिया वाक्यार्थ है ।[5]

जो आचार्य वाक्यार्थ को अखण्ड, अनवयव मानते हैं, उनका ही एक वर्ग "प्रतिभा" को वाक्यार्थ मानता है । भर्तृहरि के मत में प्रतिभा एक व्यापक तत्त्व है । उन्होंने प्रतिभा को वाक्यार्थ के रूप में भी लिया है ।[6]

---

1. वा.प., 2.42-43
2. वा.प., 2.418 और पुण्यराज
3. वा.प., 2.46
4. वा.प., 2.114
5. वा.प., 2.421 तथा पुण्यराज
6. [illegible]ग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
   वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थै[illegible]पपादिताम् ।। - वा.प., 2.143

प्रतिभा एक आन्तरिक बुद्धि या शब्दभावना है । वह स्वसंवेदनसिद्ध है । अन्तःसंज्ञा या अन्तःकरण की प्रवृत्ति है । पशु-पक्षियों के अन्तःकरण में भी रहती है । वाक्य इस प्रतिभाविशेष को उद्‌बुद्ध करता है ।[1] इस प्रकार भर्तृहरि का झुकाव अन्तिम मत की ओर परिलक्षित होता है ।

पदार्थ - जाति एवं द्रव्य

वाक्य के कृत्रिम विश्लेषण से प्राप्त समस्त शब्दप्रकारों में अर्थात् वाक्य, पद, प्रातिपदिक, प्रत्यय तक में एक अति सामान्य अर्थ व्याप्त रहता है, जिसके विषय में व्याकरण-दर्शन में दो मत प्रचलित रहे हैं - 1. जातिवाद और 2. द्रव्यवाद । इनमें प्राचीन आचार्यों में वाजप्यायन आकृति अर्थात् जातिवाद के[2] तथा व्याडि द्रव्यवाद के प्रतिपादक रहे । पाणिनि और पतंजलि ने दोनों को पदार्थ माना है ।[4] पतंजलि ने समन्वय करते हुए व्यवस्था दी है कि दोनों पक्ष में दोनों ही अर्थ हैं । जहां जाति की विवक्षा रहती है- वहां जाति प्रधान रहती है तथा द्रव्य गौण । जहां द्रव्य विवक्षित होता है वहां द्रव्य प्रधानरूप से वाच्य होता है और जाति गौण रूप से ।[5] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में तीन समुद्देशों में विस्तार से इस विषय को विवेचित किया है । उन्होंने भी शब्दों के दोनों अर्थों - जाति और द्रव्य का गुण-प्रधानभाव बताया है । इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की जो नवीन उद्‌भावनाएं एवं विचार हैं, उनका उल्लेख करना उचित होगा ।

---

1. वा.प., 2.144 से 152
2. आकृत्यभिधानाद् वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः । -व्या.म.भा., पृ. 242
3. द्रव्याभिधानं व्याडिः । - वही पृ. 244
4. किं पुनराकृतिः पदार्थः, अहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह । कथं ज्ञायते ? उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । - वही, आ. 1 पृ. 35
5. न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचित् गुणभूतम् । - व्या.म.भा., 1.2.64

भर्तृहरि ने वैदिक विधियों को ध्यान में रखते हुए कहा है कि जाति को पदार्थ मानने पर "[illegible] जाति" आदि वैदिक विधि-वाक्य द्वारा जिस जाति का बोध होता है, उस विधि में प्रतिपादित "खदिर" आदि के न मिलने पर तत्स्थापन्न वस्तु का प्रयोग करने पर जाति की भिन्नता के कारण इस जातिवाद का वैदिक विधि से जो विरोध आशंकित है, वह नहीं होता है । क्योंकि शब्दार्थ, वाक्यार्थ और प्रसंग के विचारानुसार जाति अपेक्षित बन्धनादि सामर्थ्य से युक्त वस्तु की बोधक है । इसलिए जहां विहित सामग्री सुलभ न हो, वहां स्थानापन्न सम्भाव्य होंगे ।[1]

शब्द के श्रवण के अनन्तर सर्वप्रथम उस शब्द के रूप का बोध होता है । रूप भी एक जाति (शब्दजाति) है । रूप और अर्थ दोनों के जातिरूप होने से अर्थजाति की रूपजाति से अभिन्नता प्रतीत होती है ।[2] इनमें भी रूपजाति का अर्थजाति पर अध्यारोप होता है, अत: शब्द के रूप को वाचक और अर्थ को वाच्य कहा जाता है । इसी अध्यारोपकल्पना से "जाति में जाति नहीं होती" इस वैशेषिकों के सिद्धान्त से विरोध नहीं होता है ।[3] वैयाकरणों के मत में तात्त्विक दृष्टि से शब्द और अर्थ एवं शब्दजाति तथा अर्थजाति एक, अभिन्न तत्व है ।

हेलाराज बार-बार याद दिलाते हैं कि व्याकरण-शास्त्र सर्वपार्षद है, इसलिए "शब्द द्वारा अभिधेय अर्थ ही पदार्थ है और सभी शब्द वस्तुत: जाति को सूचित करते हैं"- यह वैयाकरणों की पदार्थ-व्यवस्था है ।[4] वेदों और सभी दर्शनमार्गों के गम्भीर वेत्ता महान् दार्शनिक भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में यह दिखाने का प्रयास किया है कि विभिन्न दर्शनों के

1· केषांचित् साहचर्येण जाति: [illegible] ।
खदिरादिष्वशक्तेषु [illegible] [illegible] ।। - वा·प·, 3·1·18 आदि

2· स्वा जाति: प्रथमं शब्दै: सर्वैरेवाभिधीयते ।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना ।। - वा·प·, 3·1·14

3· वा·प·, 3·1·16

4· सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रं शब्दार्थोऽर्थ इति वा पदार्थव्यवस्थेयम् ।
-वा·प·, 3·1·19, हेलाराज

आधारभूत सिद्धान्तों एवम् विधियों से विरोध के बिना भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि सभी शब्द जाति के बोधक हैं । वह वैशेषिकों के सामान्य (जाति) और विशेष (व्यक्ति) के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए कहते हैं कि "विशेष" नित्य द्रव्य में रहने वाली अन्य "विशेष" से व्यावृत्ति का बोधक है जो एक नित्य द्रव्य (परमाणु आदि) को दूसरे से पृथक् करने में समर्थ बनाता है । सभी विशेष ऐसा करते हैं तो वे विशेष होते हुए भी सामान्य बन जाते हैं, जो विशुद्ध कोटि का सामान्य न सही, उसके समान तो है । अतः विशेषों में भी जाति है ।[1]

इसी प्रकार आकाश यद्यपि एक है और एक में जाति सम्भव नहीं, तथापि घटादि वस्तुएं विभाग के रूप में तथा आकाश उनके आधार के रूप में देखा है । अतः उपाधिभेद से आकाश की भी अनेकता होने से उनमें भी जाति सम्भव है ।[2] आत्मा भी एक होते हुए भी प्रतिशरीर भिन्न है, अतः अनेक में विद्यमान सामान्य यहां भी उपपन्न है ।[3] इसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से जुड़े वस्तु-युग्मों के समवायों का साधारण बिन्दु भी सामान्य हो सकता है ।[4] काल यद्यपि एक और अनवच्छिन्न है तथापि व्यापारों के आधार पर उपाधिकृत भेद से उसमें भी साधारण बिन्दु एक होने से जाति सम्भव है ।[5] अतः 'विशेष', 'आत्मा', 'काल', 'समवाय', 'आकाश' आदि शब्द भी जाति के बोधक हो सकते हैं ।

---

1. [1] क) अनुप्रवृत्तिधर्मो वा जातिः स्यात्सर्वजातिषु ।
   व्यावृत्तिधर्मसामान्यं विशेषे जातिरिष्यते ।।
   – वा॰प॰, 3॰1॰14

   ख) इति सर्वविशेषेषु साधारणी व्यावृत्तिः सामान्यसमोधर्मो भवंस्तेषु जातिः इत्युच्यते । – वही, हेलाराज

2. वा॰प॰, 3॰1॰15–16
3. वा॰प॰, 3॰1॰15 हेलाराज
4. वा॰प॰, 3॰1॰17–18
5. वा॰प॰, 3॰1॰15 हेलाराज

भर्तृहरि ने वैयाकरणसम्मत अद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार जाति को ब्रह्म की शक्ति या साक्षात् शब्दब्रह्म का ही पर्याय माना है । संसार की प्रत्येक वस्तु में दो तत्त्व हैं - एक नश्वर एवं असत्य तथा दूसरा नित्य एवं सत्य । उसमें नश्वर एवं असत्य तत्त्व व्यक्ति है तथा नित्य एवं सत्य तत्त्व जाति है ।[1] ऐसा सत्य या महासत्ता या जाति ब्रह्म (शब्दब्रह्म) है तथा वही अविद्यावश अतात्त्विक विवर्तों के रूप में प्रकट होता है ।[2]

भर्तृहरि के अनुसार प्रातिपदिक या प्रत्यय भी सामान्य (जाति) के बोधक होते हैं तथा दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं । प्रत्यय द्वारा बोधित सामान्यकभी विवक्षित होते हैं और कभी नहीं । जाति को सामान्य, सादृश्य और समूह से भिन्न कहा है । ज्ञानों में सामान्य नहीं रहते, क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञान ज्ञेय बन जाएंगे जबकि ज्ञान स्वप्रकाश होने से ज्ञेय कभी नहीं होते हैं ।[3]

द्रव्यवादियों के मतानुसार पद का अर्थ द्रव्य है । यह द्रव्य दो प्रकार का है - पारमार्थिक और सांव्यावहारिक । हेलाराज के अनुसार व्याडि द्वारा सांव्यावहारिक द्रव्य ही सभी शब्दों का अभिधेय कहा गया था । परन्तु भर्तृहरि ने सांव्यावहारिक के अतिरिक्त पारमार्थिक द्रव्य भी सभी शब्दों का अभिधेय बताया है ।[4] व्यवहारयोग्य वस्तुमात्र सांव्यावहारिक द्रव्य है । पारमार्थिक द्रव्य सर्वविकल्पातीत शब्दब्रह्म है जो अविद्यावश नाना प्रकार के रूपभेदों में भासित होता है ।[5] प्रत्येक वस्तु के ब्रह्मरूप होने से विरोधी गुणों का भी इसमें समावेश हो जाता है । विश्व के समस्त पदार्थ और प्रक्रियाएं

1· सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः । -वा·प·, 3·1·32

2· वा·प·, 3·1·33

3· वा·प·, 3·1·101 से 104

4· वा·प·, 3·2·1 पृ· 85 पर हेलाराज

5· वा·प·, 3·2·8-10

तथा सभी शब्द जो उन्हें व्यक्त करते हैं, इसी से निःसृत होते हैं । यह एक भावात्मक तत्त्व है जो समस्त विवर्तों में ज्ञान या चैतन्य के रूप में अनुस्यूत है । इस सन्दर्भ में यह द्रव्य कहा जाता है, तथा सभी शब्द इसी नित्य द्रव्यरूप को अभिव्यक्त करते हैं ।[1] इस प्रकार शब्दों का अर्थ जाति मानें या द्रव्य, अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही समस्त शब्दों के अर्थ के रूप में प्राप्त होता है ।

भर्तृहरि ने भूयोद्रव्य-समुद्देश में सांव्यवहारिक द्रव्य को पदार्थ के रूप में विवेचित किया है । यहाँ द्रव्य को शब्द का ऐसा अर्थ (अभिधेय) बताया गया है जिसे विशेष्य और अन्य से भिन्न बनाया जा सके तथा "यह" या "वह" - ऐसे सर्वनाम से कहा जा सके ; यथा-"नीला कमल" या "जो देवदत्त ने निर्बल बच्चे को पीटा, वह ठीक नहीं " इस प्रकार विशेष्य के रूप में या सर्वनाम के साथ उपस्थापित वस्तु में न्यूनाधिक मूर्तता या परिनिष्ठता का भाव रहता है तथा इसकी प्रतीति साध्य के रूप में नहीं अपितु सिद्ध वस्तु के रूप में होती है । यही सांव्यावहारिक द्रव्य है । यदि वक्ता शब्द से विशेषतया द्रव्य को प्रकट करना चाहे तो वहाँ शब्द का प्रधान अर्थ द्रव्य होगा ।[2] अर्थात् जाति वहां गौणरूप से प्रकट होती है । स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने द्रव्याभिधानवाद वक्ता की विशेष विवक्षा पर माना है तथा सामान्यतः और स्वभावतः जाति को शब्द का (प्रधान) अर्थ बताया है ।

इस प्रकार भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में जाति-समुद्देश में जातिरूप अर्थ पर तथा दो समुद्देशों में द्रव्यरूप अर्थ पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किए हैं तथा समन्वयवादी परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाया है ।

---

1. आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्वमित्यपि ।
   द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ।।

   - वा॰प॰, 3·2·1 आदि

2. वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
   द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ।।

   - वा॰प॰, 3·4·3

गुण

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अनेक सूत्रों में गुण शब्द का प्रयोग कुछ शब्दरूपों की व्याख्या करने में किया है । पतंजलि बताते हैं कि भाषा में इस शब्द के अनेक अर्थ हैं । जैसे द्विगुणा रज्जुः, त्रिगुणा रज्जुः - यहां गुण का अर्थ अवयव है । द्रव्य पदार्थक भी है, यथा - गुणवानयं देशः । यहां गुण का अर्थ गौएं, फसल आदि है । गुणवानयं ब्राह्मणः - यहां गुण का अर्थ सदाचार है । गुणभूता वयम् - यहां गुण का अर्थ अप्रधान (गौण) है । यदि पके हुए भात आदि के साथ गुण शब्द का प्रयोग हो तो उसका अभिप्राय दाल-कढ़ी आदि से है, जिसके साथ उसे खाया जाए ।[1] गुण के ये अर्थ लोक प्रचलित हैं परन्तु व्याकरण शास्त्र की यह विशेषता होती है कि वह लोक-प्रचलित अर्थों की उपेक्षा किये बिना यथासम्भव उनका उपयोग रूपों की व्याख्या में करता है । पाणिनि ने अवयवार्थक गुणशब्द का प्रयोग "संख्यायाः गुणस्य निमाने मयट्"[2] में किया है । यह सूत्र बेची जाने वाली वस्तुओं के गुण अर्थात् अवयव के निमान (मूल्य) के अर्थ में संख्यावाचक शब्द से मयट् प्रत्यय करता है ।

पाणिनि ने "वोतो गुणवचनात्"[3] में "गुणवचन" शब्द का प्रयोग किया है । यहां गुण वचन का अर्थ भाष्यकार ने एक पद्य में इस प्रकार किया है -

सत्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः[4] ।।

इस पद्य का अर्थ कैयट ने इस प्रकार किया है - गुण वह है जो द्रव्यों में पाया जाता है । वह उन द्रव्यों से अलग हो सकता है । यह विभिन्न प्रकार के द्रव्यों में पाया जाता है । वह जातियों में से पृथक् रहता है अर्थात्

---

1. व्या॰म॰भा॰, खण्ड-।। पृ॰367

2. पा॰ सू॰ , 5.2.47

3. पा॰सू॰, 4.1.44 4. व्या॰म॰भा॰, 4.1.44 पर

जाति को गुण के क्षेत्र से पृथक् करता है, जबकि जाति अन्य पदार्थों से कभी पृथक् नहीं रहती है। गुण कभी कार्य होता है - यथा घट का रूप। कभी कार्य नहीं होता है - जैसे कि आकाश का परिणाम। वह गुण अक्रियाज है अर्थात् क्रिया सदा कार्य होती है, जबकि गुण को कभी कार्य कभी नहीं - ऐसा कहा है, अतः गुण का क्रिया में अन्तर्भाव नहीं होता है। वह गुण असत्व प्रकृति है, अर्थात् द्रव्य भी गुण नहीं है क्योंकि इसका समग्र लक्षण द्रव्य पर लागू नहीं होता है।[1] इस प्रकार कैयट की व्याख्या के अनुसार भाष्यकार पतंजलि "गुण" को द्रव्य, जाति तथा क्रिया से भिन्न पदार्थ मानते हैं। यह गुण द्रव्यों में भी रहता है तथा इनसे अलग भी होता है।

भाष्यकार ने किसी अन्य आचार्य का गुण का लक्षण भी एक अन्य पद्य[2] में दिया है जो गुण की पूर्वोक्त विशेषताओं को ही प्रकट करता है। हेलाराज का विचार है कि भाष्यकार ने अपने पूर्वोक्त पद्य में वैशेषिकों का गुण-लक्षण दिया हुआ है[3]।

पाणिनि ने अनेक सूत्रों में गुण की बजाय "गुणवचन" शब्द का प्रयोग किया है।[4] पतंजलि ने कहा है कि समास, कृदन्त, तद्धित, सर्वनाम, जातिवाचक, संख्यावाचक, अव्यय तथा व्यक्तिवाचक शब्द "गुण-वचन" नहीं है।[5] ऐसा पतंजलि ने इसलिए कहा है, ताकि इन्हें पाणिनि के सूत्र "गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च "[6] को जो गुणवचन शब्दों से ष्यञ् का विधान करता है - इन समास, कृदन्त आदि के कार्यक्षेत्र से अलग रखा जा सके।[7]

1· व्या·म·भा·, 4·1·44 पर प्रदीप

2· उपेत्यन्यद् जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।
वाचकः सर्वलिंगानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ।। - व्या·म·भा·, 4·1·44

3· वा·प·, काण्ड-3 भाग-1, पृ·197 पर हेलाराज

4· यथा - पा·सू·, 4·1·44, 2·1·30, 5·1·124, 5·3·58, 2·2·7

5· व्या·म·भा·, अ·-9, वा· 491 पर भाष्य

6· पा·सू·, 5·1·124

7· भर्तृहरि का वाक्यपदीय पृ· 295

स्पष्ट है कि - वैयाकरणों का दर्शन तात्त्विक एवं पारमार्थिक दृष्टि से किए जाने वाले गुण लिंग आदि के लक्षण करके ही कृत-कृत्य नहीं हो जाता है । उसके लिए जागतिक वस्तु ही पदार्थ नहीं है बल्कि पदार्थ वह है, जिसे भाषा में प्रयुज्यमान शब्द प्रकट करता है ।

कात्यायन ने पाणिनि के सूत्र " तस्य भावस्त्वतलौ" के वार्तिक में त्व तथा तल् प्रत्ययों से वाच्य "भाव" की व्याख्या इस प्रकार की है - जिस गुण (लक्षण) के भाव (रहने) से द्रव्य अर्थ में शब्द का प्रयोग हो - उस (भाव अर्थात् गुण) अर्थ में त्व और तल् होते हैं ।[1] भाष्यकार और भर्तृहरि के गुण-समुद्देश के विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार का त्व तथा तल् प्रत्ययों से वाच्य गुणविशेष कहीं जातिरूप में होता है, यथा- रूपत्व ।कहीं गुण का बोधक होता है, यथा - शुक्लत्व ।कभी शब्दका स्वरूप होता है, यथा - "घटत्ववचनेन"। कभी वह सम्बन्धरूप में प्रकट होता है, यथा - राजपुरुषत्व आदि । इस प्रकार गुण एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करता है तथा उस वस्तु के लिए शब्दविशेष के प्रयोग का कारण बनता है ।[2] इससे स्पष्ट है कि गुण का यह स्वरूप वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित गुणलक्षण से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि यह भाषा में प्रयुज्यमान शब्दों के वाच्य अर्थ के विश्लेषण का निष्कर्ष है ।

भर्तृहरि ने पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के उक्त प्रकार के गुणस्वरूप को देखते हुए ही गुण का लक्षण इस प्रकार किया है-

संसर्गि भेदकं यद् सव्यापारं प्रतीयते ।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्र उदाहृतम् ।।[3]

---

1. सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने त्वतलौ ।
   - व्या॰म॰भा॰, 5॰1॰119 पर वार्तिक

2. क) व्या॰म॰भा॰, 5॰1॰119
   ख) वा॰प॰, काण्ड-3 गुण समुद्देश कारिका 2-9

3. वा॰प॰, 3 गुण समुद्देश कारिका-1

गुण संसर्गी है, अर्थात् किसी दूसरे में समवाय सम्बन्ध से रहता है। यह भेदक है, अर्थात् अपने आश्रय को दूसरे से भिन्न करता है। यह सव्यापार है, अर्थात् यह गुण जहां पाया जाता है उस विषय को प्रकट करता है। यह गुण है - अप्रधान है। किसी दूसरे पर आश्रित होने से परतन्त्र है।

क्रिया

यास्क : क्रिया का स्वरूप सर्वप्रथम हमें आचार्य यास्क के निरुक्त में उपलब्ध होता है। यास्क कहते हैं कि जो पद प्रधानरूप से भाव{क्रिया} का बोध कराते हैं, वे आख्यात हैं तथा जो पद प्रधानरूप से सत्व अर्थात् द्रव्य का बोध कराते हों - वे नाम हैं।[1] पचति, व्रजति आदि शब्द भाव {क्रिया} का बोध मुख्यरूप से कराते हैं अत: ये आख्यात हैं।

भाव के अर्थ के विषय में निरुक्त के प्रामाणिक टीकाकार दुर्गाचार्य ने दो पक्ष बताए हैं। एक वह जो कर्ता या कर्म आदि में रहने वाली क्रिया का व्यंग्य सिद्धरूप है - पाक, राग आदि। वह भाव कहलाता है।[2] दूसरे पक्ष में भाव का अर्थ है - कर्म, क्रिया अर्थात् धात्वर्थ।[3] आचार्य यास्क आगे कहते हैं कि व्रजति, पचति आदि में प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक जो पूर्वापरीभूत भाव है, उसे आख्यात पद प्रकट करता है।[4] स्पष्ट है कि भाव के अर्थ के विषय में दो मत होने के बावजूद भी यास्क की अपनी मान्यता के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक के व्यापारकलाप को भाव मानते हैं, जो क्रिया का पर्याय ठहरता है।

---

1. भावप्रधानमाख्यातम्, सत्वप्रधानानि नामानि। - निरुक्त, 1.1.1
2. नामपदवाच्यार्थक्रियाव्यंग्यो भाव: पाक-राग-त्यागाद्य:। - वही, दुर्गाचार्य
3. एके पुन: ..... भाव: कर्म, क्रिया। धात्वर्थ: इत्यर्थान्तरम्। -वही
4. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति-पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। - निरुक्त, 1.1.1

पाणिनि : पाणिनि ने यद्यपि आख्यात और उसके प्रधान अर्थ "क्रिया" का लक्षण नहीं किया है । उन्होंने धातुपाठ में व्यापारविशेषों के अर्थ में धातुओं का पाठ करके भू वा आदि की धातु संज्ञा की है ।[1] व्याख्याकारों ने क्रियावाची भू वा आदि को धातुसंज्ञक कहा है ।[2] उन्होंने धात्वर्थ के लिए स्थान-स्थान पर भाव और क्रिया शब्द का प्रयोग किया है ।[3] स्पष्ट है कि पाणिनि के मत में भाव, क्रिया और व्यापार समानार्थक हैं ।

पतंजलि : महाभाष्यकार पतंजलि ने क्रिया को धातु का अर्थ बताते हुए धातु का यह लक्षण किया है कि जो क्रिया के वाचक हों वे धातु हैं ।[4] किम् करोति ? इस प्रश्न के उत्तर में धातुजन्य रूप जिस अर्थ का बोध कराता है वह क्रिया है ।[5] परन्तु अस्, भू, विद् आदि धातु से निष्पन्न रूप "किं करोति" का उत्तर नहीं दे पाते हैं । अत: क्रियावाची धातु की बजाय यह लक्षण किया गया है कि भाववाची धातु है ।[6] कैयट ने यहां भाव का अर्थ सभी प्रकार की क्रिया बताया है ।[7]

पतंजलि के उक्तविषयक विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार (क्रिया) तीन प्रकार का है -

1. व्यापार-विशेष,
2. सपरिस्पन्द व्यापार सामान्य, जिसमें शरीर आदि की चेष्टा होती है । यथा - "करोति"- इसका बोध्य व्यापार ।
3. अपरिस्पन्द व्यापार सामान्य, जिनमें ऐसी चेष्टा का होना आवश्यक

---

1. भूवादयो धातव: । - पा॰सू॰, 1·3·1
2. भू इत्येवमादय: शब्दा: क्रियावचना धातुसंज्ञा भवन्ति । - वही, काशिका
3. यथा - पा॰सू॰, 3·3·1, 3·3·18, 2·3·15, 3·3·10, 2·3·14
4. यदि पुन: क्रियावचनो धातुरित्येतल्लक्षणं क्रियेत । -व्या॰म॰भा॰-1, पृ॰254
5. ···यदेषां करोतिना सामानाधिकरण्यम् । किं करोति ? पचति । - वही
6. यदि पुनर्भाववचनो धातु: इत्येवं लक्षणं क्रियेत । - वही, पृ॰256
7. भाववचन: क्रियामात्रवाची । - वही, प्रदीप

या सम्भव नहीं है । यथा - अस्ति, भवति, विद्यते का बोध्य व्यापार ।

"क्रियावचनो धातुः" - यह लक्षण केवल सपरिस्पन्द व्यापार सामान्य पर ही लागू होता है। "भाव-वचनो धातुः" यह लक्षण सपरिस्पन्द और अपरिस्पन्द - दोनों प्रकार के व्यापारों के वाचक शब्दों को धातुसंज्ञा के अन्तर्गत लाता है ।

अनुमेय : भाष्यकार पतंजलि ने एक रोचक संवाद के निष्कर्ष में क्रिया को एक ऐसी वस्तु कहा है जो अत्यन्त अपरिदृष्ट है । वह कहते हैं कि क्रिया का पिण्ड की तरह दर्शन नहीं होता है । कुक्षिस्थ गर्भ की भान्ति वह अप्रत्यक्ष है । वह अनुमान से जानी जा सकती है ।[1]

भर्तृहरि : भर्तृहरि ने क्रिया और धात्वर्थ के विषय में यास्क, पाणिनि और पतंजलि की मान्यताओं की व्याख्या करते हुए अपने विचार-वैशिष्ट्य के साथ क्रिया के स्वरूप को विवेचित किया है । यहां उन्होंने क्रिया के पारमार्थिक स्वरूप को विवेचित करने की बजाय आख्यात पदों द्वारा बोध्य क्रियारूप अर्थ का प्रतिपादन किया है ।

साध्य क्रिया : भर्तृहरि ने यास्क के भावलक्षण के अनुरूप ही क्रिया का लक्षण करते हुए कहा है कि जो कुछ भी सिद्ध या असिद्ध जब तक साध्य के रूप में कहा जाता है तब तक वह व्यापार क्रिया कहलाता है । वह व्यापार जब उत्पन्न होता है तो क्रम का आश्रय लेता है ।[2]

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि प्रत्येक साध्य व्यापार के प्रारम्भ से अन्त तक अनेक छोटे-छोटे एवं उसी के अंगभूत अवान्तर

---

1. क्रिया नामात्यन्तापरि-दृष्टा । अशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुं, यथा गर्भो निर्लुठितः । सासावनुमानगम्या । - व्या॰म॰भा॰, भाग-1, पृ॰ 254
2. यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
   आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ।। - वा॰प॰, 3 क्रिया समु॰ ।

व्यापार क्रम से उत्पन्न होते हैं । उन सब अवान्तर व्यापारों का जो समूहरूप बुद्धि से प्रकल्पित अभेद वाला एकाकार साध्य व्यापार है - उसे ही क्रिया कहते हैं ।[1] यही कारण है कि "पचति" आदि तिङ्न्तपदों {आख्यातों} का प्रयोग अवान्तर व्यापारों के समूह और अवयव दोनों के लिए किया जाता है । यही कारण है कि चूल्हे में आग जलाने या पतीला चढ़ाने वाले से भी पूछा जाए कि तुम क्या कर रहे हो ? तो वह उत्तर देता है कि मैं भोजन पका रहा हूं ।[2]

परन्तु भर्तृहरि के अनुसार कुछ आचार्यों का मत है कि वह अन्तिम व्यापार, जिसके एक दम बाद फल की निष्पत्ति होती है, वही वास्तविक एवं प्रधान क्रिया है । उससे पूर्व के शेष अवयवभूत व्यापार वास्तविक साध्यरूप क्रिया नहीं है, अपितु साध्यक्रिया के लिए उन्हें क्रमशः किया जाता है । अतः तादर्थ्य सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा उनके लिए भी क्रिया शब्द का प्रयोग होता है ।[3]

जातिवादी पक्ष : भर्तृहरि ने ऐसे आचार्यों के मत का उल्लेख किया है जो क्रिया से व्यापार सामान्य अर्थात् जाति का बोध मानते हैं । उनके अनुसार जिस प्रकार गौ शब्द के उच्चारण से जाति {गोत्व} का बोध होता है, उसी प्रकार पच् धातु भी पाक-सामान्य का बोध कराता है । यह सामान्य ही जाति है ।[4]

सत्ता ही क्रिया है : कुछ आचार्य, जो व्यक्तिपक्ष में भाव अर्थात् व्यापार को क्रिया कहते हैं, वे जातिपक्ष में अन्तरात्मारूप सत्ता को ही क्रिया कहते हैं ।[5]

---

1. गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
   बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।। - वा·प·, क्रि·समु·4
2. वा·प·, 3, सा·समु· 58
3. अनन्तरं फलं यस्याः कल्पने तां क्रियां विदुः ।
   प्रधानभूतां तादर्थ्यादन्यासां तु तदाख्यता ।। - वा·प·, 3 क्रि·समु·15
4. जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम् ।
   असाध्या व्यक्तिरूपेण ससाध्येवोपलभ्यते ।। - वा·प·, 3 क्रि·समु·21
5. अन्तरात्मनि या सत्ता सा क्रिया कैश्चिदिष्यते । - वही, 24

इस "सत्ता" का ही सृष्टिरूप में आविर्भाव [विवर्त] और तिरोभाव या दूसरे शब्दों में जन्म और नाश होता रहता है जिसे छः भाव विकार के रूप में व्यावहारिक दृष्टि से माना जाता है । पारमार्थिक दृष्टि से वह क्रिया अपरनामा "सत्ता" ही सत्य है ।[1]

आख्यात की क्रियाप्रधानता :

निरुक्तकार यास्क[2] तथा भाष्यकार पतंजलि ने[3] पचति व्रजति आदि आख्यातपदों को क्रियाप्रधान कहा है । भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में अनेकत्र "जन्मादिक्रिया आख्यातपदनिबन्धना" आदि वचनों द्वारा आख्यात की क्रिया प्रधानता बताई है । इसका तात्पर्य यह है कि "पचति" आदि आख्यात में धातुरूप अंश क्रिया तथा फल का बोध कराता है जबकि प्रत्ययरूप अंश साधन [कर्ता या कर्म] भाव, काल, पुरुष, संख्या, उपग्रह का भी बोध कराता है । इसके बावजूद भी आख्यात पद मुख्यरूप से क्रिया का बोध कराता है ।[4] इसका कारण यह है कि क्रिया साध्य एवम् उद्देश्य होने से प्रधान है, अतः सिद्धरूप में अवस्थित साधन [कारक] गुणीभूतरूप में प्रकट होते हैं । काल तथा उपग्रह साक्षात्रूप से और संख्या एवम् पुरुष कारक के आश्रय से क्रिया के उपकारक होते हैं । इस कारण आख्यातार्थों में क्रिया प्रधान तथा शेष अर्थ क्रिया के गुणीभूत होते हैं ।[5]

---

1. आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशौ तथापरे ।
   षट्सु भावविकारेषु कल्पितौ व्यावहारिकौ ।। - वा·प·3 क्रि·समु·26
2. भावप्रधानमाख्यातम् । - निरुक्त, 1·1·1
3. क्रियाप्रधानमाख्यातम् भवति । -व्या·म·भा·, 5·3·66
4. क] वा·प·, 1·13 तथा 1·26 की हरिवृत्ति
   ख] कालसंख्यासाधनोपग्रहाभिधानेप्याख्यातस्य क्रियाप्रधानत्वागमः ।
   - महाभाष्य प्रदीप, 5·3·66
5. वा·प·, 3 क्रिया समुद्देश

क्रिया विवर्त के रूप :

भर्तृहरि ने विवर्त के दो भेद माने हैं, मूर्तिविवर्त और क्रिया-विवर्त ।[1] शब्दब्रह्म का उत्पाद और विनाश आदि क्रियाओं से उपहित रूप का अवस्थान क्रियाविवर्त है ।[2] वह सर्वशक्तिसम्पन्न शब्दब्रह्म काल नाम की स्वातन्त्र्य शक्ति से एवं उनके अधीन अभ्यनुज्ञा एवं क्रमशक्ति से क्रम का अवभासन कराता हुआ पूर्वापरीभूत क्रिया के रूप में भासित होता है ।[3] इस प्रकार भर्तृहरि ने क्रिया के विभिन्न पक्षों का विशद विवेचन किया है ।

कारक {साधन}

महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है कि सामान्यभूत क्रिया का निर्वर्तक कारक होता है ।[4] काशिका वृत्ति में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि कारक शब्द निमित्त का पर्यायवाची है । इसी को क्रिया का हेतु भी कहते हैं ।[5] बाद में नागेश भट्ट ने भी "क्रिया का निष्पादकत्व कारक है"- ऐसा लक्षण किया है ।[6] उक्त परिभाषाओं में - "क्रिया का निर्वर्तक, निष्पादक, हेतु" कहा गया है । इसका तात्पर्य यदि क्रियाजनक लिया जाए तो मात्र "कर्ता" ही क्रियाजनक होने से कारक कहलाया जा सकेगा । अतः इसका तात्पर्य है - क्रिया में अन्वित होने के योग्य पदार्थ । कारकों का

1· मूर्तिक्रियाविवर्तौ अविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम् - वा·प·, 1·1 की हरिवृत्ति

2· उत्पादविनाशादिक्रियोपहितरूपावस्थानं क्रियाविवर्तः । - वही, श्रीवृषभ

3· कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः आदि । - वा·प·, 3 क्रि· समु·34 पर हेलाराज

4· सामान्यभूता क्रिया वर्तते, तस्या निर्वर्तकं कारकम् । -म·भा·1·4·23

5· कारकशब्दश्च निमित्तपर्यायः । कारकं हेतुरित्यर्थान्तरम् । कस्य हेतुः ? क्रियायाः । -काशिका, पा·सू·, 1·4·23 पर

6· क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम् । -प·ल·म·, कारकविचार

क्रिया से अन्वय साक्षात् या परम्परया होता है । इनमें से कर्ता और कर्म का अन्वय साक्षात् होता है जबकि शेष कारक - कर्ता और कर्म के माध्यम से ही क्रिया के साथ अन्वित होते हैं । अत: नागेश ने कारक का परिष्कृत लक्षण किया है - क्रियान्वित - विभक्त्यर्थान्वित को अथवा क्रियानिर्वर्तक को कारक कहते हैं ।[1]

"कारक" को "साधन" भी कहा जाता है । भाष्यकार ने कारक या साधन को अपने आश्रय से दूसरे आश्रय का भेदक होने से "गुण" माना है, अत: इसे प्रत्यक्षगम्य की बजाय अनुमानगम्य कहा है ।[2]

भर्तृहरि शक्तिवादी है । वह साधन अर्थात् कारक का लक्षण करते हुए कहते हैं कि -

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदु: ।।[3]

अर्थात् स्वाश्रय में समवेत या पराश्रय में समवेत क्रियाओं की अभिनिष्पत्ति में जो सामर्थ्य (शक्ति) है, वह साधन (कारक) है ।[4] हेलाराज की व्याख्या के अनुसार ऐसा "साधन" नाम का सामर्थ्य या शक्ति अकेले क्रिया की निष्पादक नहीं हो सकती । अत: शक्तिशक्तिमतोरभेदात् सिद्धान्त से शक्तिसम्पन्न मूर्तद्रव्य क्रिया का अभिनिष्पादक साधन या कारक माना जाता है । महाभाष्य में जहां क्रिया के निर्वर्तक द्रव्य को कारक कहा गया है, वहां भी शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से शक्तिसमन्वित द्रव्य ही कारक है[4]।' यह भाष्य के उक्त कारकलक्षण से भी सूचित होता है । उक्त कारिका में स्वाश्रयसमवेत और पराश्रयसमवेत क्रिया का तात्पर्य यह है कि कर्ता और कर्म नाम के क्रियाभि-निष्पादक साधन क्रिया के अपने आश्रय हैं, जहां क्रिया समवाय सम्बन्ध से

---

1. "किन्तु क्रियान्वितविभक्त्यर्थान्वितत्वं क्रियानिर्वर्तकत्वं वा कारकत्वम् ।
- प.ल.म., कारकविचार
2. यदि तावद् गुणसमुदाय: साधनं, साधनमपि अनुमानगम्यम् ।-म.भा.3.2.115
3. वा.प., 3.7.1
4. वही, हेलाराज

रहती है । परन्तु सम्प्रदान, अपादान आदि कारकों में क्रिया के निष्पादन का सामर्थ्य अवश्य है परन्तु वे दान या पृथक् होने की क्रिया का आश्रय नहीं है अपितु यहां इन कारकों से भिन्न कर्ता, कर्म ही क्रियाश्रय होता है, जहां वह समवेत है । अर्थात् क्रिया के इन साधनों का क्रिया से निष्पादकत्व कर्ता या कर्म के माध्यम से होता है साक्षात् नहीं । क्योंकि विभिन्न प्रकार का "सम्बन्ध" साक्षात् या परम्परया क्रिया का निष्पादक नहीं है अर्थात् उसमें क्रियानिष्पादन का सामर्थ्य नहीं है, क्रिया से वह अन्वित भी नहीं है ।- अत: वह [सम्बन्ध] साधन या कारक नहीं कहलाया जा सकता है ।

शक्ति या योग्यता ही क्रिया-निष्पत्ति का वास्तविक साधन क्यों है, द्रव्य ही क्यों नहीं - इस सम्बन्ध में भर्तृहरि कहते हैं कि शक्ति मात्राओं का समूह है । विश्व की समस्त वस्तुएं उसी मूल शक्ति की मात्राएं हैं, उसके अवयव हैं । फिर भी वक्ता को कहीं किसी शक्तिविशेष की विवक्षा होती है । शक्ति की इस विवक्षा या अविवक्षा के कारण कर्ता कर्म आदि साधन कभी-कभी शेष [सम्बन्ध] बन जाता है, कर्म भी किसी परिस्थिति में कर्ता बन जाता है ।[1] ये परिवर्तन मूर्त द्रव्य [वस्तु] में तो हो नहीं सकते क्योंकि वह एकरूप रहता है ।[2] यदि द्रव्य को कारक मानेंगे तो द्रव्यरूप कारकों में ऐसे परिवर्तन नहीं होंगे । परन्तु वास्तविकता यह है कि द्रव्य शक्तिपुंज है । वक्ता किसी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष शक्ति पर बल देने में स्वतन्त्र है ।[3] अत: शक्तिरूप साधन [कारक] में परिवर्तन देखा जाता है । इसी कारण एक ही घट द्रव्य विभिन्न क्रियाओं की निष्पत्ति के लिए कभी कर्ता, कभी कर्म कभी अधिकरण और कभी अपादान बन जाता है[3]।

1· शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मण: ।
सर्वदा सर्वथा भावात् क्वचित् किंचिद् विवक्ष्यते ।। -वा·प·, 3·7·2

2· द्रव्यस्य ह्येकस्वभावत्वात् साधनत्वे शेषभाव: कर्मकर्तृभावश्च नोपपद्यते ।
- वा·प·, 3·7·1 हेलाराज

3· वा·प·, 3·7·2 पर हेलाराज

इस प्रकार भर्तृहरि की यह साधनरूप शक्ति पारमार्थिक दृष्टि से शक्तिमान् से अभिन्न होते हुए व्यावहारिक भाषा विश्लेषण में द्रव्य से व्यतिरिक्त है ।

भर्तृहरि ने शक्ति को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानने वाले संसर्गवादी वैशेषिकों के मत में साधन के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है । इस दर्शन में शक्ति द्रव्य से व्यतिरिक्त पदार्थ नहीं है । शक्ति और शक्तिमान् दोनों भाव ही है । भाव परस्पर शक्तिमान् होते हैं । इनका परस्पर संसर्ग ही शक्ति है । शक्ति नाम की अन्य कोई नियत वस्तु नहीं है । इस प्रकार जो जिसका जिस रूप में अनुग्रह करता है, वह उसका उसी रूप में साधन (कारक) है ।[1]

इस प्रकार भर्तृहरि ने शक्ति को द्रव्य से व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त मानने वाले दोनों पक्षों का प्रतिपादन किया है । परन्तु इनमें से व्याकरण-दर्शन व्यतिरिक्त पक्ष को अधिमान देता है, क्योंकि वह शब्दप्रमाणवादी है । शब्द पदार्थों को साधनरूप व्यतिरिक्तरूप में ही व्यक्त करते हैं ।[2]

भर्तृहरि ने इस तथ्य को भी उद्घाटित किया है कि साधन (कारक) केवल बौद्धिक हो सकता है । इसमें वह भाष्यकार द्वारा "पंचमीविभक्ते:"[3] के प्रत्याख्यान को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं । पाणिनि का "ध्रुवमपाये अपादानम्"[4] सूत्र दो मूर्त वस्तुओं के विश्लेष में स्थिर वस्तु की अपादान संज्ञा करता है और वहां "अपादाने पंचमी"[5] से अपादान-रूप साधन (कारक) के अर्थ में पंचमी होती है । पुन: "कुरुभ्य: पांचाला अभिरूपतरा:" आदि उदाहरणों में दो की तुलना में एक से दूसरे को पृथक् करना वस्तुओं का विश्लेष नहीं है, मात्र गुणों के आधार पर बौद्धिक विश्लेष है । अत: यहां भी

---

1. वा.प., 3.7..9 से 14
2. सं.व्या.द., पृ.285
3. पा.सू., 2.3.42
4. पा.सू., 1.4.24
5. पा.सू., 2.3.28

"अपादाने पंचमी" से ही पंचमी सिद्ध होने से एतदर्थ "पंचमी विभक्ते:" सूत्रकरण व्यर्थ है – ऐसा भाष्यकार ने कहा है, जो इस बात को ज्ञापित करता है कि भाष्यकार भी "यतश्च निर्धारणम्" आदि में बौद्धिक अपादानत्व मानते हैं ।[1] भर्तृहरि दूसरा उदाहरण देते हैं कि कथावाचक कथा सुनाकर बौद्धिक कृष्ण आदि कर्ताओं से बौद्धिक कंस आदि कर्म का बौद्धिक बध करवाता है ।[2] इस प्रकार जो बुद्धि में आता है, वही शब्दार्थ है, न कि वस्त्वर्थ ।[3] अत: साधन (कारक) भी बौद्धिक ही हो सकता है ।

भर्तृहरि ने पाणिनि के लक्षणों तथा पतंजलि के भाष्यवचनों के आधार पर कर्ता, कर्म आदि कारकों का विवेचन करते हुए इनके भेदोपभेदों को भी विस्तार से प्रतिपादित किया है । विस्तारभय से उन सबका विवेचन करना यहां सम्भव नहीं है ।

काल :

पाणिनि ने काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाने से इसके द्योतक अनद्यतन, भूत आदि शब्दों की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं समझी ।[4] इसीलिए पाणिनीय व्याकरण को अकालक व्याकरण कहा जाता है ।[5] परन्तु भाष्यकार पतंजलि के काल के सम्बन्ध में अनेक वक्तव्य उपलब्ध होते हैं । भाष्यकार क्रिया को ही काल मानते हैं ।[6] कैयट ने उनका समर्थन

---

1. *बुद्ध्या समाहितैकत्वान् पांचालान् कुरुभिर्यदा ।*
   पुनर्विभजते वक्ता तदापाय: प्रतीयते ।। – वा.प., 3.7.4
2. वही, हेलाराज
3. बुद्धिप्रतिभास्येव ह्याकारो शब्दार्थो न वस्त्वर्थ: । – वही, 3.7.5 हेलाराज
4. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् । – पा.सू., 1.2.53
5. पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् । – काशिका, 2.4.21
6. व्या.म.भा., 1.1.70

करते हुए कहा है कि सूर्यादिकर्तृक प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया काल है, जो अन्य अध्ययन आदि क्रियाओं की परिच्छेदिका है ।[1] कुछ वैयाकरण काल को क्रिया से भिन्न और उसका (क्रिया का) परिच्छेदक मानते हैं ।

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा यह दी है - "तरु, तृण, लता आदि का कभी उपचय और कभी अपचय होता है । पदार्थों की इस वृद्धि और ह्रास से जिसका अनुमान होता है, वह काल है ।"[2] यह लक्षण भी काल को क्रिया का भेदक प्रतिपादित करता है । नागेश ने उक्त दोनों पक्षों में यह दोष दिखाया है कि ऐसा मानने पर क्रिया में क्षण- उपाधि सम्भव नहीं है । नागेश ने क्षण प्रवाह को ही काल माना है और उन्होंने अर्वाचीन सांख्य-आचार्यों के शब्दतन्मात्रा के परिणाम वाले सिद्धान्त का भी समर्थन किया है ।[3] नागेश ने भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित काल की एकता तथा नित्यता को भी अस्वीकार किया है ।[4] स्पष्ट है कि नागेश की काल सम्बन्धी मान्यता व्याकरण-दर्शन-सम्प्रदाय के सभी दार्शनिक वैयाकरणों के मतों के विरुद्ध है तथा इस सम्बन्ध में वह योग और सांख्य की सरणि पर चले गये हैं ।

भर्तृहरि के दर्शन के अनुसार काल शब्दब्रह्म की स्वातन्त्र्य शक्ति को कहते हैं । इस काल शक्ति के आश्रय से जन्म आदि षड् भाव-विकार विश्व के विकास में सहायक होते हैं ।[5] सृष्टि की कारण-कार्य श्रृंखला में कार्य को उत्पन्न करने, क्रम देने, रोकने वाली अभ्यनुज्ञा, प्रतिबन्ध आदि शक्तियां कारण में रहती हैं । ये कारण शक्तियां काल-शक्ति के ही उपाधिभेद हैं ।

---

1. व्या॰म॰भा॰, प्रदीप 3·2·84 पर
2. येन मूर्तीनाम् उपचयापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहु: ।
   -व्या॰म॰भा॰, 2·2·5
3. वही, प्रदीपोद्योत 3·2·84 तथा मंजूषा
4. वही, 2·2·25
5. वा॰प॰, 1·3

काल की स्वातन्त्र्य शक्ति तथा कारण शक्तियों का विवेचन पूर्व प्रकरणों में पहले ही किया जा चुका है ।

काल व्यापक, अमूर्त, अकृतक, नित्य, अविच्छिन्न और एक है । उसमें भेद कल्पित हैं । घटी एवं नलिकायन्त्र की जलसृति ही काल नहीं है । उसका परिच्छेद निमेष के व्यापार आदि से सम्भव है । नलिका के अल्प छिद्र से जल देर से गिरता है और बड़े छिद्र से शीघ्र गिरता है । अतः इससे अल्प या दीर्घ काल का अनुमान अवश्य होता है परन्तु इससे काल की अभिन्नता खण्डित नहीं होती है ।[1] इसी प्रकार काल से सम्बन्धित सूर्य आदि की गति भी व्यापार-विशेष है, जिनके आरोप से काल का दिन, रात, पक्ष, मास, सम्वत्सर आदि की व्यवस्था में भेद प्रतीत होता है । वस्तुतः यह भेद काल का नहीं है ।[2] भर्तृहरि ने काल की नित्यता तथा अभिन्नता स्पष्ट शब्दों में कही है ।[3] भाष्यकार ने भी काल को नित्य माना है ।[4]

भर्तृहरि के अनुसार काल की क्रमाख्या कारण शक्ति से विवर्तों एवं विवर्तव्यापारों में पूर्वापर क्रम का भान होता है । उसके आरोप से काल भिन्न, सक्रम और अनित्य प्रतीत होता है । पारमार्थिक दृष्टि से काल अभिन्न, अक्रम और नित्य है । भर्तृहरि और भाष्यकार - दोनों के मत में काल प्रत्यक्ष-गम्य नहीं है । उसका अनुमान पदार्थों के उपचय-अपचय आदि से तथा सूर्य आदि के व्यापारों से लगाया जा सकता है ।[5]

व्यावहारिक दृष्टि से काल भिन्न रूप में ही दिखाई देता है । व्याकरण-दर्शन को तो उस काल का भी विवेचन करना है, जहां भूतकाल को

1· वा·प·, 1·9·71

2· वा·प·, 3·9·3 पर हेलाराज

3· वा·प·, 2·24

4· नित्ये हि कालन्क्षेत्रे । - व्या·म·भा·, 4·2·3

5· क) व्या·म·भा·, 3·2·123 तथा 2·2·5

ख) वा·प·, 3·9·27 आदि

भी तीन ओर तथा भविष्य को दो ओर विभक्त करके विभिन्न लकारों के क्रियारूपों से अभिव्यक्त किया जाता है । अतः काल व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न और अनित्य है ।

काल के मुख्यतः तीन भेद हैं । कुछ लोगों के मत में तीन शक्तियां इन तीन कालों के भेद का कारण है । इनमें अतीत शक्ति और अनागत शक्ति आवरण करती है, जबकि वर्तमान शक्ति भावों को प्रकाश में लाती है ।[1] परन्तु अन्य आचार्य क्रिया के आधार पर भी कालभेद का विवेचन करते हैं । व्याकरण-दर्शन इसी मत का समर्थक है ।[2] जब क्रिया उत्पन्न होकर समाप्त हो जाती है तो उसके उपाधिभूत काल को भूत कहते हैं । जब क्रिया के साधन और उसका आरम्भ समीप रहते है तब उसके उपाधिकाल को भविष्य कहते हैं । जब क्रिया प्रारम्भ हो जाए, परन्तु अभी समाप्त नहीं हुई हो - तब उसके उपाधिकाल को वर्तमान कहते हैं । अवान्तर क्रियाएं होने के बावजूद भी जब तक मुख्य क्रिया के फलों के लिए यत्न जारी है, जब तक हम "अधीमहे" आदि का प्रयोग करते रहेंगे ।[3]

कुछ लोग वर्तमान काल एक क्षण का मानकर तथा क्षणात्मक काल के प्रत्यक्षगम्य न होने से काल मात्र दो मानते हैं तथा वर्तमान काल पर आक्षेप करते हैं ।[4] वैयाकरण इसका समाधान करते हैं कि वर्तमानकाल का लक्षण प्रारब्ध - अपरिसमाप्तत्व है । क्रिया के आरम्भ होने से समाप्त होने तक जितने भी क्षण है - उनके समूह में वर्तमान का अध्यास रहता है ।[5]

7 इस प्रकार क्रिया तथा उसके वाचक शब्दों के लोकव्यवहार को प्रमाण मानकर पाणिनीय शब्दानुशासन के नियमों के आधार पर भर्तृहरि ने कालभेदों तथा उसके वाचक लकारों (तिङ्) के सम्बन्ध का विस्तार से विवेचन किया है ।

---

1. वा.प., 3.9.49-51
2. तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृतः ।
   भेदा इव त्रयः सिद्धा यांल्लोको नातिवर्तते ।। -वा.प., 3.9.48
3. वा.प., 3.9.81-83
4. व्या.म.भा., प्रदीप, 3.2.123 पर
5. (क) वही, (ख) वा.प., 3.9.90

दिक्

भारतीय दर्शनों में दिक् और काल साथ-साथ आते रहे हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य देखा जाता है। पाणिनि ने "...दिग्देश-कालेष्वस्तातिः"[1] आदि अनेक सूत्रों में दोनों को साथ-साथ प्रतिपादित किया है। भर्तृहरि ने यद्यपि अलग-अलग समुद्देशों में काल और दिक् का विवेचन किया है तथापि अनेक समानताओं से अनेक वाक्यों में इन्हें एक साथ प्रतिपादित किया है।[2]

भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म की एक कालशक्ति को ही कार्य जनन में सभी कारण-शक्तियों के रूप में भिन्न माना है। तदनुसार दिक् भी कुछ कार्यों की कारणशक्ति है जिसका स्वरूप इस प्रकार है -

> व्यतिरेकस्य यो हेतुरवधिप्रतिपाद्ययोः।
> ऋज्वत्येव यतोन्येन बिना बुद्धिःप्रवर्तते ।।
> कर्मणो जातिभेदानामभिव्यक्तिर्यदाश्रया।
> सा स्वैरूपाधिभिर्भिन्ना शक्तिर्दिगिति कथ्यते ।। [3]

अर्थात् दिक् वह शक्ति है -

क. जो अवधि (सीमा) और प्रतिपाद्य (सीमित) पदार्थ के व्यतिरेक का कारण है,

ख. किसी अन्य की सहायता के बिना ऋजुता, वक्रता आदि का हेतु है,

ग. जो कर्म के जातिभेदों की अभिव्यक्ति का आधार (कारण) है, तथा

घ. जो एक होने पर भी उपाधियों के कारण भिन्न है।

"अमुक देश इसके पूर्व में है" इत्यादि वचनों में "इससे" यह अवधि है, अर्थात् प्रारम्भ करने का बिन्दु है। "यह देश" से प्रतिपाद्य वस्तु

---

1. पा.सू., 5.3.27
2. यथा - चैतन्यवत् स्थितालोके दिक्कालपरिकल्पना। - वा.प.,3.6
3. वा.प., 3.6.2-3

अवधिमान् है । इस अवधि और अवधिमान् के सम्बन्ध का निमित्त अन्य जाति आदि पदार्थ नहीं है, अपितु दिक् है जोकि इस प्रकार के ज्ञान का निमित्त है ।[1]

इस दिक् के कारण ही हम किसी अन्य की सहायता के बिना किसी वस्तु को सीधी और किसी को टेढ़ी जान लेते हैं । किसी एक वस्तु को पूर्व आदि की ओर जानने के लिए हमें दूसरी वस्तु की सहायता लेनी पड़ती है जो अवधि [सीमा] बताए । परन्तु सीधा या टेढ़ापन हमें बिना किसी अन्य वस्तु की सहायता से ही ज्ञात हो जाता है । सीधा का अर्थ है - एक ही दिशा में फैलना । वक्रता का अर्थ है - विभिन्न दिशाओं में फैलना । इस ज्ञान का कारण दिक् शक्ति ही है ।[2]

जब हम उत्क्षेपण, भ्रमण आदि विभिन्न कर्मों में अन्तर या तुलना करते हैं तो उसका कारण भी "दिक्" की अवधारणा ही है ।[3]

यह दिक् एक है । परन्तु उपाधिभेद से भिन्न है । यह विभिन्न क्रियाओं के संयोग के कारण उपाधिभेद से दस मानी गयी है । प्रातःकाल जिस कल्पित प्रदेश या भाग से सूर्य का प्रतिदिन प्रारम्भ में संयोग हुआ, हो रहा है और होगा-- वह पूर्वा दिक् है । इसी प्रकार पश्चिम आदि दिशा के नाम और भेदों के स्वरूप भी हेलाराज ने प्रतिपादित किए हैं ।[4]

भर्तृहरि कहते हैं कि "दिक्" कोई पृथक् तत्त्व नहीं है । यह तो मात्र एक शक्ति है, द्रव्य नहीं है । इसकी कल्पना तो देशों तथा वहां स्थित द्रव्यों का उपकार करने के लिए की जाती है ।[5]

---

1. वा॰प॰, 3·6·3 पर हेलाराज
2. वा॰प॰, 3·6,2-3 पर हेलाराज
3. वही, हेलाराज
4. सवितुरहरहरादौ येन प्रकल्पित-दिक्प्रदेशेन संयोगोभूद् भवति भविष्यति वा तस्मादादित्यसंयोगात् प्राचीतिव्यपदेशः । - वही, हेलाराज
5. दिशो व्यवस्था देशानां दिग्व्यवस्था न विद्यते ।
   शक्तयः खलु भावानामुपकारप्रभाविताः ।। -वा॰प॰, 3·6·6

परिच्छिन्न मूर्त द्रव्यों का अवयवों में भेद दिक् के कारण होता है। अखण्ड परमाणुओं में भी भागों की तथा ऊर्ध्वभाग और अधोभाग की कल्पना दिक्शक्ति से की जा सकती है।[1] दिक् के कार्य सभी जगह पाये जाते हैं, अतः इसे विभु (व्यापक) कहा जाता है।[2]

आकाश, दिक् तथा देश शब्द वाक्यपदीय में बार-बार आते हैं। उनके अर्थ भी कभी एक-दूसरे पर अतिव्याप्त लगते हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक का अर्थ भिन्न है। वैशेषिक दर्शन में आकाश तथा दिक् द्रव्य पदार्थ के अन्तर्गत आते हैं। इनके अनुसार आकाश समग्र दिक् को व्याप्त करता है। उपनिषदों और वाक्यपदीय में आकाश का अर्थ बहुधा दिक् से ही है,[3] दिक् को व्यापत करने वाले द्रव्य से नहीं। आकाश एक तथा तत्वतः शून्य माना गया है। इस अर्थ में यह दिक् के समान है। आकाश यद्यपि एक है तथापि उपाधि के द्वारा इसके भेद किये जा सकते हैं। प्रत्येक द्रव्य से परिव्याप्त दिक् - एक आकाश का एक-एक कल्पित खण्ड होगा। इनमें से द्रव्य से परिव्याप्त प्रत्येक खण्ड एक देश या प्रदेश है। हम देश-विशेष को लेकर कह सकते हैं कि यह दूसरे द्रव्य के उत्तर या दक्षिण में है। उत्तर या दक्षिण जैसी अभिव्यक्तियों या धारणाओं का जो हेतु है, वही वैयाकरणों के मत में दिक् या दिशा कहलाता है।[4] यद्यपि सामान्य मनुष्य के व्यवहार में कभी-कभी अतिव्याप्ति हो सकती है किन्तु आकाश, देश और दिक् की धारणाएं परस्पर सर्वथा भिन्न हैं।[5] भर्तृहरि की दृष्टि में दिक्, काल, साधन और क्रिया - ये चार ऐसी अवधारणाएं हैं जो द्रव्य - जाति आदि की अपेक्षा कम व्यापक हैं तथा सभी पदों और अवयवों से अभिव्यक्त नहीं होती हैं अपितु अनवस्थित हैं। भर्तृहरि ने इन्हें शक्ति का नाम दिया है।[6]

---

1. वा॰प॰, 3·6·12-13
2. वा॰प॰, 3·6· 17-18
3. कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात् सर्वमूर्तयः। -वा॰प॰, 3·7·अधि॰
4. वा॰प॰, दिक् समुद्देश तथा हलायुध हेलाराज
5. के॰ए॰ सुब्रह्मण्यम् अय्यर, भर्तृहरि का वाक्यपदीय पृ॰ 303
6. दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः।
   शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः॥ -वा॰प॰, दिक् समु॰।

उपग्रह

उपग्रह शब्द पाणिनि की कृतियों में कहीं नहीं मिलता है । कात्यायन और पतंजलि ने इसका प्रयोग पारिभाषिक रूप में किया है । व्याकरण-निकाय में सर्वप्रथम भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में उपग्रह की परिभाषा दी है जो इस प्रकार है -

> य आत्मनेपदाद् भेद: क्वचिदर्थस्य गम्यते ।
> अन्यतश्चापि लादेशान्मन्यन्ते तमुपग्रहम् ।।[1]

आत्मनेपद तथा परस्मैपद से तथा अन्य शतृ-शानच् आदि लादेशों के प्रयोग से कोई विशेष अर्थ अभिव्यक्त होता है जिसे उपग्रह कहा जाता है । यह अर्थ क्रिया या साधन(कारकों) से सम्बन्धित होता है तथा लादेशों के अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थों से भिन्न होता है भर्तृहरि ने इसे उपग्रह नाम के अर्थ को "वाच्य" की बजाय "गम्य" बताया है ।

आत्मनेपद या परस्मैपद प्रत्ययों के बारे में यह विशिष्ट अवधारणा रही है कि धातु-बोध्य क्रिया का फल या तो कर्ता को प्राप्त होता है या किसी अन्य को । "यजमान: यजते" "ऋत्विग् यजति" इन दोनों उदाहरणों में से पहले में आत्मनेपद"यजनक्रिया का फल कर्तृगामी है"-इस बात को द्योतित कर रहा है तथा दूसरे में परस्मैपद प्रत्यय"ऋत्विक् की यजनक्रिया का फल यजमान को मिलेगा"- इस अर्थ को व्यक्त कर रहा है । एक ही अर्थ के ये दो सूक्ष्म भेद उपग्रह के अन्तर्गत आते हैं ।[2] "व्यतिलुनीते" इत्यादि उदाहरणों में कर्मव्यतिहार अर्थ उपसर्ग से नहीं अपितु आत्मनेपद से व्यक्त होता है । यह भी उपग्रह है जो एक प्रकार का क्रियाविशेषण रूप अर्थ है ।[3] इसी प्रकार कर्ता और कर्म भी उपग्रह के अन्तर्गत ही आयेंगे यदि वे द्विविध क्रियापद के प्रत्ययों के द्वारा वाच्य हों । यथा पच्यते में "कर्म" तथा एधते में 'कर्ता' उपग्रह है ।[4] उपग्रह के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनका भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में विवेचन किया है ।

---

1. वा॰प॰, 3॰उप॰समु॰ कारिका ।
2. वही, कारिका-3 तथा हेलाराज
3. व्यतिहारस्तु क्रियाविशेषणम् आत्मनेपदाभिव्यंग्यम् उपग्रह: । - वही,4 हेला॰
4. वही, उप॰समु॰-3

वृत्ति

पाणिनि ने "समर्थः पदविधिः" कहकर समर्थ को पदविधि बताया है। पतंजलि ने इस पदविधि में तीन विषयों को समाविष्ट किया है - समास, विभक्ति-विधान और पराङ्गवद्भाव। इनके भीतर समास, तद्धित, कृदन्त, एकशेष और नामधातु आते हैं। इन्हें देखते हुए समर्थ पदों अथवा सम्बद्धार्थों अथवा संसृष्टार्थों को पदविधि कहा जा सकता है। इन्हें वृत्ति शब्द से भी अभिहित किया जाता है। वृत्ति पदार्थ के अभिधान को कहते हैं।[1] अर्थात् दूसरे शब्द का जो अर्थ होता है, उसका जब उससे अन्य शब्द से अभिधान हो - वह वृत्ति है। वृत्ति अर्थवान् तत्व से निर्मित होती है, तथा अन्वित अर्थ प्रदान करती है, जो अवयवार्थ से किंचित भिन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में ऐसी पांच वृत्तियां स्वीकृत हैं जो इस प्रकार है -

1· कृदन्त वृत्ति
2· तद्धितान्त वृत्ति
3· समास वृत्ति
4· एकशेष वृत्ति
5· नामधातु वृत्ति

इन वृत्तियों में अनेक प्रकार के विचार अन्तर्निविष्ट हैं, जिन्हें पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, पतंजलि ने महाभाष्य में तथा विशेषतया भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के वृत्तिसमुद्देश में विस्तार से प्रतिपादित किया है। इनमें से समासवृत्ति के ही कुछ उल्लेखनीय विचार यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

समास का अर्थ समुदाय है, जिसमें अवयवों की भी प्रतीति बनी रहती है। परन्तु द्वन्द्व समास में सह-विवक्षा विद्यमान रहती है। अतः यहां समुदाय में अनेकों की प्रतीति बनी रहती है। एकशेष में भी ऐसा ही होता है। वहां लुप्त पद से भी बराबर अर्थ का बोध होता है।[2]

1· परार्थाभिधानं वृत्तिः। - व्या·म·भा·, 2·1·1
2· वा·प·, 3·14·28

"धवखदिरम्" में दोनों शब्द अवयवार्थ सहित समूह का ज्ञान करवाते हैं, जैसे "छत्रिण: यान्ति" यह शब्द छाते-वालों के साथ बिना छाते वालों का भी समुदाय में बोधक होता है ।[1] प्लक्षन्यग्रोधौ में दोनों शब्द सामुदायिक अर्थ के बोधक हैं, जिस प्रकार दो भारवाहक एक साथ मिलकर एक बड़े भार को उठाते हैं । वाक्य में पृथक्-पृथक् प्रयुक्त ये शब्द समुदायरूप अर्थ का बोध नहीं करा सकते ।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि समास तथा वाक्य भिन्न-भिन्न हैं भले ही एक प्रकार के शब्दों से बने हों ।

पाणिनि के "समर्थ: पदविधि:" सूत्र पर सामर्थ्य के अर्थ पर विचार करते हुए वार्तिककार ने कहा है -

पृथगर्थानामेकार्थीभाव: समर्थवचनम् । 2·1·1· - वा·-1
परस्पर-व्यपेक्षां सामर्थ्यमेके । 2·1·1· -वा· -4

इस प्रकार कात्यायन ने एकार्थीभाव और व्यपेक्षा का सिद्धान्त स्थिर किया है । एकार्थीभाव वह सिद्धान्त है जहां पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेते हैं, अथवा अपना अर्थ छोड़ देते हैं और प्रधान अर्थ का ग्रहण कराने से स्वयं व्यर्थ हो जाते हैं या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । "व्यपेक्षा" के सिद्धान्त में पदों की परस्पर अपेक्षा रहती है, अर्थात् पद परस्पर साकांक्ष रहते हैं ।[3] जैसे रथन्तर पद में रथ और तर पद अपने मुख्य "वाहन और तैरने वाला" अर्थों का परित्याग कर देते हैं तथा नवीन "साम-विशेष" अर्थ को बोधित करते हैं । यही एकार्थीभाव है । व्यपेक्षा में राज-पुरुष आदि पदों में राज और पुरुष पदों का अर्थ साकांक्षरूप में विद्यमान रहता है ।

शक्तिवादी आचार्य इन्हीं दोनों सिद्धान्तों को जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था वृत्ति के नाम से प्रतिपादित करते हैं । जहत्स्वार्था वृत्ति

1· वा·प·, 3·14·31
2· वा·प·, 3·14·32 तथा हेलाराज
3· व्या·म·भा·, प्रदीप 2·1·1

गौण पदों द्वारा अपने अर्थ को छोड़ते हुए एकार्थता । यथा – रथन्तर साम ।[1]
अजहत्स्वार्था वृत्ति: = अपने अर्थ को न छोड़ते हुए एकार्थता यथा –राजपुरुष: ।[2]
दोनों ही पक्षों में उपसर्जन अर्थात् गौण शब्द का अर्थ मुख्य शब्द के अर्थ का
विशेषण बनता है । अर्थ दोनों का ही गृहीत होता है । समास विशिष्टार्थ
का अभिधान करता है, अत: विभक्त्युत्पत्ति विशिष्टार्थ में ही होती है ।
जहत्स्वार्था वृत्ति में गौण शब्द मुख्य शब्दार्थ को विशेषित करने के बाद ही
अपने अर्थ का परित्याग करता है । इस परार्थाभिधान में त्याग भी होता
है और अभ्युच्चय भी ।[2-अ]

कात्यायन द्वारा सामर्थ्य के विषय में दो पक्ष स्थिर करने पर
भाष्यकार ने यह विचार किया है कि सामर्थ्य एकार्थीभाव को माना जाए या
व्यपेक्षा को ।[3] इनमें से उन्होंने एकार्थीभाव को सामर्थ्य मानने वाला पक्ष
स्वीकार किया है ।[4] इसका तात्पर्य यह है कि रथन्तर के समान राजपुरुष
आदि समस्तपद स्वतन्त्र प्रकृति के हैं । इन्हें अवयवों का समूह नहीं कहा जा
सकता है ।

भाष्यकार ने एकदेशी के रूप में व्यपेक्षापक्ष अर्थात् अजहत्स्वार्था पक्ष
का भी समर्थन किया है ।[5] परन्तु इस पक्ष की व्याख्या करके अन्त में भाष्यकार
ने कहा है कि इस व्यपेक्षा-पक्ष को मानने में अनेक दोष हैं । इस पक्ष में
अवयवातिरिक्त विशेष अर्थ का विधान करना पड़ेगा जो एकार्थीभाव पक्ष में स्वत:
सिद्ध है ।[6] अत: व्यपेक्षापक्ष में भाष्यकार ने गौरवदोष बताया है ।

पतंजलि के उपरान्त भर्तृहरि ने तथा इनके बाद हेलाराज, भट्टोजी
दीक्षित, कौण्डभट्ट तथा नागेश आदि ने, "समास में विशिष्ट में शक्ति होती है"
इसी पक्ष को मान्यता दी है । भर्तृहरि ने पतंजलि के एकार्थीभाव पक्ष को

---

1. जहति स्वार्थमुपसर्जनपदानि यस्या सा जहत्स्वार्था । ···–हेलाराज वा·प· 3·14·44
2. तद्विपरीता अजहत्स्वार्था । – हेलाराज, वही
2अ· वा·प·, 3·14·94
3. तत्रेदमपरं द्वैतं भवति – एकार्थीभावो वा सामर्थ्यं व्यपेक्षा, वेति ।–म·भा·2·1·1
4. एकार्थीभाव: सामर्थ्यम् । – वही
5. अथवा पुनरस्त्वजहत्स्वार्था वृत्ति: ··· इत्यादि । –वही
6. अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योसावेकार्थीभावकृतो विशेष: स वक्तव्य: । –वही

स्पष्ट करते हुए कहा है कि समस्तपद तथा उसका बोधक विग्रह-वाक्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं । समस्तपद का विग्रह करके अर्थ बताना केवल अबोध व्यक्तियों के लिए ही है ।[1] इसीलिए भाष्यकार ने भी उपसंहार करते हुए कहा है कि किसकी शक्ति है जो धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों के अर्थ को आदिष्ट करे ।[2]

भर्तृहरि इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं कि समास में अतिरिक्त शक्ति मानने पर प्राचार्यः, प्रपणः आदि पदों में प्रगतः, प्रपतितः आदि अर्थों के विधान की भी आवश्यकता नहीं रहती है । क्योंकि प्राचार्य, प्रपण, प्रपितामह, गोरथ, नीलोत्पल आदि सभी समस्त शब्द स्वतन्त्रार्थक एवं अखण्ड प्रतीतक हैं । अतः सप्तपर्ण पंकज आदि को योगरूढ़ कहना तथा राजपुरुष आदि को यौगिक कहना भी काल्पनिक है । वास्तविकता यह है कि तात्त्विक दृष्टि से शब्द विभाग और शास्त्रप्रक्रिया दोनों काल्पनिक हैं ।[3]

सम्बन्ध

शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध विशेष की सत्ता की अवधारणा व्याकरण-दर्शन में प्राचीन परम्परा से ही परिलक्षित होती है । उपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि, हेलाराज, वृषभ, कैयट, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश -सभी ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध पर चर्चा की है तथा इसे नित्य माना है । शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध वह हेतु है जिसके द्वारा शब्द निश्चित अर्थ का बोध कराता है । सम्बन्ध का ग्रहण

---

1. अबुधान् प्रत्युपायाश्च विचित्राः प्रतिपत्तये ।
   शब्दान्तरत्वादत्यन्तं भेदो वाक्यसमासयोः ।। - वा॰प॰, 3.14.47
2. को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम् ।
   - म॰भा॰, 2.1.1
3. वा॰प॰, 3.14.50-55, 74

श्रोता को न हो तो प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध कराने लग जाए ।[1] शब्द श्रवण से तुरन्त जो अर्थ का बोध होता है, उससे विदित होता है कि इस शब्द का अमुक अर्थ के साथ अवश्य कोई सम्बन्ध है जिसके कारण ऐसा ज्ञान होता है । अत: सम्बन्ध प्रत्यय (अर्थ ज्ञान) का हेतु है ।[2] इस सम्बन्ध का ज्ञान लोक-व्यवहार आदि से होता है ।[3]

सम्बन्ध अनेक प्रकार के ख्यात हैं । इनमें से शब्द और अर्थ के मध्य कौनसा सम्बन्ध है - इस विषय में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध दो प्रकार का है - कार्यकारणभाव और योग्यता[4]। इनका स्वरूप इस प्रकार है -

कार्यकारणभाव सम्बन्ध :

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का एक सम्बन्ध कार्य-कारणभाव बताया है । वक्ता के लिए अर्थ कारण और शब्द कार्य है । श्रोता के लिए शब्द कारण और अर्थ कार्य है । ग्राह्य अर्थ वक्ता की बुद्धि में स्थित होकर सूक्ष्म स्फोट शब्द से तादात्म्य को प्राप्त होता है । वक्ता उस अर्थ को श्रोता के ध्यान में लाने की इच्छा से शब्द को उच्चारण द्वारा अभिव्यक्त करता है ।[5] फलत: उसके लिए अर्थ कारण और शब्द की अभिव्यक्ति कार्य है । शब्द के उच्चारित होने पर और श्रोता द्वारा सुनने पर उसके अन्त:करण में उद्बुद्ध हुआ स्फोट शब्द उससे तादात्म्य को प्राप्त होकर अर्थ को बोधित करने का कारण

---

1. शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतु: । अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्यायेत ।
   -वा॰प॰, काण्ड-3, पृ॰ 96 हेलाराज
2. सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्ध उपपद्यते ।
   शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ।। -वा॰प॰, 3·3·37
3. (क) कथं पुन: ज्ञायते सिद्ध: शब्द: अर्थ: सम्बन्धश्चेति ? लोकत: । -म॰भा॰आ॰
   (ख) वा॰प॰, 2·435
4. कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिता: ····सम्बन्धा:···। -वा॰प॰ 1·24-[illegible]
5. वितर्कित: पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशित: ।
   करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ।। - वा॰प॰, 1·47

बनता है ।[1] अतः श्रोता की दृष्टि से शब्द कारण है और अर्थ कार्य है ।[2] इस प्रकार शब्द और अर्थ में परस्पर कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध है ।

भर्तृहरि से पूर्व पाणिनि ने "तस्येदम्"[3] सूत्र के द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध की सत्ता को सूचित किया है । भाष्यकार ने यह कहकर इस सम्बन्ध को बताया है कि शब्द के कारण से ही अर्थ का बोध होता है ।[4] भर्तृहरि ने तो स्पष्ट शब्दों में शब्द की कारणता और अर्थ की कार्यता को प्रतिपादित किया है ।[5] शब्द का यह सम्बन्ध बौद्ध अर्थ के साथ होता है, बाह्य वस्त्वर्थ के साथ नहीं ।[6] हेलाराज के मत में यह कार्य-कारण सम्बन्ध उन लोगों के मत के समन्वय के लिए माना गया है जो मानते हैं कि शब्द वस्त्वर्थ को नहीं बल्कि बौद्ध अर्थ को ही अभिहित करते हैं ।[7]

योग्यतारूप सम्बन्ध :

पाणिनि ने योग्यतारूप सम्बन्ध को "तदर्हति" और "तदर्हम्"[8] सूत्रों द्वारा सूचित किया है । कात्यायन[9] और पतंजलि ने[10] भी शब्दों द्वारा अर्थ का स्वाभाविक अभिधान (बोध) मानकर इनमें परस्पर योग्यता-लक्षण सम्बन्ध संकेतित किया है । भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में "योग्यता" को

1· यस्मिन् तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते । -वा·प·, 2·330
2· एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते । - वा·प·, 1·44
3· पा·सू·, 4·3·120
4· शब्देनोच्चारितेन अर्थो गम्यते । - व्या·म·भा·, 1·1·68
5· शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते ।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ।। - वा·प·, 3·3·32
6· इह हि व्याकरणे न वस्त्वर्थोऽर्थः, अपितु शब्दार्थोऽर्थः । - वही, 3·8·1 हेलाराज
7· ये बाह्यस्यार्थस्य शब्दवाच्यत्वं नेच्छन्ति तन्मतोपसंग्रहार्थं कश्चिदभिप्रायरूपस्यैव शब्दार्थत्वे तत्र कार्यकारणसम्बन्धमाह । - वा·प·, 3·3·1 हेलाराज
8· पा·सू·, 5·1·63 तथा 5·1·117
9· अभिधानं पुनः स्वाभाविकम् । - व्या·म·भा·, 1·2·64 पर वा· 33
10· स्वाभाविकमभिधानम् । - व्या·म·भा·, 1·2·64

दूसरा सम्बन्ध बताया है ।[1] इसे स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप आदि के ग्रहण करने की और रूपादि के विषय का ज्ञान उत्पन्न करने की स्वाभाविक योग्यता है, उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि वह अर्थ का बोध कराता है । यह योग्यता ही सम्बन्ध है तथा यह अनादि है ।[2]

इन्द्रियां और अनुमान भी अर्थ का ज्ञान करवाने का कारण बन सकते हैं, परन्तु इन्द्रियां मात्र अर्थ का ज्ञान करवाने में साधन हैं, उनका स्वयं साथ में ग्रहण नहीं होता । अनुमान में लिंग 'धूम' आदि भी ज्ञान से गृहीत वस्तु से पृथक् रहते हैं । परन्तु इसके विपरीत शब्द अपने ग्राह्य अर्थ के साथ एक रूप में प्रतीत होता है[3] तथा अर्थ के साथ-साथ अपने स्वरूप का भी ग्रहण करवाता है । अर्थात् उसमें ग्राहकत्व की योग्यता भी है तथा ग्राह्यत्व की योग्यता भी है ।[4] शब्दों में यह योग्यता है कि वे अपने स्वरूप और अर्थ का ज्ञान करवाने में समर्थ हैं, और अर्थ में यह योग्यता है कि वह शब्द द्वारा अभिहित किया जा सकता है । इस योग्यता को "समय" अर्थात् वृद्धों के निर्धारित प्रयोग के द्वारा जाना जा सकता है ।[5]

शब्दशक्ति और योग्यता सम्बन्ध

भर्तृहरि ने योग्यतारूप सम्बन्ध (शक्ति) को अभिधा आदि शब्दशक्तियों से पृथक् बताते हुए कहा है कि यह सम्बन्ध शक्तियों की भी शक्ति है ।[6] हेलाराज ने भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि शक्तियों के

---

1. वा.प., 1.24-26
2. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
   अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।। - वा.प., 3.3.29
3. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ । - वा.प., 2.31
4. वा.प., 1.55
5. समयाद् योग्यता-संविद् मातापित्रादियोगवत् । - वा.प., 3.3.31
6. शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः । - वा.प., 3.3.5

आधारपारतन्त्र्य और नियत कार्यजनन का नियामक सम्बन्ध ही है ।[1] अत: सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही शक्तियां अर्थ का बोध करा सकती है । अत: यह सम्बन्ध नाम का तत्त्व या शक्ति शब्दों की अभिधा आदि शक्ति से भिन्न है ।

सम्बन्ध की नित्यता :

व्याकरण-दर्शन के सभी दार्शनिक वैयाकरणों ने शब्द अर्थ के पारस्परिक उक्त सम्बन्ध को नित्य प्रतिपादित किया है । संग्रहकार व्याडि ने लौकिक और वैदिक शब्दों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध अकृतक कहा है । अर्थात् इस सम्बन्ध को किसी ने बनाया नहीं है, अत: अनादि परम्परा के कारण नित्य है ।[2] कात्यायन ने भी "सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" में सम्बन्ध को नित्य माना है, क्योंकि पतंजलि ने संग्रह में इस शब्द के कार्य का प्रतिद्वन्द्वी होने से सिद्ध शब्द का अर्थ नित्य किया है ।[3] भाष्यकार ने "वृद्धिरादैच्" सूत्र (1·1·1) पर कहा है कि अर्थवान् शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है ।[4] उक्त दोनों आचार्यों का अभिप्राय है कि आचार्य पाणिनि ने शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को नित्य मानकर ही व्याकरणशास्त्र की रचना की है । इसी कारण भर्तृहरि ने कहा है कि इन तीनों मुनियों ने शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को नित्य कहा है ।[5] अनन्तर श्रीवृषभ और कैयट ने भी सम्बन्ध की नित्यता को स्पष्ट किया है ।

1· वा·प·, 3·3·5 पर हेलाराज

2· सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो: ।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात् कृत: कथम् ।।
— वा·प·, 1·25 की वृत्ति में संग्रह के नाम से उद्धृत ।

3· व्या·म·भा·, आ·1, पा·—1

4· नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध: । — वही, 1·1·1

5· नित्या: शब्दार्थसम्बन्धा: समाम्नाता: महर्षिभि: ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभि: ।। — वा·प·, 1·23

वैयाकरणों के मत में स्फोटात्मक शब्द की नित्यता प्रतिपादित की जा चुकी है । बौद्ध अर्थ भी नित्य है अत: इनका सम्बन्ध भी नित्य है । परन्तु अर्थ को अनित्य भी माना जाए तो भी कैयट ने सम्बन्ध की नित्यता इस प्रकार प्रतिपादित की है - सम्बन्ध योग्यतारूप है । यह योग्यता शब्दों में रहती है । शब्द नित्य है अत: नित्य शब्द में रहने वाली योग्यता (सम्बन्ध) भी नित्य है ।[1] किंच अनित्यत्व पक्ष में भी अनादि परम्परा से शब्द उसके अर्थ तथा सम्बन्ध में प्रवाह-नित्यता या व्यवहारनित्यता बनी हुई है ।[2] कैयट से पूर्व पतंजलि तथा भर्तृहरि ने भी इस प्रकार की नित्यता को मान्यता दी है । नित्यता दो प्रकार की है।- जिसका जन्म न हुआ हो, और जो सदा अविकृत एवं अविनाशी बना रहे वह परम नित्यता या कूटस्थ नित्यता कहलाती है । इस अर्थ में शब्दब्रह्म नित्य है । एक वह नित्यता है, जिसमें उसका तत्त्व (धर्म) नष्ट नहीं होता है ।[3] घट के नष्ट होने पर भी घटत्व नष्ट नहीं होता है । वह अन्य घटों में उपलब्ध होता है । इसे प्रवाह नित्यता कहते हैं । वाक्यपदीय तथा पातंजल महाभाष्य में इस नित्यता पर विशेष बल दिया गया है । अर्थ की ऐसी नित्यता बनी रहती है । किंच शब्द ने अर्थ का बोध अवश्य कराना है, वह अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान हो या नहीं रहा हो । अत: उक्त प्रकार के प्रवाह नित्यता या बौद्ध नित्यता वाले अर्थ में तथा स्फोटरूप से नित्य शब्द में सम्बन्ध भी नित्य है, उसे बनाया नहीं जा सकता है ।[4]

---

1. अनित्ये अर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद - योग्यता-लक्षणत्वाद् सम्बन्धस्य । तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वाद् । - व्या॰म॰भा॰,आ॰। प्रदीप
2. सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परया अनादित्वाद् नित्यता । - वही; प्रदीप
3. तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते । - व्या॰म॰भा॰, आ॰।
4. नित्येऽनित्येपि वाच्येर्थे पुरुषेण कथंचन ।
   सम्बन्धोऽकृत सम्बन्धैः शब्दैः कर्तुं न शक्यते ।।

   - वा॰प॰, 3·3·38

अनेकत्र एक ही शब्द अनेक अर्थों का बोध कराता है । कभी कोई शब्द कालान्तर में उस अर्थ का बोध कराना छोड़ देता है या नवीन अर्थ बोधित कराने लगता है या एक ही शब्द से विभिन्न श्रोता अपनी-अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार भिन्न अर्थ ग्रहण करने लगते हैं । इससे शब्दार्थ के सम्बन्ध की नित्यता पर आंच नहीं आती है । क्योंकि ऐसा श्रोता द्वारा सम्बन्ध के ग्रहण और अग्रहण के कारण होता है । वह शब्द और अर्थ के जिस सम्बन्ध का ग्रहण करता है, वह सम्बन्ध उस शब्द से सम्बन्धित अर्थ का ही ग्रहण करवाता है ।[1] अत: शब्द अर्थ और इनका सम्बन्ध नित्य है - यह वैयाकरण -दर्शन का स्थिर सिद्धान्त है

प्रयोजन

भर्तृहरि ने व्याकरण शास्त्र द्वारा संस्कारपूर्वक शब्दज्ञान करवाने के दो प्रयोजन प्रतिपादित किये हैं - अर्थबोध तथा धर्मप्राप्ति ।

अर्थबोधकता :

शब्दों के द्वारा अर्थों का ज्ञान रूप प्रयोजन प्रख्यात ही है । परन्तु भाष्यकार[2] और वाक्यपदीयकार ने[3] यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि यह अर्थबोधकता साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों में समान है । जब अक्षिनिकोच आदि चेष्टाएं भी प्रतिपत्ता के अन्त:करण में स्फोट को अर्थबोधन हेतु उद्बुद्ध कर सकती है[4] तो ध्वन्यात्मक असाधु शब्दों द्वारा स्फोटा-

---

1· परार्थाभिधानं वृत्ति: । - व्या·म·भा·, 2·1·1

2· समानायामर्थावगता शब्देन चापशब्देन च ····। -व्या·म·भा·, आ·-1

3· अर्थप्रत्यायनाभेदे ······। - वा·प·, 1.27.

4· अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च । - व्या·म·भा·, 2·1·1

-भिव्यंजन और अर्थप्रत्यायन तो लोक सिद्ध ही है । इस सन्दर्भ में भर्तृहरि कहते हैं कि साधुशब्द के ज्ञाताओं को "गऊ" "अस्व" आदि अपभ्रंश शब्द सुनने पर"गौ" "अश्व" आदि साधु शब्दों का स्मरण हो आता है और उससे तादात्म्य को प्राप्त होने पर वे साधुशब्द के अनुमान से अर्थ का बोध कराते हैं ।[1] परन्तु साधु शब्दों से अनभिज्ञ के लिए विपरीत होता है । उसे असाधु शब्दों से तो शक्तिग्रह होने के कारण अर्थबोध हो जाता है परन्तु साधुशब्दों से ऐसा शक्तिग्रह न होने से अर्थबोध नहीं होता । अतः ऐसे लोगों के लिए तो असाधु शब्द प्रसिद्ध हो जाते हैं और साधु शब्द अवाचक ही बन जाते हैं ।[2] अतः शब्दों के द्वारा अर्थबोध के लिए शब्द तथा अर्थ में सम्बन्ध का तथा अभिधा आदि शक्ति का ग्रहण होना आवश्यक है जो वृद्ध व्यवहार, व्याकरण, कोश आदि से होता है ।[3] ऐसा शक्तिग्रह होने पर साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्द वाचक हैं । परन्तु व्याकरण शास्त्र इस अर्थ-प्रत्यायन के लिए साधु शब्दों के ज्ञान और प्रयोग पर ही बल देता है ताकि अर्थबोध के साथ-साथ धर्मलाभ रूप दूसरा प्रयोजन भी सिद्ध हो ।[4]

धर्मजनकता

भर्तृहरि से पूर्व कात्यायन[5] तथा पतंजलि ने[6] वैयाकरणों के इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया था कि शब्द और अपशब्द से अर्थबोध तो समानरूप

---

1. ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्ति हेतवः ।
   तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥ -वा॰प॰, 1॰149
2. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।
   प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुर वाचकः । - वा॰प॰, 1॰153
3. वा॰प॰, 1॰61-62
4. साधूनां साधुभिस्तस्माद वाच्यमभ्युदयार्थिभिः । - वा॰प॰, 1॰139
5. लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः । - म॰भा॰, वार्तिक, आ॰ 1
6. वही, भाष्य

से हो जाता है परन्तु इनमें से धर्मविशेष को उत्पन्न करने की क्षमता केवल साधुशब्दों में है। अर्थ के साथ शब्द और अपशब्द दोनों के सम्बन्ध में लोक ही प्रमाण है। परन्तु व्याकरण शास्त्र धर्म नियम बताता है कि साधु शब्दों का ही शब्दसंस्कार के ज्ञान सहित प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि इनके ज्ञान और प्रयोग से धर्म की प्राप्ति होती है।[1]

भर्तृहरि ने इसके अतिरिक्त नयी बात यह बताई है कि साधुशब्द कौन से हैं तथा इनकी धर्मजनकता में हेतु क्या है। वह कहते हैं कि शिष्ट पुरुषों तथा आगम से प्राप्त शब्द साधु हैं और शेष असाधु हैं।[2] जिस प्रकार संसार में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श - इनको अपने-अपने विषयों में दृष्ट या अदृष्ट फल वाली शक्तियां नियत देखी जाती हैं और जिस प्रकार कुछ विशेष प्रकार के शब्द ही सांप आदि का विष उतारने में समर्थ होते हैं - सभी नहीं, उसी प्रकार असाधु की बजाय केवल साधुशब्दों में ही अदृष्ट (धर्म) का फल देने वाली कारण-शक्तियां नियत हैं।[3] एक:शब्द: सम्यग्ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके कामधुक् भवति" इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। साधु शब्दोंका आगम से ऋषियों तथा ऋषिकल्प शिष्टजनों से प्राप्त होना भी साधु शब्दों की धर्मजनकता में हेतु है। भर्तृहरि ने साधु शब्दों के व्याकरण शास्त्र के द्वारा ज्ञान एवं प्रयोग से उत्पन्न होने वाला यह धर्मविशेष मोक्ष प्राप्ति में साधन बताया है।[4]

---

1. शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन।
   -व्या.म.भा., आ.-1, वार्तिक तथा इसपर भाष्य
2. शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धा: साधवो धर्मसाधनम्।
   अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधव: ॥ - वा.प., 1.27
3. रूपादयो यथा दृष्टा: प्रत्यर्थं यतशक्तय:।
   शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥
   यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम्।
   साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभि: ॥ - वा.प., 1.38-139
4. (क) वा.प., 1.131 हरिवृत्ति
   (ख) द्रष्टव्य - इसी अध्याय का "मोक्ष" प्रकरण।

निष्कर्ष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आगम तथा पाणिनि, व्याडि, कात्यायन और पतंजलि की परम्परा से प्राप्त शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और प्रयोजन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सिद्धान्तों को भर्तृहरि और उनके व्याख्याकारों ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिका से विवेचित किया है । भर्तृहरि ने इन सिद्धान्तों को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की देन भले ही विनम्रतावश बताया हो परन्तु इस महान् दार्शनिक ने किसी सम्प्रदाय विशेष से जुड़कर सभी दर्शनमार्गों का ध्यान रखते हुए तथा उनके मतों को उचित स्थान देते हुए शब्द अर्थ और सम्बन्ध के तत्त्वों को जिस सूक्ष्म एवं गम्भीर दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादित करके जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही न केवल संस्कृत-व्याकरण-दर्शन के लिए अपितु समस्त विचार जगत् के लिए अद्भुत एवं अनुपम देन हैं । वस्तुत: संस्कृत व्याकरण दर्शन भर्तृहरि दर्शन ही है और भर्तृहरि दर्शन संस्कृत व्याकरण दर्शन है । यह व्याकरण दर्शन का अभी तक का चरम विकास है । भर्तृहरि से उत्तरवर्ती कौण्डभट्ट, नागेशभट्ट आदि वैयाकरणों ने तो इसी को विरोधियों के आक्षेपोंसे बचाते हुए प्रकरणबद्ध एवं विवेचित किया है ।

-:-:-:-:-:-:-:-

षष्ठ-अध्याय

उत्तर-भर्तृहरियुग : व्याख्या एवं विश्लेषणकाल

षष्ठ अध्याय

उत्तर-भर्तृहरियुग : व्याख्या एवं विश्लेषणकाल

व्याकरण-दर्शन के विकास के इतिहास में भर्तृहरि-युग को इस दर्शन के सर्वोच्च विकास का काल कहा जा सकता है। उत्तर-भर्तृहरियुग इस पाणिनीय परम्परा के दर्शन का व्याख्या और विश्लेषण का काल रहा है। वाक्यपदीय एवं इसके दर्शन के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों और उनकी व्याख्याओं का परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है, क्योंकि वे वाक्यपदीय एवं उसमें प्रतिपादित दर्शन के ही पूरक हैं। भर्तृहरि से उत्तरवर्ती अनेक दार्शनिक वैयाकरण ऐसे हुए हैं जिन्होंने इस विकास को प्राप्त व्याकरण-दर्शन का विश्लेषण किया है, इसे परीक्षित किया है, इसका सार निकालकर प्रकरणों में अपनी विशिष्ट शैली में निबद्ध किया है तथा व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों के विरुद्ध मीमांसकों, नैयायिकों आदि द्वारा किये गये आक्षेपों का खण्डन करके वैयाकरण-सम्मत पक्ष को स्थापित किया है। ऐसे दार्शनिक वैयाकरणों और उन द्वारा रचे गये व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थों में कैयट और उनका महाभाष्यप्रदीप, भट्टोजि-दीक्षित और उनका महाभाष्य पर रचा गया शब्दकौस्तुभ, कौण्डभट्ट और उनके भूषणत्रय, ग्रन्थ, नागेशभट्ट और उनके मंजूषात्रय और स्फोटवाद विशेषतया उल्लेखनीय। एवं महत्त्वपूर्ण है। सम्प्रति इनका परिचय इस अध्याय में दिया जायेगा।

यद्यपि भर्तृहरि के बाद भोजराज ने श्रृंगारप्रकाश में, आचार्य माधव ने सर्वदर्शन-संग्रह में व्याकरण-दर्शन पर जो लिखा है वह भी उल्लेखनीय है, परन्तु यह प्रयास इनका संकलनमात्र है तथा पूरे ग्रन्थ में न होकर ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रकरणों में है। रामाज्ञापाण्डेय के तो। ग्रन्थ भी पूर्ववर्ती व्याकरण-दर्शन का संकलन ही है। स्फोट या कारक आदि पर लिखने वाले वैयाकरणों के प्रयास भी एक ही विषय या लघु निबन्ध के रूप में हैं। अतः उत्तरभर्तृहरियुग के इन आचार्यों तथा इनके ग्रन्थों और योगदान का परिचय अगले "प्रकीर्ण एवं उपसंहार" के अध्याय में दिया जायेगा।

कैयट : महाभाष्यप्रदीप ﴾900-1000 ई0﴿

प्रमाणभूत वैयाकरण आचार्य कैयट ने पतंजलि के महाभाष्य पर एक प्रामाणिक व्याख्या लिखी है जिसे "प्रदीप" या "महाभाष्यप्रदीप" कहा जाता है । भर्तृहरि ﴾450 ई0﴿ की महाभाष्यदीपिका की रचना के बाद लगभग चार-पांच सौ वर्षों तक महाभाष्य पर कुछ लिखने का युग समाप्त हो गया तथा वृत्तियों का युग आ गया । इस युग में पाणिनीयाष्टक पर वामनजयादित्य, आदि की "काशिका" आदि वृत्तियां लिखी गयीं तथा उन पर जिनेन्द्रबुद्धि जैसे वैयाकरणों ने न्यास आदि टीकाएं रचीं । कातन्त्र आदि व्याकरणों पर भी वृत्तियां रचित हुईं । भर्तृहरि से लगभग चार-पांच सौ वर्षों के बाद कैयट ही ऐसे वैयाकरण हुए जिन्होंने महाभाष्य पर अपनी सशक्त लेखनी चलाकर उसके पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया । इन्होंने भर्तृहरि की महाभाष्य-दीपिका और वाक्यपदीय के आधार पर अपना प्रदीप व्याख्यान रचा है । इसके प्रारम्भिक श्लोकों में लिखा है कि महाभाष्य अत्यन्त गहरा सागर है । तथापि मैं मन्दमति भर्तृहरिकृत साररूप ग्रन्थसेतु से धीरे-धीरे चलता हुआ उसके पार पहुंच गया हूं ।[1] कैयट ने यहां भर्तृहरि के साररूप ग्रन्थ शब्द से महाभाष्य-दीपिका और वाक्यपदीय का निर्देश किया है और "पारंप्राप्तः" शब्द से यह भी सूचित किया है कि इन्होंने सम्पूर्ण महाभाष्य पर अपनी प्रदीप टीकाग्रन्थ रचा है ।

---

1. भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः ।
   छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम् ।।
   तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
   क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोऽस्मि पंगुवत् ।।
   – महाभाष्यप्रदीप के प्रारम्भिक श्लोक म

स्थान :

यद्यपि कैयट के जन्मस्थान को बताने वाला कोई स्पष्ट उल्लेख अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है, तथापि अनुश्रुति बतलाती है कि कैयट काश्मीरी विद्वान् थे । काश्मीर के मम्मट, रुद्रट, उद्भट, लोलट आदि के नामसाम्य से भी प्रतीत होता है कि जैयट के पुत्र कैयट ने भी अपने जन्म से काश्मीर को अलंकृत किया था । कैयट के पिता का नाम जैयट था यह महाभाष्यप्रदीप के प्रत्येक आह्निक के अन्त के वाक्य में कैयट ने स्वयं निर्दिष्ट किया है ।[1]

समय :

कैयट के समय के बारे में भी कोई निश्चित सूचना नहीं है । मैक्डानल ने तथा श्रीपाद कृष्णबेल्वल्कर आदि का अनुगमन करते हुए एल॰ए॰ रवि वर्मा ने कैयट का समय हेलाराज के बाद तेरहवीं शती ई0 में रखा है ।[2] परन्तु बाद के विद्वानों के निष्कर्षों से यह मत गलत सिद्ध हो चुका है । एल॰ रेनो ने इसे असंगत बताकर कैयट का समय इससे बहुत पहले कम से कम ग्यारहवीं शती ई0 मानने का परामर्श दिया है ।[3] पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने कैयट का समय 1000 ई0 के कुछ बाद ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में रखा है और सम्भावना व्यक्त की है कि वह इससे भी कुछ पूर्वकालीन हो सकते हैं ।[4] उन्होंने अन्य ग्रन्थकारों के स्मरणों की श्रृंखला देते हुए बताया है कि सर्वानन्द ने 1158 ई0 में अमरकोष की व्याख्या लिखी है । उसमें उसने मैत्रेयरक्षित के धातुप्रदीप का उल्लेख किया है । मैत्रेयरक्षित ने धर्मकीर्ति के रूपावतार की चर्चा की है और धर्मकीर्ति ने पदमंजरीकार हरदत्त का स्मरण किया है । हरदत्त ने पदमंजरी में "कैयट" के अनेक वचनों को उद्धृत किया है । यद्यपि सर्वानन्द (1158 ई0) को छोड़कर

---

1. इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे .....।
2. द्रष्टव्य - रवि वर्मा द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय तृतीय काण्ड की भूमिका पृ॰4-5 (ट्रावनकोर विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज़ नं॰ [illegible]
3. एल॰रेनो, दुर्घटवृत्ति-1, की भूमिका
4. पं0 यु0 मीमांसक, सं॰ व्या॰शा॰इति॰ भाग-1, पृ॰393-96

शेष पूर्व-पूर्ववर्ती विद्वानों का समय निश्चित नहीं है तथापि एक दूसरे के परिचय के लिए कम से कम 25 वर्षों का अन्तर माना जाए तो कैयट का समय 1000 ई0 के आस-पास ठहरता है, जबकि उक्त विद्वानों के मध्य अधिक अन्तर होने के कारण कैयट का समय 1000 ई0 से भी पूर्व जा सकता है । इस स्थिति में हेलाराज और कैयट के पौर्वापर्य का निर्णय कैयट की तिथि के निर्धारण में सहायक सिद्ध हो सकता है । हेलाराज के प्रकीर्णप्रकाश में तथा कैयट के प्रदीप में कुछ अंश समान हैं । उन्हें देखते हुए श्री कृष्णमाद वेल्वल्कर, रविवर्मा आदि ने माना है कि हेलाराज ने कैयट से उद्धरण लिए हैं और उसने कुछ ऐसे वचनों का खण्डन किया है जो कैयट के महाभाष्यप्रदीप में उपलब्ध हैं । हेलाराज का समय हमने 975 ई0 के आस-पास माना है,अत: कैयट उससे पूर्व 900 ई0 के कुछ बाद के हो सकते हैं । परन्तु के॰ए॰ अय्यर इसे कैयट के पूर्ववर्ती होने में पर्याप्त प्रमाण नहीं माना है ।[1] उन्होंने लिखा है कि यह भी उतना ही शक्य है कि कैयट ने ही हेलाराज से ग्रहण लिया हो और कैयट ही उत्तरवर्ती हो । इस दूसरी स्थिति में कैयट द्वारा प्रदीप की रचना का समय हेलाराज के प्रकीर्णप्रकाश के रचनासमय (975 ई0) के बाद 1000 ई0 के समीप स्थिर होता है । डा0 रामसुरेश त्रिपाठी[2] और डा0 कपिलदेव शास्त्री[3] ने पहले मतानुसार ही कैयट का समय 900 ई0 माना है । जिन कुछ वचनों का खण्डन हेलाराज ने किया है, यदि वे वस्तुत: कैयट के हों तो कैयट का समय हेलाराज से पहले 900 ई0 के कुछ बाद मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है ।

महत्व एवम् देन :

कैयट के महाभाष्यप्रदीप की यह विशेषता है कि इसमें महाभाष्य के आशय को स्पष्ट करने के लिए जहां प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि के ग्रन्थों को

---

1. के॰ए॰ सुब्रह्मण्य अय्यर "भर्तृहरि" का वाक्यपदीय " पृ॰42
2. डा0 रामसुरेश त्रिपाठी, सं॰व्या॰द॰, पृ॰30
3. डा॰ कपिलदेव शास्त्री, प॰ल॰मं॰की भूमिका पृ॰12

आधार बनाया गया है, वहां अपनी मौलिकता भी बनाये रखी है । अध्येताओं की संक्षेपरुचि को देखते हुए वह विस्तार में भी नहीं गए हैं । वह प्रत्येक आशय को संक्षेप में ही प्रकट करते हैं कि उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रदीप पर उद्योत जैसी लगभग पन्द्रह टीकाएं लिखी गई हैं । इतनी टीकाओं से भी प्रदीप के महत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

महाभाष्यप्रदीप का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि भर्तृहरिकृत दीपिका का अधिकांश लुप्त भाग "प्रदीप" में कैयट की शैली में सुरक्षित है, यद्यपि प्रदीप में कहीं पर भी दीपिका के पाठ को उद्धृत नहीं किया गया है । इसके विपरीत वाक्यपदीय के तीनों काण्डों के शतश: उद्धरण महाभाष्यप्रदीप में मिलते हैं । वाक्यपदीय के उलझे हुए दार्शनिक सन्दर्भों को यह संक्षेप में ही स्पष्ट कर देते हैं । पातंजलमहाभाष्य तो उनकी टीका का मुख्य विषय है ही । उसके दार्शनिक संकेतों को कैयट अपनी संक्षिप्त शैली में स्पष्ट करते चले जाते हैं । जहां यह उचित समझते हैं, वाक्यपदीय के उद्धरण प्रस्तुत कर देते हैं ।

सम्पूर्ण महाभाष्यप्रदीप के अध्ययन से सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है है कि कैयट ने महाभाष्य की दार्शनिक पंक्तियों की व्याख्या के लिए वाक्यपदीय को ही मुख्य आधार बनाया है । जहां अनेकत्र वाक्यपदीय की कारिकाएं या स्वोपज्ञवृत्ति के अंश यह उद्धृत करते हैं वहां स्थान-स्थान पर वाक्यपदीय में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर पंक्ति या पद का संक्षेप में अर्थ बताकर सूचित कर देते हैं कि अमुक सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार से वाक्यपदीय में किया है । यथा महाभाष्य के प्रारम्भ में ही "अथ शब्दानुशासनम्" के भाष्य में अथ आदि शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ बताकर कैयट अपनी ओर से और अधिक सूचना देते हैं कि यह अथ शब्द द्योतक है, अत: इसका प्रयोजन यह है कि यह शब्द अधिकार (प्रस्ताव) अर्थ को द्योतित करता है । अपने मत की पुष्टि में और अधिक सूचना देते हुए कैयट कहते हैं कि निपातों के द्योतकत्व के सिद्धान्त का निर्णय वाक्यपदीय में बताया गया है ।[1]

1· द्योतकत्वेनाथशब्दस्य प्रयोजनमित्यर्थ: । निपातानां च द्योतकत्वं वाक्यपदीये निर्णीतम् । - म·भा·प्रदीप, पस्पशाह्निक ।

इसी प्रकार "येनोच्चारितेन ....।" इस भाष्य द्वारा प्रति-पादित शब्दस्वरूप की नातिदीर्घ व्याख्या करके यह लिखते हैं कि "उस वर्ण से व्यतिरिक्त नाद (वैखरी) से अभिव्यंग्य स्फोट ही वाचक है न कि वर्ण (ध्वनि) यह सिद्धान्त वाक्यपदीय में विस्तार से व्यवस्थापित किया गया है ।[1] इस प्रकार कैयट ने प्रदीप में जहां वाक्यपदीय की शतशः कारिकाओं को उद्धृत किया है वहां स्थान-स्थान पर अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए वाक्यपदीय का नाम लिया है । अनेकत्र तो वाक्यपदीय का उल्लेख किए बिना ही व्याकरण के दार्शनिक रहस्यों का उद्घाटन वाक्यपदीय में प्रतिपादित दर्शन के आधार पर किया गया है । यथा द्रव्य को अर्थ मानने के पक्ष में पतंजलि ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (का॰वा॰-1) की व्याख्या की है कि शब्द नित्य हैं और द्रव्यरूप अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध भी नित्य है, परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि द्रव्यरूप अर्थ के अनित्य होने पर सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है । इसका समाधान कैयट ने दिया है कि योग्यता ही सम्बन्ध है । द्रव्यरूप अर्थ के अनित्य होने पर भी नित्य शब्द में अर्थप्रतिपादन की योग्यता सदा रहती है अतः योग्यतारूपसम्बन्ध भी नित्य है ।[2] यह समाधान जब हम वाक्यपदीय में खोजते हैं तो वहां लिखा पाते हैं कि जिस प्रकार इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की स्वाभाविक योग्यता है उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि शब्द उच्चरित होने पर अर्थ का बोध कराता है । यह योग्यता ही सम्बन्ध है ।[3]

---

1. तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यंग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः । - महाभाष्य प्रदीप, आ॰-1, पृ॰ 17
2. अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद् - योग्यतालक्षणत्वात् संबन्धस्य । तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वात् ।
   - म॰भा॰ प्रदीप, आ॰-1
3. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
   अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।।
   - वा॰प॰, काण्ड-3, सम्बन्धसमु॰ 29

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां तक महाभाष्य के व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या का पक्ष है, कैयट ने प्रदीप के प्रारम्भिक श्लोकों की प्रतिज्ञा के अनुसार ही वाक्यपदीय को ही मुख्य आधार बनाया है । किंच उन-उन सन्दर्भों में वाक्यपदीय की कारिकाओं द्वारा उलझी हुई अनेकों गुत्थियों को संक्षेप में ही स्पष्ट कर दिया है । हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कैयट कोई ग्रन्थकार या सिद्धान्तकार नहीं हैं बल्कि एक व्याख्याकार हैं । इन्होंने प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि की वाक्यपदीय और महाभाष्यदीपिका का आश्रय लेकर जिस संक्षिप्त सारगर्भित एवं अपने ही किस्म की विशिष्ट शैली में महाभाष्य की व्याख्या की है उसी में उनकी मौलिकता निहित है ।

कैयट की देन के प्रसंग में यह ऐतिहासिक संदर्भ भी दृष्टिविगत नहीं किया जा सकता कि पतंजलि के बाद संक्षेपरूचि और अल्पविद्यापरिग्रह वाले पण्डितों में पड़कर महाभाष्य चिरकाल तक लुप्त रहा और फिर चन्द्राचार्य आदि ने उसका संस्कार किया, भर्तृहरि ने वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका रचकर व्याकरणागम का उद्धार किया ।[1] उसी प्रकार भर्तृहरि के बाद भी महाभाष्य और उसपर लिखी गयी दीपिका भी जब धीरे-धीरे क्षीण एवं लुप्त होने लगे तो ऐसी स्थिति में कैयट ने "प्रदीप" रचकर पातंजलदर्शन तथा पाणिनीय-तन्त्र की परम्परा को पुनरूज्जीवित किया है । तब से आज तक यह परम्परा रूकने में नहीं आ रही है । यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि कैयट के बाद अब तक महाभाष्य पर लगभग पच्चीस टीकाएं लिखी जा चुकी हैं । निश्चय ही यह व्याकरण एवं इसके दर्शन को कैयट की महत्त्वपूर्ण देन है ।

---

1. वा॰प॰, 2·476-482

भट्टोजिदीक्षित : शब्दकौस्तुभ (1600-1650 ई०)

उत्तर-भर्तृहरियुग के दार्शनिक वैयाकरणों में भट्टोजि दीक्षित एक ऐसे सन्धिकाल के दार्शनिक वैयाकरण हैं, जिनके बाद नव्य वैयाकरणों का युग प्रारम्भ होता है और इन वैयाकरणों के शैली की दृष्टि से प्रेरणास्रोत भट्टोजि दीक्षित रहे हैं । भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ शब्दकौस्तुभ लिखा है जिसके कारण व्याकरण-दर्शन में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

परिचय :

भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था ।[1] भट्टोजि के छोटे भाई रंगोजि भट्ट हुए जिनके पुत्र कौण्डभट्ट ने भट्टोजि की व्याकरण-कारिकाओं के आधार पर भूषण ग्रन्थों की रचना की ।[2] बाद में भट्टोजि के पौत्र वैयाकरण हरिदीक्षित के शिष्य हुए नागेश भट्ट । भट्टोजि दीक्षित के गुरु श्रीकृष्ण पन्त थे[3]। भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं भी प्रक्रिया प्रकाशकार शेष उपाधिधारी श्रीकृष्ण को गुरु कहा है[4]। पण्डितराज जगन्नाथ भट्टोजि दीक्षित के समकालीन थे । उन्होंने अपने "प्रौढ़मनोरमाखण्डन" में भट्टोजि दीक्षित का गुरु श्रीकृष्ण (शेष श्रीकृष्ण) बताया है ।[5]

---

1. नत्वा लक्ष्मीधरं तातं सुमनोवृन्दवन्दितम् । -श०कौ०, मंगलश्लोक-3

3. ...काशीस्थस्य महाराष्ट्रज्ञातिसमुद्भूतस्य शेषोपाभिधस्य श्रीकृष्ण-पन्तस्यान्तेवासी । - मुकुन्दपन्त, शब्दकौस्तुभ की भूमिका पृ० ।

2. वै०भू०सार, मंगल श्लोक-3,4

4. तदेतत् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकाशे गुरुचरणैरुक्तम् । -श०का०पृ० 145

5. चौखम्बा सं० सीरीज़ से सं० 1991 (विक्रमी) में प्रकाशित प्रौढ़ मनोरमा भाग-3 के अन्त में मुद्रित प्रौढ़मनोरमा-खण्डन पृ० ।

समय :

डा० वेल्वाल्कर ने भट्टोजि दीक्षित का काल 1600-1650 ई० के मध्य निश्चित किया है ।[1] काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने भी भट्टोजि का काल सत्रहवीं शताब्दी (ई०) का पूर्वार्द्ध लिखा है ।[2] पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने विठ्ठल-विरचित प्रक्रियाप्रसादटीका के सं० 1536 के लिखे हस्तलेख[3] के आधार पर विठ्ठल का सम्बन्ध गुरु के रूप में शेषकृष्ण-पुत्र वीरेश्वर से जोड़ते हुए शेषकृष्ण और उनके शिष्य भट्टोजि दीक्षित का समय 1510-1570 ई० में होने की सम्भावना व्यक्त की है । परन्तु मीमांसक जी स्वयं भी इतने मात्र प्रमाण से सन्तुष्ट नहीं है ।[4] अत: भट्टोजि दीक्षित का समय 1600-1650 ई० ही मानना होगा जो वेल्वाल्कर और अभ्यंकर ने निश्चित किया है ।

रचनाएं :

भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरण पर निम्न ग्रन्थ रचे हैं -

1. शब्दकौस्तुभ
2. वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी
3. प्रौढ़मनोरमा (कौमुदी की टीका)
4. वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिकावली

इसके अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित का लिखा वेदभाष्यसार नामक ग्रन्थ भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित हुआ है तथा इनके द्वारा लिखित अमरकोष की टीका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में है ।[5]

भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी से पहले रचा था, यह इनके उत्तरकृदन्त के अन्त में लिखे इस श्लोक से सिद्ध

---

1. सं० व्या०उ०वि०, पृ० 245
2. अभ्यंकर, ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० 268
3. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन, सूचीपत्र भाग-2 पृ० 67
4. सं० व्या० शा० इति०, भाग-1 पृ० 487
5. सूचीपत्र भाग-4, खण्ड-1 बी पृ० 5075, संख्या 3411

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्•मात्रमिह दर्शितम् ।
विस्तरस्तु यथा शास्त्रं दर्शित: शब्दकौस्तुभे ।।

भट्टोजि दीक्षित की व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित रचना शब्दकौस्तुभ है । इसी ग्रन्थ की 74 कारिकाएं, जिनमें से कुछ भट्टोजि-दीक्षित द्वारा रचित हैं तथा कुछ वाक्यपदीय आदि की हैं - वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिकाओं के नाम से जानी जाती हैं, जिनके आधार पर कौण्डभट्ट ने भूषण की रचना की है । ये कारिकाएं व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की हैं । इनका परिचय आगे दिया जायेगा ।

शब्दकौस्तुभ :

भट्टोजि दीक्षित अपने वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ के कारण संस्कृत जगत् में अत्यन्त विख्यात हुए हैं । परन्तु यह कम ही विद्वान् जानते हैं कि भट्टोजि के प्रौढ़ पाण्डित्य एवं प्रतिभा का परिचय देने वाला ग्रन्थ इनका शब्दकौस्तुभ है जो महाभाष्य को आधार मानकर लिखा गया है । यह व्याकरणदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है । वस्तुत: भट्टोजि का स्वतन्त्र चिन्तन और उनकी तार्किक प्रतिभा इस ग्रन्थ में वास्तविक रूप में प्रकट हुई है । वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इन्होंने जिस उद्देश्य से रची है, उसकी दृष्टि से यह निसन्देह उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है । त्रिमुनिवचनों से लक्ष्यों (संस्कृत शब्दों) का प्रक्रियानुसारी विश्लेषण एवं संस्कार इसका प्रयोजन रहा, अत: दीक्षित इस सीमा से बाहिर जा भी नहीं सकते थे । शब्दकौस्तुभ में इन्हें व्याकरण के दार्शनिकपक्ष पर दीर्घ टिप्पणियों एवं निबन्धों के रूप में खुलकर विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है । वस्तुत: शब्दकौस्तुभ की प्रौढ़ि एवं प्रामाणिकता के कारण ही वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी जैसे नवीन शैली के प्रक्रियाग्रन्थ ने विद्वत्समुदाय में विश्वसनीयता तथा लोकप्रियता प्राप्त की है ।

शब्दकौस्तुभ सम्प्रति अष्टाध्यायी के प्रारम्भ के अढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय पर ही उपलब्ध होता है, जबकि यह सम्पूर्ण पाणिनीयाष्टक पर लिखा गया था । यह इससे सिद्ध होता है कि सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में

दीक्षित ने लिखा है कि लौकिक शब्दों के विषय में यहां सिद्धान्तकौमुदी में संक्षेप से कहा है, विस्तार यथाशास्त्र शब्दकौस्तुभ में दिखा दिया गया है ।[1] "अतो लोपः:" सूत्र [6·4·58] पर भट्टोजि दीक्षितकृत सिद्धान्तकौमुदीटीका से और उसकी व्याख्या से भी स्पष्ट है कि शब्दकौस्तुभ अष्टाध्यायी के छठे अध्याय तक अवश्य लिखा गया था ।[2]

शब्दकौस्तुभ में पातंजलमहाभाष्य की पंक्तिशः व्याख्या नहीं की है, अपितु सूत्रों पर विस्तृत विवरण देते हुए उनकी व्याख्या की गयी है । अतः पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने इस महाभाष्य की व्याख्या न मानकर अष्टाध्यायी का वृत्तिग्रन्थ बतलाया है और अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों के अध्याय में इसका परिचय दिया है ।[3] इसके विपरीत डा0 सत्यकामवर्मा ने आह्निकों की सीमा और विषयों का क्रम महाभाष्य के समान देखकर इसे वृत्तिग्रन्थ मानने में संकोच किया है तथा इसे महाभाष्य पर लिखी एक बेजोड़ टिप्पणी एवम् उसी का व्याख्याग्रन्थ प्रतिपादित किया है ।[4] वस्तुतः शब्दकौस्तुभ की यही विशेषता है जो विषयप्रतिपादन की अपनी विशिष्ट शैली के कारण यह व्याकरण-वाङ्मय में "अद्वितीय" एवं अनुपम प्रतीत होता है ।

महाभाष्य में विषयों का प्रतिपादन आर्षभाषा में पूर्वोत्तर पक्षों के सरल एवम् मनोरम संवादों में किया गया है । कैयट आदि व्याख्याकारों ने उन भाष्यवाक्यों की शब्दशः या पंक्तिशः व्याख्या की है । परन्तु भट्टोजि-दीक्षित ने आह्निकों की सीमा विषयविभाग तथा उनका क्रम महाभाष्य के अनुसार ही रखकर एक-एक विषय या सूत्र को लेकर उन पर टिप्पणियां लिखी हैं ।

1· इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्·मात्रमिह दर्शितम् ।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे ।।
– वै· सिद्धान्त-कौमुदी में उत्तरकृदन्त के अन्त में ।

2· विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः ।

3· पं0 युधिष्ठिर मीमांसक, सं·व्या·शा·इति· भाग-1, पृ·486

4· डा0 सत्यकामवर्मा, सं· व्या·उ·वि·, पृ·246

पहले दो आह्निकों पर ये टिप्पणियां विस्तार से लिखी गयी है और उन्होंने निबन्धों का रूप धारण किया है । इसी कारण भट्टोजि दीक्षित को व्याकरणदर्शन के एक-एक विषय पर खुलकर लिखने का अवसर मिला है । इन्होंने प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित महाभाष्य की मूल पंक्तियों, भर्तृहरि के त्रिपदी एवं वाक्यपदीय और कैयट तथा हरदत्त की व्याख्याओं को अपने स्वतन्त्र चिन्तन एवं तार्किक प्रतिभा की कसौटी पर कसकर विषय का विशद विवेचन किया है । तीसरे आह्निक से आगे विस्तार की बजाय संक्षेप में उसी विवरणात्मक निबन्ध की शैली में सूत्रों की व्याख्या की गयी है । उनमें भी जहां व्याकरण के दार्शनिक तत्त्व का प्रसंग आता है वहां उसके विवेचन के लिए विस्तृत टिप्पणी दे डालते है ।

शब्दकौस्तुभ की विषय विभाग एवं उसके प्रतिपादन की शैली को देखकर प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरण के दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित प्रमुख विषयों का चयन करके फिर शब्दकौस्तुभ में यथाप्रसंग उनपर प्रौढ़शैली में विशद विवेचन किया है । यथा व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन, शब्दसाधुत्व, अपशब्द-वाचकत्व, जातिव्यक्ति-वाच्यत्व आदि का निरूपण तो महाभाष्य के क्रमानुसार किया ही है परन्तु "स्थानियों में अर्थबोधकता है या आदेशों में" इस विषय का विवेचन उन्होंने प्रारम्भ में ही "गौः" शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में पूरे तीन पृष्ठों में प्रौढ़ शैली में किया है । उसी के अन्त में "वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा । तत्र चाष्टौ पक्षाः"[1] कहकर स्फोटनिरूपण की भूमिका प्रस्तुत करके चार पृष्ठों में उसका विवेचन किया है । इसी तरह एक-एक करके विषयों का प्रौढ़शैली में विस्तार से निरूपण करते हुए व्याकरण के दार्शनिकपक्ष पर प्रकाश डाला गया है । शब्दकौस्तुभ की विषय-प्रतिपादन की यह नयी विशिष्ट शैली बाद में कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट आदि के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी और महाभाष्य तथा वाक्यपदीय के आधार पर व्याकरण-दर्शन पर नये ढंग से चिन्तन की परम्परा प्रारम्भ हुई । इस प्रकार "शब्दकौस्तुभ" व्याकरणदर्शन के लिए भट्टोजिदीक्षित की विशिष्ट देन है ।

---

1. भट्टोजिदीक्षित, शब्दकौस्तुभ - पृ॰ 7

वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिकावली :

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ की रचना के बाद व्याकरणके दार्शनिक सिद्धान्तों को संक्षेप में सूत्ररूप में जानने-कण्ठस्थ करने के लिए 74 कारिकाओं के वैयाकरणसिद्धान्तकारिका नामक लघुग्रन्थ को निबद्ध किया। कुछ विद्वानों ने इसका नाम "कारिकावली" लिखा है[1] जो वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिकावली का ही संक्षिप्त नाम है। भट्टोजि-दीक्षित स्वयं इस ग्रन्थ की पहली कारिका में लिखते हैं कि पतंजलिकृत महाभाष्यसागर से मैंने मथकर "शब्दकौस्तुभ" निकाला है। उसमें निर्णीत एवं प्रतिपादित शब्द-दर्शन को ही यहां (वैयाकरणसिद्धान्तकारिका ग्रन्थ में) संक्षेप में कहा जा रहा है।[2] इस ग्रन्थ की 74 कारिकाओं में से अनेक कारिकाएं भर्तृहरि तथा अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों की हैं और शेष दीक्षित जी की रची हुई हैं। लगभग समस्त व्याकरणदर्शन को संक्षेप में समझने के लिए यह कारिकाग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। इन कारिकाओं को आधार बनाकर इनके विस्तृत व्याख्यान के रूप में कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण आदि तीन ग्रन्थों की रचना की है जो पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। वैयाकरणसिद्धान्तकारिका ग्रन्थ की ये 74 महत्त्वपूर्ण कारिकाएं इन ग्रन्थों में सुरक्षित हैं।

भट्टोजिदीक्षित की इस कारिकावली के महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कौण्डभट्ट जैसे विद्वान् ने इन्हीं कारिकाओं को मुख्य आधार बनाकर इनके व्याख्यान के रूप में तीन भूषणग्रन्थ रच डाले। वस्तुतः इन कारिकाओं का मूल्यांकन शब्दकौस्तुभ में, जहां की ये हैं तथा भूषण के साथ ही भली प्रकार किया जा सकता है।

---

1. सभापतिशर्मोपाध्याय, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा की भूमिका, पृ. 1।
2. फणिभाषित-भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
   तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते।।
   - वै. भूषणसार के प्रारम्भ में उद्धृत कारिकावली की कारिका

कौण्डभट्ट : वैयाकरणभूषण आदि (1625-75 ई0)

भर्तृहरि के बाद के युग में [illegible] नव्य-वैयाकरणों में प्रमुख दार्शनिक आचार्य हुए हैं जिन्होंने व्याकरण-दर्शन को एक नयी दिशा दी है। इन्होंने व्याकरण-दर्शन के विषयों को प्रकरणों में विभक्त करके पतंजलि और भर्तृहरि की परम्परा से प्राप्त व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों को नव्यन्याय की शैली में विवेचित किया है और विशेषतया भर्तृहरि के उपरान्त समय-समय पर नैयायिकों और मीमांसकों द्वारा वैयाकरणों के सिद्धान्तों के विरुद्ध दिए गए तर्कों का खण्डन करके वैयाकरण सम्मत मतों की [illegible] का प्रयास प्रथम बार किया है।

परिचय :

वैयाकरणभूषण आदि ग्रन्थों के रचयिता कौण्डभट्ट शब्दकौस्तुभ तथा वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी आदि के कर्ता भट्टोजिदीक्षित का भतीजा[1] और उनके छोटे भाई रंगोजिभट्ट का पुत्र था।[2] यह परिचय स्वयं कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार के मंगल श्लोक में दिया है। कौण्डभट्ट ने शेषकृष्ण के पुत्र शेष रामेश्वर अपरनाम सर्वेश्वर से नियमित रूप से विद्या का अध्ययन किया था।[3] पितृव्य भट्टोजिदीक्षित भी कौण्डभट्ट के व्याकरण आदि के गुरु थे। कौण्ड-भट्ट का सारा जीवन काशी में ही बीता था।

समय :

वेल्वाल्कर, काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर आदि विद्वानों ने भट्टोजिदीक्षित द्वारा अपने ग्रन्थों को रचने का समय 1600-1650 ई0 के मध्य माना है।[4]

---

1. (क) वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा।
   भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये ॥ - वै०भू०सार, मंगल श्लोक, प्रभा०
   (ख) इदंच सर्वपुस्तकेषु नोपलभ्यते - वही, प्रभा टीका
2. [illegible] प्रणम्य पितरं रंगोजिभट्टाभिधम्। -वही, मंगल श्लोक-3
3. अशेषफलदातारम् सर्वेश्वरं गुरुम्।
   श्रीमद्भूषणसारेण भूषये शेषभूषणम् ॥ - वै०भू०सार का अन्तिम श्लोक
4. द्र0 - इसी शोधप्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय में भट्टोजिदीक्षित का समय प्रकरण

तदनुसार उनके भतीजे कौण्डभट्ट द्वारा भट्टोजिदीक्षित की कारिकाओं के आधार पर वैयाकरणभूषण की रचने का समय इससे 20-25 वर्ष बाद अर्थात् 1625-1675 ई० के मध्य हो सकता है । वैयाकरणभूषणसार के सम्पादक गुरुप्रसाद शास्त्री ने कौण्डभट्ट का समय विक्रम सं० 1660 (ई० सन 1603 लिखा है । तदनुसार भट्टोजिदीक्षित द्वारा ग्रन्थरचना का समय 1580 ई० के लगभग है ।

रचनाएं :

कौण्डभट्ट ने भट्टोजिदीक्षितकृत वैयाकरणसिद्धान्त-कारिकावली पर विस्तृत व्याख्यान के रूप में वैयाकरणभूषण ग्रन्थ की रचना की है । कौण्डभट्ट ने उस समय की प्रथानुसार भूषणग्रन्थ के तीन संस्करण निकाले थे - वैयाकरणभूषण (बृहद्), भूषणसार और ... लघुभूषणसार । इनमें दूसरा और तीसरा ग्रन्थ क्रमशः पहले ग्रन्थ के ही संक्षिप्त और संक्षिप्ततर संस्करण हैं । इनमें से भी अपेक्षाकृत अधिक उपादेय होने के कारण वैयाकरणभूषणसार का ही अधिक प्रचार हुआ है ।

भूषण :

कौण्डभट्ट के पितृव्य एवं गुरु भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त वैयाकरणसिद्धान्तकारिका नाम का लघु संग्रहग्रन्थ लिखा जिसकी 74 कारिकाओं में से अधिकांश पूर्वाचार्यों की लिखी हैं एवम् कुछ उन्होंने स्वयं लिखी थी । ये कारिकाएं व्याकरणदर्शन के अनेक गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं परन्तु संक्षिप्त होने के कारण उन सिद्धान्तों को समझने के लिए उनकी व्याख्या अपेक्षित थी । इन्हें महत्त्वपूर्ण समझकर कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणग्रन्थ में इनकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की है ।[1] स्पष्ट है कि प्रौढ़ व्याख्यान के लिए कौण्डभट्ट ने

---

1. (क) सिद्धान्तानुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां मनो दूष्ये ।। -वै॰भू॰सा॰मंगल श्लो॰3
   (ख) प्रारिप्सितप्रतिबन्धकोपशमनाय कृतं श्रीकृष्णस्मरणरूप मंगलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नन् चिकीर्षितं प्रतिजानीते - फणिभाषितभाष्याब्धेः .... इत्यादि ।
   - वै॰भू॰सार का प्रारम्भिक प्रकरण तथा प्रभा टीका

भट्टोजिदीक्षित जैसे गुरु से महाभाष्य, वाक्यपदीय तथा शब्दकौस्तुभ आदि ग्रन्थों का गम्भीर परिशीलन किया । क्योंकि कौण्डभट्ट ने भूषणग्रन्थ दीक्षित जी के होते हुए ही लिखा था, अतः कहा जा सकता है कि इस व्याख्या में दीक्षित जी के प्रतिपाद्य व्याकरणदर्शन सिद्धान्तों की मूल भावनाएं सुरक्षित हैं । परन्तु साथ ही यह भी अवधेय है कि भूषणग्रन्थ टीकामात्र नहीं है अपितु इन कारिकाओं के व्याख्यों के माध्यम से कौण्डभट्ट ने जिस प्रौढ़ शैली में तर्कों के साथ पूर्वपक्ष के मतों का निरास करके वैयाकरण सम्मत सिद्धान्तों को स्थापित एवम् प्रतिपादित किया है, उससे यह एक स्वतन्त्र एवम् मौलिक ग्रन्थ की मान्यता रखता है । कारिका का नाममात्र अवलम्बन लेकर यह इतनी अधिक बातें कह जाते हैं कि अध्येता आश्चर्यचकित तथा मन्त्रमुग्ध सा हो जाता है । भूषण का विवरण कारिकाओं की व्याख्या न लगकर कारिकाएं ही निबन्ध के प्रारम्भ में उसकी पुष्टि में या साररूप में कहे हुए व्याकरणागम-वाक्य लगते हैं । परन्तु कारिकाओं के विस्तृत व्याख्यान की यह शैली असम्बद्ध नहीं कही जा सकती, क्योंकि महाभाष्य तथा शब्दकौस्तुभ आदि में भी ऐसी ही शैली चली आरही है जहां एक छोटे से सूत्र की व्याख्या में विस्तृत विवरण दिया गया है । वस्तुतः कारिकाओं के व्याख्यान के मिष से कौण्डभट्ट ने व्याकरणदर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है - यह हम पहले ही कह आए हैं ।

वैयाकरणभूषण ग्रन्थ को कौण्डभट्ट ने निम्न चौदह प्रकरणों में विभक्त किया है :-

1· धात्वर्थनिर्णय
2· लकारार्थनिर्णय
3· सुबर्थनिर्णय
4· नामार्थनिर्णय
5· समासशक्तिनिर्णय
6· शक्तिनिर्णय
7· नञर्थनिर्णय
8· निपातार्थनिर्णय
9· भावप्रत्ययार्थनिर्णय
10· देवताप्रत्ययार्थनिर्णय
11· अभेदकत्वनिर्णय
12· संख्याविवक्षादिनिर्णय
13· क्त्वाद्यर्थनिर्णय
14· स्फोटनिर्णय

महत्त्व :

भूषणग्रन्थ के इन चौदह प्रकरणों में कौण्डभट्ट ने धात्वर्थ से लेकर स्फोट तक के व्याकरणदर्शन के समस्त प्रमुख सिद्धान्तों को विस्तार से विवेचित किया है और साथ-साथ ग्रन्थारम्भ में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मीमांसकों और नैयायिकों के द्वारा वैयाकरणमतों में दर्शाये दोषों का खण्डन किया है ।[1] इस सम्बन्ध में कौण्डभट्ट की यह विशेषता है कि वह पहले व्याकरणदर्शन के प्रतिपाद्य विषय पर वैयाकरणों के सिद्धान्त को प्रस्तुत करके उसपर मीमांसकों और नैयायिकों के वैयाकरणसिद्धान्तविरोधी तर्कों का बलपूर्वक दृढ़ शब्दों में यथावत् उपन्यास करते हैं और फिर उनका युक्तियुक्त खण्डन करके वैयाकरणसिद्धान्त की स्थापना करते हैं । यथा पहले धात्वर्थनिर्णय को ही लें - क्रिया (तिङ्न्त) पद में धात्वंश का अर्थ क्या है और प्रत्ययांश का अर्थ कौनसा है, इसका निर्णय इस प्रकरण में किया है । वैयाकरणों के सिद्धान्त- के अनुसार धातु का अर्थ फल और व्यापार है तथा कर्ता, कर्म, संख्या और काल तिङ्प्रत्यय के अर्थ हैं ।[2] इस वैयाकरणसिद्धान्त का विशद विवेचन करके कौण्डभट्ट ने मीमांसक के उस मत को उपस्थित करके तर्कसंगत ढंग से खण्डित किया है जिसके अनुसार वे धातु का अर्थ फल और तिङ् का अर्थ संख्या तथा काल के अतिरिक्त व्यापार भी मानते हैं । उसके अनन्तर नैयायिकों का यह मत उपन्यस्त किया है कि धात्वर्थ तो फल और व्यापार है परन्तु तिङ्प्रत्यय का अर्थ कृति या यत्न तथा संख्या और काल है । कौण्डभट्ट ने उनके कृति एवम् यत्न को तिङ्र्थ मानने के मत का तथा प्रथमान्तार्थविशेष्यक शाब्दबोध मानने के पक्ष का युक्तियों से निरास किया है ।[3] इसी प्रकार वह वैयाकरणों के

---

1. गौतम-जैमिनीय - वचन - व्याख्यातृभिर्दूषितान्,
   सिद्धान्तानुपपत्तिभि: प्रकटये तेषां वचो दूष्ये ।
   - वै॰भू॰सार, श्लोक-1 का उत्तरार्द्ध
2. फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः ।
   फले प्रधानं व्यापारस्तिङ्र्थस्तु विशेषणम् ।।
   -वैयाकरणभूषण में वै॰सि॰कारिका, संख्या -2
3. वै॰भू॰सार, धात्वर्थनिर्णय

सिद्धान्तों को स्थापित करते चले जाते हैं । संस्कृत व्याकरण-दर्शन के साहित्य में सम्भवत: वैयाकरणभूषण ही ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों पर मीमांसकों और नैयायिकों के प्रहारों को पहली बार प्रौढ़ एवं तर्कयुक्त शैली से निरस्त किया गया है ।

पातंजल महाभाष्य में व्याकरण-दर्शन का प्रतिपादन प्रकरणों में सुनियोजित ढंग से नहीं हुआ है, अपितु यथासन्दर्भ ही हुआ है । वाक्यपदीय में प्रकरणों का क्रम भिन्न है । वहां शब्दार्थ-सम्बन्ध के विभिन्न तत्वों का विवेचन व्याकरणिक विश्लेषण के साथ-साथ पारमार्थिक एवं तात्विक दृष्टि से अधिक हुआ है । वैयाकरण-भूषणसार में धात्वर्थ-निर्णय, लकारार्थनिर्णय आदि प्रकरणों के रूप में पहली बार पद-पदार्थ समीक्षा प्रक्रिया के आधार पर की गयी है । यहां स्फोट को छोड़कर शेष प्रकरणों में वाक्यपदीय की तरह तत्वों का पारमार्थिक एवं तात्त्विक चिन्तन नहीं है अपितु कल्पित अन्वय-व्यतिरेक से लभ्य शब्दों (पद, प्रकृति और प्रत्ययों) तथा उनके अर्थों और शक्तिओं का विवेचन तार्किक ढंग से किया गया है, यद्यपि इसका आधार भाष्य और वाक्यपदीय है । शब्दशास्त्र की प्रक्रिया की दृष्टि से यह पद-पदार्थ विवेचन अत्यन्त उपयोगी बन पड़ा है । व्याकरण-दर्शन में यह नवीन विश्लेषण-शैली कौण्डभट्ट की देन है ।

वैयाकरण-भूषणसार के व्याख्याकार

कौण्डभट्ट के भूषण तथा नागेश के मंजूषा जैसे ग्रन्थों में विरोधियों के आक्षेपों के खण्डन के साथ वैयाकरण-सिद्धान्तों का प्रौढ़ एवं नव्यन्याय की शैली में स्थापन किया गया है । अत: व्याकरणदर्शन के सामान्य अध्येताओं द्वारा इन ग्रन्थों की पंक्तियों का अर्थ लगाना दुष्कर प्रतीत होता है । अत: व्याकरण-दर्शन के अनेक विद्वानों ने इनपर टीकाग्रन्थ रचे हैं । दर्शन के तलस्पर्शी पारम्परिक विद्वानों द्वारा मूल ग्रन्थों को उद्घाटित करने वाली व्याख्याएं भी दर्शन के विकास एवं विवेचन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं । अत: यहां भूषण-ग्रन्थों पर लिखी व्याख्याओं और उनके व्याख्याकारों का संक्षिप्त परिचय देना अपेक्षित है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैयाकरणभूषण तथा लघुभूषणसार पर कोई व्याख्या नहीं मिलती है । इसका मध्यरूप वैयाकरणभूषणसार ग्रन्थ इतना अधिक लोकप्रिय हुआ है कि इसपर संस्कृत में आठ-दस व्याख्याएं रची जा चुकी हैं जिनका परिचय काल-क्रमानुसार इस प्रकार है -

कृष्णमित्र : भूषणसार-टीका ("रत्नप्रभा" (1750 ई0)

सुल्तानपुर मण्डल के अन्तर्गत लक्ष्मणपुर के निवासी एवं पं0 रामसेवक त्रिपाठी के पुत्र और पं0 देवीदत्त शर्मा के पौत्र आचार्य "कृष्णमित्र" ने वैयाकरणभूषणसार पर "रत्नप्रभा" नाम्नी संस्कृत-व्याख्या लिखी है । इसके अतिरिक्त इन्होंने वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा पर प्रख्यात "कुंचिका" टीका, सिद्धान्तकौमुदी पर "रत्नार्णव", प्रौढ़मनोरमा पर "कल्पलता" नाम की टीकाएं तथा तिथिनिर्णय आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर के प्रमाण पर सदाशिवशास्त्री जोशी ने कृष्णमित्र द्वारा भूषणसार की व्याख्या का रचनासमय 1750 ई0 माना है ।[1]

हरिवल्लभ : दर्पण (1780 ई0)

विद्वद्वर श्री हरिवल्लभ ने कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार पर "दर्पण" नाम की टीका रची है जो सभापति शर्मोपाध्याय, पं0 गुरुप्रसादशास्त्री और सदाशिवशास्त्री जोशी द्वारा सम्पादित संस्करणों में प्रकाशित हुई है । श्री हरिवल्लभ कूर्मगिरी के मूलनिवासी और श्री वल्लभ के पुत्र थे । उत्प्रभातीय इनका उपनाम था ।[2] शिवराम दत्तात्रेय जोशी ने हरिवल्लभ

---

1. सदाशिव शास्त्री द्वारा सम्पादित वै0 भूषसार, संस्करण-1939

2. इति श्रीमत्कूर्माचलाभिजनोत्प्रभातीयोपनामकश्रीवल्लभात्मजहरिवल्लभविरचितभूषणसारदर्पणे स्फोटवादः समाप्तः ।
   — वै॰भू॰सार दर्पण के अन्त में हरिवल्लभवचन ।

द्वारा इस टीका की रचना का समय सप्रमाण 1770-90 ई0 के मध्य सिद्ध किया है ।[1] व्याकरण के अतिरिक्त न्याय और मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित हरिवल्लभ की वै0 भूषणसार की यह व्याख्या भी मूलग्रन्थ की भान्ति ही प्रौढ़ है ।

हरिरामकाले : काशिका (1797 ई0)

पण्डित हरिरामकेशव काले ने वैयाकरणभूषणसार पर "काशिका" नाम की व्याख्या लिखी है । बीसवीं शती के भूषणसार के सम्पादकों ने "दर्पण" और "परीक्षा" के अतिरिक्त इस "काशिका" टीका को भी भूषणसार की उस समय की श्रेष्ठ टीकाओं में माना है । इसके अन्त में समाप्ति समय 1854 वत्सर अंकित है । यह विक्रमाब्द ही हो सकता है और ऐसा मानना सही भी है, अतः इस व्याख्या का रचनाकाल सन् 1797 ई0 सिद्ध होता है ।[2]

भैरवमिश्र : परीक्षा (1800 ई0)

प्रयागक्षेत्र के निवासी और श्री भवदेव के पुत्र पण्डितप्रवर भैरवमिश्र ने भूषणसार पर "परीक्षा" नाम की व्याख्या लिखी है । यह भी सदाशिव शास्त्री जोशी द्वारा सन् 1939 में सम्पादित भूषणसार में प्रकाशित हुई है । व्याकरण और न्याय के धुरन्धर विद्वान् भैरवमिश्र ने इसके अतिरिक्त शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर और मनोरमाशब्दरत्न पर भी उच्चकोटि की टीकाएं लिखी हैं । भैरवमिश्र ने शब्देन्दुशेखर की चन्द्रकला टीका की समाप्ति पर टीका के समापन का समय विक्रमसम्वत 1881 माघ कृष्णपक्ष, मूल नक्षत्र, कामतिथि, रविवार, लिखा है ।[3] अतः इससे विदित होता है कि भूषणसार की परीक्षा टीका इन्होंने 1800 ई0 के लगभग लिखी है ।

---

1. एस·डी·जोशी, "कौण्डभट्ट आन द मीनिंग आफ संस्कृत वर्ब्स" के शीर्षक से हार्वर्ड यूनि0 में प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, 1960
2. वै·भू·सार, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना संस्करण -1957 की भूमिका में म·म· काशीनाथ अभ्यंकर और चिन्तामणिराय देवधर का मत ।
3. भैरवमिश्रकृत शब्देन्दुशेखर की चन्द्रकला के अन्तिम पुष्पिका श्लोक ।

मन्नुदेव §गोपालदेव§ : कान्ति §लगभग 1800 ई0§

गोपालदेव अपरनाम मन्नुदेव ने भूषणसार पर ही लघुभूषणकान्ति नाम की व्याख्या लिखी थी जो अप्रकाशित है । मन्नुदेव नागेशशिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे का शिष्य था । वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा ने मन्नुदेव और महादेव की सहायता से हेनरी टामस कोलब्रुक की आज्ञा से "धर्मशास्त्रसंग्रह" लिखा था । कोलब्रुक भारत में सन् 1793 से 1815 तक रहा था, अत: मन्नुदेव द्वारा कान्ति टीका का रचनाकाल भी इसी के मध्य होना चाहिए ।

शंकर मारूलकर : शांकरी §1816 ई0§

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में श्री शंकर शास्त्री मारूलकर ने भूषणसार पर "शांकरी" नाम की व्याख्या लिखी है, जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी मानी जाती है । इसे सन् 1957 में आनन्दाश्रम, पूना ने प्रकाशित किया है । व्याख्याकार ने ग्रन्थ के अन्त में टीका के पुष्पिका श्लोकों में शांकरी व्याख्या का रचनाकाल सम्वत् 1873 अर्थात् सन् 1816 लिखा है ।

बालकृष्ण पंचोली : प्रभा §1947 ई0§

बीसवीं शती में बालकृष्ण पंचोली ने वैयाकरणभूषणसार पर "प्रभा" नाम की व्याख्या रची है जिसे "दर्पण" के साथ तारकेश्वर शास्त्री चतुर्वेदी ने सम्पादित किया है तथा आदर्शग्रन्थमाला, बनारस के अन्तर्गत सन् 1947 में यह टीका प्रकाशित हुई है । प्रौढ़ एवं पाण्डित्यपूर्ण नव्यन्याय की शैली में लिखी यह टीका सामान्यविद्यार्थियोंके लिए दुष्कर होते हुए भी व्याकरण और दर्शन के पण्डितों के लिए "औषध" स्वरूप है ।

उक्त सभी टीकाएं संस्कृत में रची गयी हैं ।

नागेशभट्ट : वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, आदि (1708 ई0)

व्याकरणदर्शन की परम्परा में सत्रहवीं शताब्दी में नागेशभट्ट ऐसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् हुए हैं जिनका व्याकरण के व्युत्पत्तिपक्ष के साथ-साथ इसके दार्शनिकपक्ष के विकास के लिए महान् एवम् ऐतिहासिक योगदान रहा है। व्याकरण, मीमांसा, न्याय, योग, ज्योतिष, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों को इन्होंने अपने गम्भीर अध्ययन तथा प्रामाणिक और मौलिक लेखन का विषय बनाया। जहां तक व्याकरण के विषय के पाण्डित्य की बात है, इसके व्युत्पत्ति और दर्शन -दोनों पक्षों पर अठारहवीं शती के बाद तो भला किसे कहें, पर उसके पहले भी नागेशभट्ट जैसा उद्भट विद्वान् विरला ही हुआ है।

परिचय :

नागेशभट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे - यह उनकी गुरुपरम्परा, नाम तथा जनश्रुति से विदित होता है। परन्तु इनके जीवन का अधिकांश समय बनारस में ही बीता। इनकी माता का नाम सतीदेवी तथा पिता का नाम शिवभट्ट था। यह नागेश ने अपने सभी ग्रन्थों में लिखा है।[1] नागेश के बारे में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि उनके सन्तान नहीं थी, अत: उन्होंने अपने शब्देन्दुशेखर ग्रन्थ को पुत्र तथा मंजूषा को पुत्री माना था। यह नागेश ने स्वयं शब्देन्दुशेखर के अन्त में एक श्लोक में लिखा है।[2] नागेश को प्रयाग के समीपवर्ती श्रृंगवेरपुर के राजा रामसिंह से आर्थिक सहायता और संरक्षण प्राप्त होता रहा, यह इन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेकत्र लिखा है।[3] कहा जाता है कि

1· इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक - सतीगर्भज --शिवभट्टसुत-नागेशकृत····।
-स्फोटवाद के अन्त का समाप्तिवचन

2· शब्देन्दुशेखरं पुत्रंमंजूषां चैव कन्यकाम् ।
स्वमतौ सम्यग् उत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ।।- शब्देन्दुशे·का समाप्ति श्लोक

3· याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात् ।
श्रृंगवेरपुराधीशात् रामतोलब्धजीविकः ।। - ल·श·शे·का मंगल श्लोक आदि

जयपुर के राजा जयसिंह वर्मा ने 1714 ई0 में नागेश को अपने अश्वमेध यज्ञ में आमन्त्रित किया था, परन्तु इन्होंने क्षेत्र-सन्यासी होने के कारण वहाँ जाने से इनकार कर दिया था ।[1] इससे विदित होता है कि यह अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में सन्यासी बन गये थे ।

गुरु :

नागेश भट्ट ने महाभाष्य-प्रदीपोद्योत आदि में अपने इष्ट देवों के साथ अपने गुरु हरिदीक्षित को भी नमस्कार किया है ।[2] यह हरिदीक्षित शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित के पौत्र, वीरेश्वर के पुत्र तथा रामाश्रय के शिष्य थे ।[3] इन्होंने न्याय दर्शन का ज्ञान रामभट्ट नामक विद्वान् से प्राप्त किया था ।[4]

शिष्य :

महाभाष्यप्रदीपोद्योत की छाया व्याख्या तथा वैयाकरणसिद्धान्त लघुमंजूषा पर "कला" टीका के रचयिता वैद्यनाथ पायगुण्डे नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य थे । वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा को भी नागेश का शिष्य बताया गया है ।[5]

समय :

नागेश की वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा का एक हस्तलेख उज्जैन में संगृहीत है जिसका समय 1708 ई0 है । यह ग्रन्थ नागेश ने लगभग चालीस वर्ष की प्रौढ़ आयु में लिखा था, अत: नागेश का जन्म सन् 1670 ई0 से 1680 ई0 के मध्य माना गया है ।[6] किंच बालशर्मा ने हेनरी टामस कोलब्रुक की आज्ञा

---

1. पी·वी·काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग-1, पृ·453-56
2. नागेशभट्टो नागेशभाषितार्थविचक्षण: ।
   हरिदीक्षितपादाब्ज-सेवनावाप्त - सन्मति: ।। - म·भा·उद्योत, मंगलश्लोक
3. शब्दरत्न के प्रारम्भिक श्लोक
4. न्यायतन्त्रं च रामरामाद वादिरत्नोध्नरामत: । - वै·सि·ल·म·अन्तिम श्लोक
5. सं·व्या·शा· इति, भाग-1 द्वितीय संस्करण पृ·392
6. पी·के·गोडे, "स्टडीज़ इन इण्डियन लिटरेरी हिस्टरी," भाग-3, पृ·218-19

से धर्मशास्त्र के विद्वान् मन्नुदेव की सहायता से "धर्मशास्त्रसंग्रह" ग्रन्थ लिखा था । बालशर्मा की प्रौढ़ावस्था का समय 1800 ई0 के लगभग था, क्योंकि कोलब्रुक भारत में सन् 1783 से 1815 ई0 तक रहा था[1]। अतः बालशर्मा और उसके पिता वैद्यनाथ पायगुण्डे दोनों के गुरु नागेशभट्ट का समय लगभग सन् 1670 ई0 से 1750 ई0 तक बैठता है ।[2] तथा इनके द्वारा मंजूषा की रचना का समय 1700 के लगभग है, जैसा कि उक्त हस्तलेख से विदित होता है ।

रचनाएं :

विभिन्न शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित नागेशभट्ट ने व्याकरण, न्याय, मीमांसा, योग, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, स्तोत्र आदि विभिन्न विषयों पर छोटे-बड़े कुल मिलाकर एक सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं ।[3] व्याकरण विषय पर इन्होंने निम्न ग्रन्थ रचे हैं -

1· वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा
2· वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमंजूषा
3· वैयाकरण-सिद्धान्त-परमलघुमंजूषा
4· स्फोटवाद
5· बृहच्छब्देन्दुशेखर
6· लघुशब्देन्दुशेखर
7· परिभाषेन्दुशेखर
8· महाभाष्य-प्रदीपोद्योत
9· शब्दरत्न
10· शब्दकौस्तुभटीका
11· अष्टाध्यायीसूत्रपाठ
12· तिङ·न्तसंग्रह
13· धातुवृत्ति
14· वैयाकरणकारिका
15· वृत्तिवाद
16· शब्दानन्तसागरसमुच्चय
17· सुप्तिङ·न्तसागरसमुच्चय

व्याकरण के उक्त सभी ग्रन्थ प्रौढ़ एवं अत्यन्त महत्व के हैं । इनमें से पहले चार ग्रन्थ अर्थात् तीन मंजूषाएं और चौथा स्फोटवाद व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित हैं । उद्योत भी यथाप्रसंग व्याकरण-दर्शन को स्पष्ट करता है ।

1· ¤क¤ अभ्यंकर, "ए डिक्शनरी आफ सं· ग्रामर," पृ·200
¤ख¤ मीमांसक, सं·व्या·शा·इति·भाग-1, पृ·427

2· सरस्वती "जुलाई, 1914 पृ·400

3· अभ्यंकर, "ए डिक्शनरी आफ सं0 ग्रामर," पृ·200

मंजूषा ग्रन्थ :

नागेशभट्ट ने व्याकरण-दर्शन पर मंजूषा नाम के तीन विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है -

1. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा (मंजूषा)
2. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा (लघुमंजूषा)
3. वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा (परमलघुमंजूषा)

इन तीन ग्रन्थों में विवेचित शब्दार्थसम्बन्ध के विषयों का प्रकरण-क्रम इस प्रकार है -

क्रम सं.	वैसिमंजूषा	वैसिलघुमंजूषा	परमलघुमंजूषा
1.	वर्णस्फोटसामान्य-निरूपणम्	x x	x x
2.	शक्तिनिरूपणम्	वाच्यवाचकशक्तीनां निरू.	शक्तिनिरूपणम्
3.	लक्षणानिरूपणम्	लक्षणानिरूपणम्	लक्षणानिरूपणम्
4.	व्यंजनानिरूपणम्	व्यंजनानिरूपणम्	व्यंजनानिरूपणम्
5.	x	स्फोटनिरूपणम्	स्फोटनिरूपणम्
6.	x	आकांक्षादिविचार	आकांक्षादिविचार:
7.	धात्वर्थ-निपातार्थ-निर्णय:	धात्वर्थनिरूपणम् निपातार्थनिरूपणम्	धात्वर्थनिर्णय: निपातार्थनिर्णय:
8.	तिङर्थनिरूपणम्	तिङर्थनिरूपणम्	दशलकारादेशार्था:
9.	सनाद्यर्थनिरूपणम्	सनाद्यर्थनिरूपणम्	x
10.	कृदर्थनिरूपणम्	कृदर्थनिरूपणम्	x
11.	नामार्थनिरूपणम्	प्रातिपदिकार्थनिर्णय:	नामार्थ:
12.	सुबर्थनिर्णय:	सुबर्थनिर्णय:	कारकनिरूपणम्
13.	(क) समासशक्तिनिरू. (ख) क्यजाद्यर्थनिरू. (ग) तद्धितार्थनिरू.; वर्णस्फोटनिरू.	वृत्तिविचार:	समासादिवृत्त्यर्थ:

14	सखण्डपदवाक्यस्फोटनिरू• ×	×	×
15•	अखण्डपदवाक्यस्फोटनिरू•	×	×
16•	जातिस्फोटनिर्णय:	×	×

ये तीनों स्फोटविषयक प्रकरण लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा में शक्तिनिरूपण तथा स्फोटनिरूपण के प्रकरणों में निरूपित किये गये हैं ।

मंजूषा, लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा के उक्त प्रकरणक्रम में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है । परन्तु इन तीनों ग्रन्थों का अध्ययन और तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि ये तीनों ग्रन्थ भिन्न-भिन्न हैं । जिस प्रकार वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त रूप मध्य सिद्धान्तकौमुदी तथा संक्षिप्ततर रूप लघुसिद्धान्तकौमुदी है, वैसी बात भूषण ग्रन्थों में देखी जाती है । कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार और लघुभूषणसार - ये दो ग्रन्थ उनके वैयाकरणभूषण नामक बृहद् ग्रन्थ के ही संक्षिप्त और संक्षिप्ततर रूप हैं ।पर ऐसी बात नागेश के मंजूषा ग्रन्थों में नहीं है । अर्थात् नागेश के लघुमंजूषा और परमलघुमंजूषा ये दो ग्रन्थ उनके वैयाकरणसिद्धान्त मंजूषा के ही संक्षिप्त और संक्षिप्ततर संस्करण नहीं कहे जा सकते हैं, भले ही इनका प्रतिपाद्य विषय समान है, प्रकरण भी अधिकांश समान हैं तथा इनमें पहला आकार में अन्य दो की अपेक्षा बड़ा है तथा अन्य दो आकार में छोटे हैं । तथापि इन तीनों ग्रन्थों की भाषा, विषय प्रतिपादन का ढंग तथा वाक्यावली भिन्न-भिन्न हैं । कुछ तो ऐसे भी विषय हैं जो वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा में हैं परन्तु अन्य दो ग्रन्थों में उनका विवेचन नहीं मिलता है । और कुछ विषय ऐसे भी हैंजिन्हें मंजूषा की बजाय लघुमंजूषा और परमलघुमंजूषा में विस्तार के साथ निरूपित किया गया है । ग्रन्थकार ने स्वयं भी इन तीनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक और अन्तिम श्लोकों में इन्हें पृथक्-पृथक् तीन नाम दिये हैं । परमलघुमंजूषा के अधिकांश संस्करणों में आदि और अन्त में नागेश के निम्न श्लोक उपलब्ध होते हैं -

प्रारम्भ : - शिवं नत्वा नागेशेनानिन्धा परमालघु: ।
वैयाकरण सिद्धान्तमंजूषैषा विरच्यते ।।

अन्त - इति शिवभट्टसुत-सतीदेवीगर्भज-नागेशभट्टकृता
परमलघुमंजूषा समाप्ता ।

वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के चौखम्बासंस्करण 1927 ई0 के पृष्ठ-1 पर प्रारम्भ का श्लोक इस प्रकार है -

नागेशभट्टविदुषा नत्वा साम्बशिवं लघुः ।
वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं विरच्यते ।।

वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के सरस्वतीभवन पुस्तकालय बनारस के हस्तलेख संख्या 37827 के प्रारम्भ और अन्त के श्लोकों में भी ग्रन्थ का नाम "वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा" लिखा हुआ है ।[1]

कुछ विद्वान वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा और लघुमंजूषा को एक ही ग्रन्थ मानकर नागेश के मंजूषा नाम के केवल दो ग्रन्थ मानते रहे । इस भ्रान्ति का कारण यह रहा कि वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा के चौखम्बा संस्करण (1927) तथा काशी संस्कृत मुद्रणालय संस्करण (1943) में प्रारम्भिक श्लोक (उपरिउद्धृत) में ग्रन्थ का नाम वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा लिखा है, जोकि नागेशरचित होने से सही है । परन्तु इन दोनों संस्करणों के अन्त में पुष्पिकावाक्य में "....वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषाख्यः स्फोटवादः समाप्तः" यह वाक्य छपा मिलता है जो सही नहीं है । वस्तुतः पुष्पिकावाक्य में यह गलती किसी के प्रमाद से हुई लगती है । मूल वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा के अप्रकाशित पड़े रहने के कारण जो विद्वान उसके आकार एवं स्वरूप से प्रायः अपरिचित रहे, वे लघु-मंजूषा के उक्त पुष्पिकावाक्य के कारण इन दोनों ग्रन्थों (मंजूषा और लघुमंजूषा) को) एक ही ग्रन्थ समझते रहे । अब 1977 में वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा भी सम्पूर्णानन्द

---

1. क) नागेशभट्टविदुषा नत्वा साम्बसदाशिवम् ।
वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं विरच्यते ।। -हस्तलेख पतरा-1, प्रकाशित पृ. 3

ख) वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषेयं कृता मया ।
तथा श्रीभगवान् साम्बः शिवो मे प्रीयतामिति ।।
-हस्तलेख पतरा-142, प्रकाशित पृ. 303
(सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, 1977

विश्वविद्यालय बनारस से प्रकाशित हो चुकी है । अत: प्रकाशित तीनों मंजूषा ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों ग्रन्थ भिन्न-भिन्न हैं । न केवल इनमें प्रयुक्त वाक्यावली भिन्न-भिन्न है अपितु अनेकत्र प्रकरणों में भी भेद है । हम देखते हैं कि तीनों ग्रन्थों में प्रारम्भ में ही शक्ति निरूपण के प्रसंग में स्फोट पर भी चर्चा की गई है । लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा में पुन: वृत्ति प्रकरण के अन्त में स्फोट की अखण्डता आदि के विषय में विचार किया गया है और फिर इन दोनों ग्रन्थों में आगे कहीं भी स्फोट की चर्चा नहीं हुई हैं । जबकि वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा में प्रारम्भ के स्फोट-विवेचन को वर्णस्फोटसामान्यनिरूपण का नाम दिया गया है जिसकी समाप्ति आगे चलकर तद्धितार्थनिरूपण के अन्त में की गयी है । तदनन्तर सखण्डस्फोट, अखण्डस्फोट तथा जातिस्फोट का विस्तार से विवेचन करके ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है ।

परमलघुमंजूषा में वैयाकरणों के अतिरिक्त नैयायिकों के मतानुसार भी दशलकारादेशार्थ (तिङर्थ) का विवेचन किया गया है जबकि मंजूषा तथा लघुमंजूषा में केवल वैयाकरण-मतानुसार इसका वर्णन किया गया है । मंजूषा तथा लघुमंजूषा में कृदर्थ निरूपण है परन्तु परमलघुमंजूषा में यह प्रकरण नहीं है ।

तदनन्तर वै० सि० मंजूषा में विस्तार के साथ समासशक्ति, क्यजाद्यर्थ तथा तद्धितार्थ का निरूपण किया गया है । लघुमंजूषा में इसे वृत्ति-विचार का नाम दिया गया है तथा इसमें एकार्थीभाव, भेदसहित समास, क्यजाद्यन्त तद्धित, वीप्सा-वृत्ति के इन सभी भेदों पर प्रकाश डाला गया है । परन्तु परमलघुमंजूषा में इस समासादिवृत्त्यर्थ प्रकरण में केवल एकार्थीभाव तथा व्यपेक्षा- इन दो वृत्ति भेदों का ही विवेचन किया गया है । लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा यहीं पर समाप्त हो जाते हैं जबकि वै०सि०मंजूषा में यहां तक के प्रकरणों वाले भाग को वर्णस्फोटनिरूपण नाम देकर इसके बाद दूसरे भाग में विस्तार से सखण्डपदस्फोट, सखण्डवाक्यस्फोट तथा अखण्डपदस्फोट एवम् अखण्डवाक्यस्फोट का निरूपण करके तीसरे भाग में व्याकरणदर्शन के अन्तिम सिद्धान्त जातिस्फोट का विवेचन किया गया है ।

परमलघुमंजूषा के शक्ति-प्रकरण में स्फोट के आठ भेदों का उल्लेख है, परन्तु लघुमंजूषा में ऐसा नहीं है । लघुमंजूषा में लक्षणा का खण्डन पूर्वपक्ष के रूप में किया गया है । उत्तरपक्ष में लक्षणा के समर्थन का प्रयास किया गया है ।[1] जबकि परमलघुमंजूषा में तार्किकों के मत के रूप में लक्षणा के स्वरूप, भेद आदि का प्रतिपादन करके उसका खण्डन किया गया है । लघुमंजूषा में आकांक्षादि के विचार में तात्पर्य का वह स्वरूप प्रतिपादित नहीं है जो परमलघुमंजूषा में निरूपित किया गया है । परमलघुमंजूषा में धात्वर्थ निर्णय के प्रकरण में व्यापारत्व की परिष्कृत परिभाषा दी गयी है जो लघुमंजूषा में नहीं है । लघुमंजूषा में तिङ्‌र्थनिरूपण के पश्चात् सनाद्यर्थनिरूपण तथा कृदर्थनिरूपण के दो प्रकरण विवेचित किये गये हैं परन्तु परमलघुमंजूषा में ये दोनों प्रकरण नहीं हैं । परमलघुमंजूषा का समासादिवृत्त्यर्थ प्रकरण तथा सुबर्थनिर्णय लघुमंजूषा के प्रकरणों से भिन्नता लिये हुए हैं । ऐसे अन्य भी अनेक सन्दर्भ हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि परमलघुमंजूषा ग्रन्थ लघुमंजूषा का संक्षिप्त रूप नहीं है अपितु यह इससे अधिक सुव्यवस्थित एवं सुसंगत है । इस प्रकार नागेश द्वारा प्रकरणों की व्यवस्था और विषय के विवेचन-प्रकार से भी स्पष्ट होता है कि मंजूषा, लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा बृहद्, उसी का संक्षिप्त तथा संक्षिप्तर रूप नहीं हैं अपितु ये नागेश भट्ट के स्वतन्त्र प्रयास एवं कृतियां हैं ।

महाभाष्यप्रदीपोद्योत :

नागेशभट्ट का पातंजल महाभाष्य पर तथा उसकी कैयटकृत प्रामाणिक प्रदीपटीका पर उद्योत नाम का विख्यात व्याख्याग्रन्थ है । यह ग्रन्थ इन्होंने मंजूषा की रचना के बाद लिखा है, यह उन्होंने स्वयं उद्योत में अनेक स्थलों में स्पष्ट लिखा है ।[2] जिन विषयों का प्रतिपादन वह मंजूषा में विस्तार

---

1. ननु सर्वेषां सर्वार्थवाचकत्वे लक्षणोच्छेद इति चेन्न, योगिनां सर्वार्थवाचकत्वज्ञाने सत्यप्यस्मदादीनां तदभावात् । - प॰ल॰म॰, लक्षणानिरूपण

2. शब्दार्थयोस्तादात्म्यमेव शक्तिः, स्पष्टं चेदं पातंजलभाष्ये इति मंजूषायामस्माभिः हर्यादिसंमततया व्युत्पादितम् । - नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत, पृ॰ 13

से कर चुके हैं उनका उद्योत में प्रसंग आने पर संक्षेप में उनकी व्याख्या कर देते हैं और सूचना दे देते हैं कि विस्तार से यह बात मंजूषा में कह दी गयी है। परन्तु व्याकरण के दर्शन से सम्बन्धित शतशः ऐसे भी छोटे-बड़े तत्त्व हैं जिनकी व्याख्या का प्रसंग मंजूषा में नहीं आया, परन्तु महाभाष्य तथा कैयट के प्रदीपग्रन्थ के व्याख्यान के अवसर पर प्रसंग आने पर नागेश ने उन्हें स्पष्ट एवं उद्घाटित किया है। इसी प्रकार भाष्य के आशय का खुलासा जहां कैयट ने ही कर दिया है वहां से वह बिनाकहे या संक्षेप में व्याख्या करके आगे बढ़ जाते हैं। परन्तु जहां कैयट मौन रहते हैं या अत्यन्त संक्षेप में कहकर आगे बढ़ जाते हैं वहां नागेश विस्तार से उस दर्शन पर प्रकाश डालते हैं। यथा - महाभाष्य के पहले आह्निक में "महो देवो मर्त्यान् आविवेश" के भाष्य की व्याख्या में कैयट ने केवल "शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम्"। महतेति - परेण ब्रह्मणेति," इतना भर संकेत दिया है। यहां पर नागेश "उद्योत" में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं - "महान् देवः -अन्तर्यामिरूपः शब्दो मर्त्यानाविवेश,स्वाभेदमाविष्कृतवानिति मन्त्रतात्पर्यम्। महतो देवस्य - शब्दब्रह्मणो व्याकरणज्ञाप्यतया व्याकरणज्ञस्तदाविष्ट इव भवतीति यावत्। भाष्ये - पदजातानि= परापश्यन्ती-मध्यमावैखरीरूपाणि। अत एवाग्रे निपाताश्चेति चकारः संगच्छते।" इस प्रकार नागेश ने शब्दब्रह्म से ऐक्य तथा वाक् के चातुर्विध्य को प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार कैयट ने भाष्यकार के - "यत्तर्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं, स शब्दः ?" इस वचन की अत्यन्त सार में व्याख्या की है, उसके बाद नेत्याह, "आकृतिर्नाम सा," इस वचन की व्याख्या किए बिना वह आगे बढ़ गये हैं। नागेश ने उद्योत में लगभग बीस पंक्तियों में इन दोनों वाक्यों की विस्तार से व्याख्या की है। उन्होंने सामान्य और आकृति शब्दों की व्युत्पत्ति, इनके लक्षण, सामान्य का एकत्व, नित्यत्व तथा अनेकसमवेतत्व को प्रतिपादित करते हुए "जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थ" इस गौतम-सूत्र तथा "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्" इस न्याय की संगति पर प्रकाश डाला है।

इस प्रकार नागेश का महाभाष्यप्रदीपोद्योत भाष्य या प्रदीप में आए व्याकरणदर्शन के प्रासंगिक तत्त्वों को अन्य दर्शनों के लक्षणों के साथ तुलना करते हुए स्पष्ट करता है, जो व्याकरणदर्शन के लिए एक और उपलब्धि है

स्फोटवाद :

नागेशभट्ट ने स्फोटवाद के नाम से दो ग्रन्थ लिखे हैं । पहले "स्फोटवाद" ग्रन्थ का नाम ग्रन्थकार ने "वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषाख्य स्फोटवाद" रखा है ।[1] जबकि दूसरा ग्रन्थ "स्फोटवाद" नाम से ही विख्यात है । वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा नामक स्फोटवाद ग्रन्थ आकार में लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा से बड़ा है । नागेशभट्ट ने यद्यपि इन दो लघु तथा परमलघु मंजूषाओं में भी प्रारम्भ में ही वैयाकरणसम्मत स्फोटसिद्धान्त का प्रांजल और सरल शैली में मनोरम विवेचन किया है तथापि गुरु आकार की वै0सि0 मंजूषा में सम्पूर्ण ग्रन्थ में स्फोट को मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है । इस ग्रन्थ को मुख्य तीन विभागों में विभक्त करके पहले भाग का नाम वर्णस्फोटनिरूपण रखा गया है । दूसरे भाग में सखण्ड पदवाक्यस्फोट तथा अखण्डपदवाक्यस्फोट का विवेचन करके तीसरे भाग में जातिस्फोट का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार सम्पूर्णग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यद्यपि स्फोट है, तथापि इसके सर्वाधिक विस्तृत प्रथम भाग में शक्ति, वृत्ति, धात्वर्थ, निपातार्थ, तिङर्थ, नामार्थ, सुबर्थ, समासशक्ति, तद्धितार्थ आदि अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से इसका नाम ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने केवल स्फोटवाद की बजाय "वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा नाम का स्फोटवाद" रखा है । व्याकरण-वाङ्मय में यह ग्रन्थ वै0सि0 मंजूषा के नाम से ही जाना जाता है ।

नागेशभट्ट ने केवल स्फोट विषय पर एक अन्य छोटा ग्रन्थ लिखा है जो "स्फोटवाद" नाम से ही विख्यात है । इस ग्रन्थ के अन्त के पुष्पिका-वाक्य में भी इसका नाम "स्फोटवाद" ही लिखा है ।[2]

---

1. इति श्रीवैयाकरणसिद्धान्तमंजूषाख्यः स्फोटवादः ।

 – वै. सि. म. ग्रन्थ के अन्त का पुष्पिका वाक्य ।

2. इत्युपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुत–नागेशविरचितः स्फोटवादः समाप्तः ।

 –नागेशकृत स्फोटवाद के अन्त का पुष्पिकावाक्य ।

मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी तथा वहीं के राजकीय प्राच्य हस्तलेख संग्रहालय से प्राप्त दो हस्तलेखों के आधार पर यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सन् 1946 में अड्यार लाइब्रेरी मद्रास से पहली बार छपकर प्रकाशित हुआ है । इस पर व्याकरणशिरोमणि वेंकटकृष्णमाचार्य (कृष्णसूरि) की "सुबोधिनी" व्याख्या भी प्रकाशित है तथा इन्होंने ही हस्तलेखों के आधार पर इस संस्करण का संपादन किया है । व्याख्याभाग सहित इस पुस्तक के कुल 103 पृष्ठ हैं, जिनमें से "स्फोटवाद" के मूल का परिमाण लगभग पचास पृष्ठ हैं । इसी संस्करण पर व्याख्याकार एवम् सम्पादक वे० कृष्णमाचार्य का 31 पृष्ठों का उपोद्घात है जिसमें उन्होंने बड़ी सरल एवम् प्रांजल शैली में दार्शनिक वैयाकरणों तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित शब्दस्वरूप, उसकी वाचकता, नित्यानित्यत्व, एवं स्फोटस्वरूप और उसके क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला है ।

"स्फोटवाद" में नागेशभट्ट ने आठ प्रकार के वैयाकरणसम्मत स्फोटभेदों का विवेचन किया है । नागेश ग्रन्थारम्भ में ही इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

"ननु कः स्फोटो नामेति चेत्, श्रृणु - वर्णस्फोटः, पदस्फोटः, वाक्यस्फोटः, अखण्डपदवाक्यस्फोटः, वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटा इति वैयाकरणसिद्धान्तः ।"

इन आठ स्फोटों का स्वरूप शक्तिस्वरूप आदि का विस्तार से विवेचन करते हुए नागेशभट्ट ने अन्त में अखण्डजातिस्फोट को ही वैयाकरणों के परमसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित किया है । प्राचीन वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के विवेचन में इन्होंने महाभाष्य, वाक्यपदीय, कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप, दीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ वैयाकरणकारिका और कौण्डभट्ट के भूषण ग्रन्थ से अनेक उदाहरण उद्धृत किए हैं । वैयाकरणों के स्फोटवाद के विरोध में दिये गए मीमांसकों और नैयायिकों के तर्कों का खण्डन नव्यन्याय जैसी तर्कपूर्ण प्रौढ़ शैली में नागेशभट्ट ने जिस प्रकार किया है और जैसे

युक्तिपूर्वक वैयाकरणसिद्धान्तों की सिद्धि की है वह देखते ही बनता है ।

जहां तक स्फोट को शब्दब्रह्म और जगत् का कारण आदि मानने की बात है, इस विषय में नागेश ने "स्फोटवाद" प्रबन्ध के अन्तिम पृष्ठ में अखण्डजातिस्फोट के निरूपण का उपसंहार करते हुए केवल इतना लिखा है -

"जातिप्रचाविधको धर्मविशेष: । यद्वा तत्तदुपाध्यवच्छिन्नब्रह्मसत्तैव जाति: । तदुक्तं हरिणा -

"संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा: व्यवस्थिता: ।।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय: ।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।।

§ -वा॰का॰3, जातिसमु॰ 33,34 §

इति । एवंच वाच्यं वाचकं च ब्रह्मैवेति ध्येयम् ।"[1]

इसके अतिरिक्त स्फोटरूपशब्दब्रह्म का स्वरूप, त्रयी वाणी के अतिरिक्त चौथी परा वाणी को ही स्फोटरूप- नादब्रह्म मानकर उससे सृष्टि का प्रतिपादन आदि के बारे में इस स्फोटवादग्रन्थ में अधिक कुछ भी नहीं कहा गया है, जैसा कि नागेश ने सिद्धान्तशैव से प्रभावित होकर मंजूषा में अपने विशिष्ट मत का प्रतिपादन किया है । यहां पर तो परमत का निराकरण करते हुए वैयाकरणों के परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों के अनुसार आठ प्रकार के स्फोट का जैसा विशद एवं पूर्ण विवेचन नागेशभट्ट ने किया है उससे इनका यह "स्फोटवाद" व्याकरणदर्शन के वाङ्मय में इस विषय का एक प्रामाणिक निदर्शन बन गया है ।

1॰ नागेश, स्फोटवाद अन्तिम पृष्ठ ।

कौण्डभट्ट और नागेश :

कौण्डभट्ट, भट्टोजिदीक्षित के भ्रातृपुत्र एवं उनके छोटे भाई रंगोजिभट्ट के पुत्र थे ।[1] भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित नागेशभट्ट के गुरु थे । स्पष्ट है कि सत्रहवीं शताब्दी में जन्मे इन दोनों विद्वानों में कौण्डभट्ट नागेश से निश्चय ही कुछ पूर्ववर्ती थे । पी·के·गोडे ने भी कौण्डभट्ट तथा नागेश के हस्तलेखों की तिथियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि निश्चितरूप से नागेशभट्ट कौण्डभट्ट से उत्तरवर्ती हैं ।[2] स्पष्ट है कि नागेश ने अपने मंजूषाग्रन्थ कौण्डभट्ट के भूषण-ग्रन्थों की रचना के बाद ही लिखे हैं । इन दोनों दार्शनिक वैयाकरणों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विदित होता है कि नागेश को व्याकरण-दर्शन पर मंजूषा ग्रन्थों की रचना की प्रेरणा कौण्डभट्ट के भूषण ग्रन्थों से मुख्यरूप से मिली है ।

भूषण ग्रन्थों का मंजूषा ग्रन्थों पर प्रभाव :

तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि नागेश के वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा और लघुमंजूषा पर न्यूनाधिकरूप से तथा परमलघुमंजूषा पर विशेषरूप से कौण्डभट्ट के भूषण ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है । यद्यपि नागेश-भट्ट कौण्डभट्ट से कहीं अधिक प्रतिभा तथा पाण्डित्य के धनी थे । पातंजल महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर उनका अपूर्व अधिकार था । अपने मंजूषा ग्रन्थों के विषय-प्रतिपादन के लिए उन्होंने मुख्यरूप से महाभाष्य और विशेषतया वाक्यपदीय को ही उपजीव्य बनाया है । तथापि व्याकरण-दर्शन को प्रकरणों में विभाजित करके नैयायिकों और मीमांसकों के आक्षेपों का खण्डन करते हुए वैयाकरणसम्मत पक्ष को स्थापित करने के लिए उन्होंने कौण्डभट्ट के भूषण ग्रन्थों की सरणि को अपनाया है तथा इसके लिए भूषणग्रन्थों को अपर्याप्त

1· वै·भू·सार, मंगलश्लोक-3,4

2· पी·के·गोडे स्ट· इन इ·लि·हि·भाग-3, पृष्ठ 218-19

समझकर इस विषय पर तीन मंजूषा ग्रन्थ रच डाले । तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि कौण्डभट्ट के भूषणग्रन्थों की वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा पर अत्यल्प, लघुमंजूषा पर अल्प तथा परमलघुमंजूषा पर अत्यधिक छाया परिलक्षित होती है । कुछ स्थानों पर तो परमलघुमंजूषा के वाक्य पूरी तरह पूर्ववर्ती ग्रन्थ भूषणसार से ही लिए हुए लगते हैं । यथा -

वैयाकरणभूषणसार	परमलघुमंजूषा
समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिर्निपातातिरिक्तविषया । - पृ• 377	नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिस्तु निपातातिरिक्तविषया । - पृ• 185
प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं भूतभविष्यदभिन्नत्वं वर्त्तमानत्वम् । - पृ• 146	वर्तमानकालत्वं च प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम् । - पृ• 248
परोक्षत्वं च साक्षात्कृतम् इत्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम् । - पृ• 151	परोक्षत्वं च साक्षात्कृतम् इत्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम् । - पृ• 250
तत्वं {भविष्यत्वम्} च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्वम् । - पृ• 156	भविष्यत्वं च वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगिक्रियोपलक्षितत्वम् । - पृ• 252

नागेश की परमलघुमंजूषा का पूर्वार्ध मध्य-मध्य में इसी प्रकार वैयाकरणभूषणसार से साम्य रखता है, जबकि इसके उत्तरार्ध में यह समानता और भी अधिक है । परमलघुमंजूषा का दशलकारादेशार्थनिरूपण तो वैयाकरणभूषणसार का संक्षेपमात्र लगता है , जबकि कुछ स्थानों पर पूरी पंक्तियां प्राय: भूषणसार से ही ले ली गयी लगती हैं । इसी प्रकार परमलघुमंजूषा के "नामार्थ" तथा "समासादि वृत्यर्थ" प्रकरण भी वैयाकरणभूषणसार के "नामार्थ-निर्णय" तथा "समासशक्ति-निर्णय" के संक्षेपमात्र हैं । यह अत्यन्त विचित्र बात है कि नागेश की परमलघुमंजूषा इनके अपने लघुमंजूषा तथा मंजूषा के वाक्यों तथा प्रकरणों से तो वैषम्य

रखती है, परन्तु कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार से इतनी अधिक समानता रखती है । वैयाकरणभूषणसार और परमलघुमंजूषा के इस अद्भुत साम्य को देखते हुए कुछ विद्वानों ने परमलघुमंजूषा के नागेश-कर्तृत्व पर प्रश्नचिन्ह लगाया है और सम्भावना व्यक्त की है कि यह किसी अन्य विद्वान् की रचना या संकलन हो सकती है ।[1] परन्तु ऐसा मानने में उक्त आंशिक साम्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रबल प्रमाण नहीं हैं । हमारा विचार है कि नागेश ने मंजूषा और लघुमंजूषा को स्वतन्त्र रहकर लिखा है जबकि परमलघुमंजूषा इन्होंने भूषणसार को दृष्टिगत रखते हुए रचा है । व्याकरणदर्शन का प्रतिपाद्य विषय समान होने से भी यह समानता अधिक प्रतीत होती है । किंच अपने से पूर्ववर्ती कौण्डभट्ट के ग्रन्थ को नवीन शैली में प्रकरणों में विभक्त हुआ देखकर नागेश द्वारा इस शैली का अनुकरण करना स्वाभाविक भी था । और फिर कौण्डभट्ट तथा नागेश की ग्रन्थरचना में प्रवृति का एक ही समान उद्देश्य था - नैयायिकों तथा मीमांसकों के आक्षेपों और उनके मतों का खण्डन करके वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों को स्थापित करना । इस कारण उनके प्रतिपाद्य विषय में समानता होना स्वाभाविक है ।

कौण्डभट्ट का खण्डन-और मण्डन

नागेशभट्ट व्याकरणदर्शन के मर्मज्ञ पंडित थे । महाभाष्य और वाक्यपदीय पर तो नागेश का इतना अधिकार था कि इन ग्रन्थों का प्रत्येक वचन जैसे इनकी जिह्वा पर नृत्य करता था । पाण्डित्य, अधिकार, प्रौढ़ी आदि की दृष्टि से नागेशभट्ट निश्चय ही कौण्डभट्ट से बढ़कर है । सिद्धान्तकौमुदी पर प्रौढ़-मनोरमा जैसी टीकाएं होने के बावजूद भी इन्होंने शब्देन्दुशेखर इसलिए लिखा ताकि वहां छूट गयी बातों को वह स्पष्ट कर सके तथा जहां भट्टोजि से मतभेद थे, उन्हें प्रतिपादित कर सके । लगभग यही उद्देश्य नागेश का परमलघुमंजूषा को लिखने का प्रतीत होता है । जहां वह समझते हैं कि

1. डा० कपिलदेव शास्त्री, परमलघुमंजूषा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय संस्करण की भूमिका पृ० 37

वैयाकरणभूषणसार से ही स्वाभिमतपक्ष सुदृढ़ तर्कों के साथ सिद्ध हो रहा है, वहां वह लगभग उसी शैली में बात कह देते हैं । परन्तु जहां नागेश भूषणसार से संतुष्ट नहीं होते हैं वहां निश्चय ही इनका विषय-प्रतिपादन भिन्न और उत्कृष्ट होता है । ऐसे प्रकरणों या स्थलों का इनके ग्रन्थों में बाहुल्य है। जहां वह कौण्डभट्ट से सहमत नहीं होते हैं, वहां उसका खण्डन करके स्वाभिमतपक्ष को भाष्य या वाक्यपदीय के उद्धरण के साथ पुष्ट करते हैं । उदाहरण के लिए इस प्रकार के कुछ सन्दर्भ इस प्रकार हैं -

नागेश ने सकर्मक और अकर्मक की कौण्डभट्ट द्वारा प्रतिपादित परिभाषा को दर्शा करके उसका खण्डन करते हुए पुन: अपनी परिभाषा "वस्तुतस्तु अकर्मकत्वम्···" इत्यादि शब्दों में दी है ।[1]

कौण्डभट्ट ने नैयायिकों के निपातों के वाचकत्व वाले सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए जिन आक्षेपों को प्रस्तुत किया है, नागेश ने उन्हें "केचित् शाब्दिका: ····· इत्यापत्ति:" कहकर प्रस्तुत किया है तथा "तन्न, क्व व्युत्पादनम्" आदि कहकर खण्डित किया है ।[2]

इसी प्रकार नागेश ने महाभाष्य का प्रमाण देकर कौण्डभट्ट के उस मत का खण्डन किया है जहां उन्होंने अपादान का स्वरूप प्रकट करते हुए "परस्परात् मेषावपसरत:" प्रयोग में अपसरत: में गति दो प्रकार की मानी है ।[3]

नागेश ने कौण्डभट्ट का कहीं भी मात्र खण्डन करने के उद्देश्य से खण्डन नहीं किया है, अपितु जहां आवश्यक था वहीं ऐसा किया है । अन्यथा वह कौण्डभट्ट का समर्थन करते हुए चलते हैं । वस्तुत: ऐसा स्वाभाविक भी था, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही रहा - विरोधियों के विपरीत मतों तथा आक्षेपों का खण्डन करते हुए पातंजलि महाभाष्य तथा वाक्यपदीय को मुख्य आधार

1· प·ल·म·, धात्वर्थ निर्णय

2· प·ल·म·, निपातार्थनिर्णय:

3· प·ल·म·, कारकनिरूपण

बनाकर वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों को प्रकरणानुसार स्थापित करना । इसमें ये दोनों सफल रहे हैं । नागेश का स्वतन्त्र और प्रखर पाण्डित्य तथा मौलिकता लघुमंजूषा और वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा में पदे-पदे परिलक्षित होते हैं जहां वह कौण्डभट्ट से प्रभावित नहीं है ।

शैवतन्त्र का प्रभाव :

संस्कृत व्याकरणदर्शन सर्वपार्षद रहा है । सभी शास्त्रों, दर्शनमार्गों तथा शिल्प-विद्याओं के लिए ग्राह्य और मान्य रहा है । यह किसी सम्प्रदाय-विशेष से नहीं जुड़ा है । पाणिनि, कात्यायन, भर्तृहरि, हेलाराज आदि दार्शनिक वैयाकरण व्यक्तिगतरूप से चाहे किसी भी विचारधारा के रहे हों, परन्तु उन्होंने व्याकरण की स्वतन्त्रता बनाए रखी तथा अपना स्वतन्त्र एवं विशिष्ट मार्ग प्रशस्त किया । परन्तु नागेशभट्ट, जो स्वयं शिव के अनन्य उपासक थे, शैवदर्शन से विशेषरूप से प्रभावित हुए । उन्होंने पतंजलि भर्तृहरि आदि की पूर्व परम्परा से चले आ रहे व्याकरण-दर्शन के अनेक मान्य सिद्धान्तों को अस्वीकार करके शैवतन्त्र के काश्मीरी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित शब्द, उसकी शक्ति और सृष्टि आदि के सिद्धान्तों को अपने व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थों में प्रत्यारोपित करने का प्रयास किया है, जिसके लिए विद्वानों द्वारा उनकी आलोचना हुई है । वह शैवतन्त्र से कितने अधिक प्रभावित थे, इस विषय में निम्न सन्दर्भ दर्शनीय है -

नागेशभट्ट ने व्याकरण-दर्शन की पूर्व परम्परा में मान्य परब्रह्म और शब्दब्रह्म की एकता के सिद्धान्त को नहीं माना है । उन्होंने चौथी "परा" वाणी को स्वरूप विशुद्ध शैवतन्त्र के आधार पर प्रतिपादित किया है । उन्होंने शब्दब्रह्म की उत्पत्ति का वर्णन शैवतन्त्र के मतानुसार जिस प्रकार किया है वह द्रष्टव्य है -

"प्रलय की अवस्था में, नियत काल में परिपाक स्वाभाव वाले सभी प्राणियों के कर्मों के, उपभोग द्वारा नष्ट होने पर समस्त जगत् माया में लीन हो जाता है । वह माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है । लय का अर्थ सर्वथा

नाश और अप्रतीति नहीं है, अन्यथा बाद में पुनः सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वह माया सुप्त ही रहती है ।[1] जब प्राणियों के कर्म अपरिपक्व अवस्था से परिपक्वावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब उन्हें फल प्रदान करने के लिए भगवान् की सृष्टि पैदा करने की इच्छा होती है और माया तथा पुरुष प्रादुर्भूत होते हैं । परमेश्वर की यह जगत् की सिसृक्षात्मिका माया की वृत्ति है ।[2] उससे अव्यक्त त्रिगुणात्मक (सत्वरजतमोगुणात्मक) बिन्दुरूप उत्पन्न होता है । यही शक्तितत्व है । उस बिन्दु के तीन भाग होते हैं - अचित् अंश बीज, चित्-अचित्-मिश्रित अंश नाद और चित् अंश बिन्दु । अचित् शब्द से शब्द और अर्थ - दोनों के संस्काररूप अविद्या का ग्रहण है ।[3] इस बिन्दु से वर्णादिविशेषरहित, ज्ञानप्रधान, सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेष चेतन मिश्रित शब्दब्रह्मनामक "नाद" उत्पन्न होता है । यह जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण है । इस को "रव" और "परा" आदि नामों से जाना जाता है । यही रव शब्दब्रह्म कहलाता है[4]।" इस पुष्टि में नागेश शैवतन्त्र के ग्रन्थ प्रपंचसार का श्लोक उद्धृत करते हैं -

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोभवत् ।
स एव (रवः) श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।।[5]

---

1. "प्रलये नियतकालपरिकानां सर्वप्राणिकर्मणामुपभोगेन प्रक्षयाल्लीनसर्वजगत्का माया चेतने ईश्वरे लीयते । लयश्चायमपुनः प्रादुर्भवफलको नात्यन्तिको नाशः, उत्तरसर्गानुपपत्तेः । नाऽपि सर्वथा भानम्, प्रतिभासमात्रशरीरस्य मिथ्या-वस्तुनोऽनवभासे तदभावस्यैवापत्तेः । किन्तु सुप्तेव तिष्ठति, कार्यप्रवृत्त्य-भावात् । - वै॰सि॰ल॰म॰, शक्त्याश्रयनिरूपण
2. ततो परिपक्वप्राणिकर्मभिः कालवशात् प्राप्तपरिपाकैः स्वफलप्रदानाय भगवतो-बुद्धिपूर्विका सृष्टिर्मायापुरुषौ प्रादुर्भवतः । ततः परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जायते । - वै॰सि॰ल॰म॰, शक्त्याश्रनिरूपण
3. ततो बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणं जायते । इदमेवशक्तितत्वम् । तस्य बिन्दो-रचिदंशो बीजम्, चिदचिन्मिश्रोंऽशो नादः । चिदंशो बिन्दुरिति । अचिच्छ-ब्देन शब्दार्थोभयसंस्काररूपा अविद्योच्यते । - वही
4. अस्माद् बिन्दोः शब्दब्रह्मापरनामधेयम्, वर्णादिविशेषरहितम्, ज्ञानप्रधानम्, सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपम्, चेतनमिश्रम्, नादमात्रमुत्पद्यते । ... वही
5. प्रपंचसार, तन्त्र-1.43

नागेश आगे कहते हैं कि - "यह शब्दब्रह्म सर्वव्यापक होते हुए भी प्राणियों के मूलाधारचक्र में स्थित रहता है । ज्ञात अर्थ का बोध कराने की इच्छा से अभिव्यक्त होता है । यह शब्दब्रह्म जब स्वनिष्ठ और निष्पन्द रहता है, तब इसे परावाक् कहते हैं । भर्तृहरि ने भी कहा है - अनादिनिधनम् .... इत्यादि ।[1] यह परा नामक वाक् {शब्द} पश्यन्ती आदि के क्रम से क्रमशः स्थूलता को प्राप्त होता है ।"[2]

इस प्रकार नागेश ने शब्दब्रह्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त शैवतन्त्र से लेकर इसे व्याकरणदर्शन में प्रत्यारोपित करने का प्रयास किया है, जबकि यह व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है ।

महत्त्व एवं देन :

इसके बावजूद भी उत्तरभर्तृहरियुग के वैयाकरणों में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नागेशभट्ट का संस्कृत-व्याकरण-दर्शन के संरक्षण, विकास एवं परिबृंहण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । भर्तृहरि के उत्तर युग में यह एक ऐसा सर्वतोमुखी प्रतिभा और प्रखर पाण्डित्य वाला वैयाकरण हुआ है जिसने व्याकरण के प्रक्रिया पक्ष, दर्शनपक्ष तथा परिभाषा आदि पर नव्यन्याय की शैली में प्रौढ़ अधिकारपूर्ण एवम् प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है । पाणिनीय व्याकरण, पातंजल-महाभाष्य भर्तृहरि का वाक्यपदीय, उनकी स्वोपज्ञवृत्ति, हेलाराज और पुण्यराज की टीकाएं, कैयट का प्रदीप, न्यास आदि ग्रन्थ नागेश के लिए हस्तामलक से प्रतीत होते हैं । वाक्तत्व विषयक दार्शनिक रहस्यों के नागेश मर्मज्ञ हैं । इन सब प्रामाणिकग्रन्थों की पुष्कल सामग्री के आधार पर इस महावैयाकरण ने

---

1. वा॰प॰, 1.1

2. एतत्सर्वगतमपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते । ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुंस इच्छया जातेन प्रयत्नेन योग एव मूलाधारस्थपवनसंस्कारः, तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दम् "परावाग्" इत्युच्यते । तदुक्तं हरिणा - अनादिनिधनं ब्रह्म .....इति {पूरा श्लोक}

   - वै॰सि॰ल॰म॰, शक्त्याश्रयनिरूपण

व्याकरण-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों पर मीमांसकों और नैयायिकों द्वारा किये गये आक्षेपों और प्रश्नों के लाजवाब समाधान प्रस्तुत किए हैं । भर्तृहरि के उपरान्त कुमारिलभट्ट, गोकुलनाथ, जयन्तभट्ट, जगदीश आदि मीमांसकों और नैयायिकों ने व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों को खण्डित करने में ग्रन्थ के ग्रन्थ लिख डाले थे, जिससे व्याकरण-दर्शन की प्रामाणिकता और लोकप्रियता खतरे में पड़ गयी थी । इसके फलस्वरूप व्याकरण-दर्शन के पुन: धीरे-धीरे लुप्त होने का खतरा उत्पन्न हो गया था । ऐसे अवसर पर कौण्डभट्ट और नागेश ने विरोधियों के तर्कों को एक-एक करके खण्डित करके व्याकरण-दर्शन को सुस्थापित कर दिया - यह व्याकरणदर्शन के लिए इनकी महती देन है ।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द अर्थ और सम्बन्ध के तत्वों को व्यावहारिक दृष्टि के साथ-साथ पारमार्थिक दृष्टि से भी एक दार्शनिक की हैसियत से गहन विश्लेषण किया है । वैयाकरणसिद्धान्त-मंजूषा में और लघुमंजूषा के अनेक प्रकरणों में नागेश का भी पारमार्थिक दृष्टि से उसी प्रकार का गहन और सूक्ष्म विश्लेषण परिलक्षित होता है । परन्तु यह अधिकांश व्याकरणदर्शन की सरणि से हटकर शैवतन्त्रों के दर्शन की पद्धति से हुआ है । परन्तु तीनों मंजूषाग्रन्थों में, विशेषतया लघुमंजूषा और परमलघुमंजूषा में नागेश ने वाक्यपदीय से भिन्न शैली अपनाकर प्रक्रियाग्रन्थों की शैली पर प्रकरण विभक्त करके पद और पदार्थों का बेजोड़ विश्लेषण किया है जो पाणिनीय शब्दानुशासन, पातंजल महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय के सुदृढ़ आधार पर किया गया नवीन व्यावहारिक और युगानुरूप प्रयास है । इस वैयाकरण ने अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के व्याकरणदर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों को अपनी प्रतिभा एवं प्रखर तर्कों की कसौटी पर कसकर और परखकर ही अपनी ही किस्म की प्रौढ़ और पाण्डित्यपूर्ण गद्यशैली में प्रस्तुत किया है और साथ-साथ सर्वांग मौलिकता भी बनाए रखी है ।

भर्तृहरि के बाद अबतक सम्भवत: नागेश ही ऐसे वैयाकरण हुए हैं जिन्होंने व्याकरण-दर्शन पर अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक नवीन सूचनाएं एवं उपलब्धियां प्रस्तुत की हैं । इनसे व्याकरणदर्शन के विकास को नये आयाम मिले हैं । उदाहरणतया भर्तृहरि द्वारा दत्ते शब्दों में "पर-पश्यन्ती" का प्रतिपादन

किया है ।[1] नागेश ने इसे "परा" नाम से वाक् की चतुर्थी अवस्था का जोरदार शब्दों में बिना संकोच के प्रतिपादन किया है, तथा भर्तृहरि द्वारा छेड़े गए सृष्टि-सिद्धान्त को भी पूरी तरह, शैवदर्शन की तर्ज पर ही सही, खुले शब्दों में प्रकट किया है। नागेश ने स्फोटतत्त्वनिरूपण में भी व्यापकता लाकर इसका वाक् तथा शब्दब्रह्म के साथ तारतम्य बैठाया है । यह सब व्याकरणदर्शन के विकास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है । यह भी अवश्य है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के वैयाकरणों ने व्याकरण की व्युत्पत्ति और दर्शन के प्रतिपादन के लिए जिस नव्य-न्याय की शैली को अपनाया है, उसका पूरी तरह प्रतिष्ठापन नागेशभट्ट ने ही किया है ।

<u>मंजूषाग्रन्थों के व्याख्याकार :</u>

नागेशभट्ट की वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा पर कालिकाप्रसाद शुक्ल के"टिप्पण" के इलावा कोई भी व्याख्या अभी तक नहीं लिखी गयी है । इनके वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा पर अनेक व्याख्याएं रची गयीं हैं जो नागेश के आशय को स्पष्ट करती है । मूलग्रन्थों में प्रतिपादित व्याकरणदर्शन के रहस्यों को उजागर करने वाली ये प्रौढ़ टीकाएं भी व्याकरणदर्शन के इतिहास में गणनीय एवं उल्लेखनीय हैं, अत: इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

<u>बालम्भट्ट (बैद्यनाथ) : लघुमंजूषा-कला (1750 ई0)</u>

महावैयाकरण नागेशभट्ट की "वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा" पर "कला" और "कुंजिका" नाम की दो टीकाएं प्रख्यात हैं । ये दोनों टीकाएं नागेशभट्ट के जीवनकाल में ही या उनके कुछ ही समय बाद रची गई हैं। इनमें से "कला" टीका नागेशभट्ट के शिष्य "बैद्यनाथपायगुण्डे" ने रची है ।

1· वा·प·, 1·142 की हरिवृत्ति

यह टीका बालम्भट्ट के नाम से प्रख्यात है और इसके प्रारम्भ में इन्होंने "पायगुण्डो बैद्यनाथभट्ट: कुर्वे स्वसिद्धये" लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि बालम्भट्ट का ही दूसरा नाम बैद्यनाथभट्ट भी था । नागेशभट्ट का अन्तिम समय सन् 1750 तक माना गया है,[1] अत: उनके शिष्य बैद्यनाथ (बालम्भट्ट) की प्रौढ़ावस्था का तथा इन द्वारा लघुमंजूषा पर "कला" टीका लिखने का समय 1750-75 ई0 के मध्य होना चाहिए ।

कृष्णमित्र : लघुमंजूषा-"कुंजिका" (1750 ई0)

नागेश के वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा ग्रन्थ पर दूसरी प्रख्यात टीका "कुंजिका" कृष्णमित्राचार्य ने लिखी है जिनका परिचय भूषणसार के व्याख्याकारों के प्रसंग में दिया जा चुका है । वै0भूषणसार के संपादक श्री सदाशिव शास्त्री जोशी ने कृष्णमित्र को नागेश का समकालीन एवं उन द्वारा "कुंजिका" रचने का समय सन् 1750 के आसपास माना है ।[2] इससे प्रतीत होता है कि कृष्णमित्र ने भी लघुमंजूषा पर टीका नागेश की जीवनावस्था में ही या उसके कुछ ही समय बाद रची है ।

दुर्बलाचार्य एवं कुंजिका :

माधवशास्त्री, मदनमोहन पाठक और नित्यनन्दपन्त पर्वतीय ने सन् 1925 में लघुमंजूषा की जो टीकाद्वययुक्त पुस्तक सम्पादित की है उसके मुखपृष्ठ पर "वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा महामहोपाध्याय- श्रीनागेशभट्टविरचिता श्रीमद्दुर्बलाचार्य-बालम्भट्टाभ्यां विरचित-कुंजिका-कलाह्वटीकासम्वलिता" - ऐसा छपा है । यह जार्ज कार्डोना ने "पाणिनि" पुस्तक में सन्दर्भग्रन्थसूची में इसी प्रकार उद्धृत किया है । इसमें स्पष्ट ही कुंजिकाकर्ता "दुर्बलाचार्य" लिखा

---

1. द्रष्टव्य, इसी प्रबन्ध में नागेशभट्टप्रकरण ।

2. वै.भू.सार, सम्पादक सदाशिव शास्त्री, सं0 1939 पृ05

है, परन्तु कार्डोनामहोदय ने एक अन्य सन्दर्भ में उक्त संस्करण में समाविष्ट कुंजिका टीका का लेखक भरतमिश्र बताया है ।[1] तो क्या "वैद्यनाथ" और "बालम्भट्ट" के समान ही "दुर्बलाचार्य" और "भरतमिश्र" एक ही व्यक्ति के नाम हैं ? मीमांसक जी ने दुर्बलाचार्य को मंजूषा की कुंजिका टीका का कर्ता बताकर उसके परिचय से अनभिज्ञता प्रकट की है ।[2] उन्होंने कृष्णमिश्र के परिचय में कहीं भी कुंजिका का कर्ता नहीं लिखा है, जबकि श्री सदाशिवशास्त्री जोशी ने भरतमिश्र को अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त भूषणसारव्याख्या और मंजूषा कुंजिका का कर्ता बताया है यह पहले लिखा जा चुका है । काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने अपने "संस्कृतव्याकरण शब्दकोष §अंग्रेजी§" में "कृष्णमिश्र" के परिचय में उसे मंजूषाकुंजिका का कर्ता लिखा है और "दुर्बलाचार्य" को उसके परिचय में मंजूषा पर व्याख्या का रचयिता बताया है, वहां उसकी टीका का नाम निर्दिष्ट नहीं है । इस प्रकार- "दुर्बलाचार्य" और "भरतमिश्र" क्या एक ही कुंजिका नाम की टीका रचने वाले एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं ? या दोनों भिन्न व्यक्ति होते हुए दो विभिन्न कुंजिका नाम की अटीकाओं के रचयिता हैं - इस तथ्य को किसी ने भी स्पष्ट नहीं किया है ।

सभापति शर्मोपाध्याय : लघुमंजूषा - "रत्नप्रभा" 1963 ई0

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा पर व्याकरण न्याय और मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित सभापतिशर्मा उपाध्याय की "रत्नप्रभा" व्याख्या सर्वश्रेष्ठ टीका कही जा सकती है । इसमें इन्होंने "टिप्पणियां" भी साथ दी हैं और इस संस्करण को स्वयं सम्पादित किया है । यह व्याख्या काशी संस्कृत सीरीज़ के तहत 1963 ई0 में केवल तात्पर्यनिर्णय तक प्रकाशित हुई है । इस व्याख्या और इसके रचयिता के विषय में कहा गया है -

---

1· जार्ज कार्डोना : "पाणिनि", पृ·307

2· मीमांसक : "व्या·शा·, इति·" भाग-2, पृ·42।

शास्त्रे शाब्देऽप्रतिहतगतिन्यायशास्त्रे नदीष्णो,
मीमांसायामनुपमगतिर्वादिवृन्दे मृगेन्द्रः ।
व्याख्या मान्या विधबुधनिहर्येस्य रत्नप्रभाख्या,
मंजूषायास्स जयति गुरुः श्रीसभापत्यभिख्यः ।।[1]

सदाशिव शास्त्री : परमलघुमंजूषा -"अर्थदीपिका" 1946 ई0

आचार्य नागेश की परमलघुमंजूषा पर सदाशिव शर्मा शास्त्री द्वारा लिखी "अर्थदीपिका" टीका हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा बनारस, से प्रकाशित हुई है । इस संस्करण को स्वयं सदाशिव शर्मा ने सम्पादित और संशोधित किया है । इस टीका के साथ म.म.उपाध्याय नित्यानन्दपन्त पर्वतीय की टिपपणियां भी साथ प्रकाशित हैं ।

कालिकाप्रसाद शुक्ल : पं0 ल0मंजूषा- "ज्योत्सना" 1961 ई0

इसी ग्रन्थ पर पं0 कालिकाप्रसाद शुक्ल ने भी "ज्योत्सना" नाम की व्याख्या लिखी है जिसे बड़ोदा विश्वविद्यालय ने अनुसन्धानग्रन्थमाला के अन्तर्गत सन् 1961 में प्रकाशित किया है । इसे स्वयं व्याख्याकार ने सम्पादित किया है और प्रारम्भ में अठाईस पृष्ठों की संस्कृत भूमिका लिखी है ।

पं0 अकलदेव : प.ल.मंजूषा-"तत्त्वप्रकाशिका" 1974 ई0 (द्वि.सं.)

परमलघुमंजूषा पर पं0 अकलदेव ने संस्कृत और हिन्दी में "तत्त्वप्रकाशिका" नाम से द्विभाषी व्याख्या लिखी है और इस संस्करण को स्वयं व्याख्याकार ने सम्पादित किया है । म.म.नित्यानन्दपन्त पर्वतीय की "टिप्पणी" इसमें भी साथ सम्बद्ध की गयी है । हमें द्वितीय संस्करण की पुस्तक उपलब्ध हुई है जिस पर प्रकाशन वर्ष 1974 छपा है । इसका प्रथम संस्करण कब

---

1. पं0 कालिकाप्रसाद शुक्ल, वै0 सि0 मंजूषा (1977) की भूमिका, पृ. 15

प्रकाशित हुआ है - यह न तो द्वितीय संस्करण में कहीं सूचित किया गया है और न ही किसी अन्य स्रोत से हम जान पाये हैं ।

डा० कपिलदेव शास्त्री : प॰ल॰मंजूषा - "हिन्दी व्याख्या" 1975 ई०

इससे पूर्व प्रतिपादित की गयी सभी टीकाएं संस्कृत में रची गयी हैं । नागेशभट्ट की वैयाकरणसिद्धान्त-परमलघुमंजूषा पर डा० कपिलदेवशास्त्री ने हिन्दी में विस्तृत व्याख्या लिखी है जिसे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने सन् 1975 में प्रकाशित किया है । इस संस्करण का सम्पादन भी व्याख्याकार ने स्वयं किया है । महान् दार्शनिक वैयाकरण नागेशभट्ट द्वारा मंजूषा में प्रतिपादित व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों को हिन्दी माध्यम से जानने के इच्छुक विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए यह व्याख्या बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई है । इसमें पहले मूलपंक्तियों का सरल अनुवाद करके प्रत्येक ग्रन्थ एवं प्रतिपाद्य विषय को खण्डशः एक-एक करके प्रामाणिक दर्शनग्रन्थों की पृष्ठभूमि में आलोचनात्मक पद्धति के साथ सरल और सुगम शैली में स्पष्ट किया गया है ।

कालिकाप्रसाद शुक्ल : वैं०सि०मंजूषा-"टिप्पण" 1977 ई०

पदवाक्यप्रमाणज्ञ महावैयाकरण नागेशभट्ट द्वारा विरचित वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा {बृहन्मंजूषा} ग्रन्थ को प्रथम बार वाराणसेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, ने सन् 1977 में हस्तलेखों के आधार पर मुद्रित कर प्रकाशित किया है । डा० कालिकाप्रसाद शुक्ल ने इसका सम्पादन किया है और इसमें कहीं-कहीं विशेष स्थलों पर "टिप्पण" भी लिखे हैं । कुछ स्थानों पर "टिप्पण" ने निबन्ध का रूप लिया है । यथा-वृत्तिविचार के अन्त में इन्होंने पूरे सात पृष्ठों में "टिप्पण" लिखा है । आश्चर्य है कि सम्पादक के इन थोड़े से "टिप्पणों" के अतिरिक्त कोई भी "व्याख्या" इस ग्रन्थ पर आज तक नहीं रची गई है । यह भी आश्चर्यकर ही है कि अब तक यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अप्रकाशित ही पड़ा रहा था, जबकि लघुमंजूषा और परमलघुमंजूषा के अनेक

संस्करण विविध व्याख्याओं के साथ इस शती के चौथे दशक से ही छपकर प्रकाशित होते रहे हैं । सौभाग्यवश बृहन्मंजूषा प्रकाशित हो गई है तो अब संस्कृत-हिन्दी में इसकी पंक्तियों और विषयों को उद्घाटित करने वाली अच्छी व्याख्याओं की रचना अपेक्षित है ।

निष्कर्ष :

उत्तरभर्तृहरियुग के दार्शनिक वैयाकरणों में से श्रीवृषभ, पुण्यराज, हेलाराज आदि ने जहां भर्तृहरि के वाक्यपदीय के रहस्यों को उद्घाटित करने का उल्लेखनीय कार्य किया है, वहां कैयट, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट का इस दर्शन के संरक्षण और विकास में अपने-अपने तौर पर विशिष्ट योगदान रहा है । कैयट ने महाभाष्य पर प्रामाणिक व्याख्या लिखकर इस महाग्रन्थ को प्रामाणिक टीका देकर इसे समर्थन और संरक्षण प्रदान किया है । भट्टोजि ने महाभाष्य के आधार पर अष्टाध्यायी के सूत्रों पर प्रकरणबद्ध व्याख्यान किया है तथा 74 कारिकाओं का संग्रह निबद्ध करके व्याकरणदर्शन को साररूप में प्रस्तुत किया है । कौण्डभट्ट तथा नागेशभट्ट ने व्याकरणदर्शन पर किये गये विरोधियों के प्रहारों को निरस्त करके अपने-अपने प्रकरणबद्ध ग्रन्थों के द्वारा पद-पदार्थ को नवीन तर्कान्वित नव्य-न्याय की शैली में प्रतिपादित किया है तथा सम्पूर्ण व्याकरणदर्शन को विरोधियों के आक्षेपों की बौछार से लुप्त होने से बचाया है । नागेश ने व्याकरणदर्शन के विकास को अपनी नवीन उपलब्धियों से नया आयाम दिया है । इस प्रकार भर्तृहरि युग में विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा व्याकरणदर्शन उत्तरभर्तृहरियुग में नये रूप में सुव्यवस्थित तथा सुरक्षित स्थिति को प्राप्त हुआ है । भूषण और मंजूषा ग्रन्थों के आशयों को स्पष्ट करने में इनके व्याख्याकारों का योगदान भी उल्लेखनीय रहा है ।

-:-:-:-:-:-:-:-:-

सप्तम-अध्याय

प्रकीर्ण तथा उपसंहार

सप्तम अध्याय

प्रकीर्ण तथा उपसंहार

पूर्ववर्ती अध्यायों में व्याकरणदर्शन के स्वरूप और प्रतिपाद्य पर विचार करने तथा इस दर्शन के उद्भव पर प्रकाश डालने के बाद क्रमशः दार्शनिक वैयाकरणों की व्याकरणदर्शन विषयक रचनाओं, उनके महत्त्व तथा व्याकरणदर्शन के विकास में रहे उनके ऐतिहासिक योगदान को निरूपित किया गया । इनमें स्फोटायन, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि, श्रीवृषभदेव, पुण्यराज, हेलाराज, कैयट, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, तथा नागेशभट्ट और इनके ग्रन्थ मुख्यरूप से विवेचना का विषय बने । इनके अतिरिक्त कुछ और ऐसे वैयाकरण एवं दार्शनिक अवशिष्ट हैं जिनका व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों को निबद्ध करके इसे परिपुष्ट एवं प्रख्यात करने में उल्लेखनीय योगदान रहा है । उनमें मण्डनमिश्र और उनकी स्फोटसिद्धि, भोजदेव और उनका श्रृंगार-प्रकाश, पुरुषोत्तमदेव और उनका कारकचक्र, सायणमाधव और उनका पाणिनि-दर्शनम्, शेषश्रीकृष्ण और उनका स्फोटतत्त्वनिरूपण, जगदीशभट्टाचार्य तथा उनकी शब्दशक्तिप्रकाशिका, परमेश्वर की स्फोटसिद्धि गोपालिका, भरतमिश्र और उनकी स्फोटसिद्धि, श्रीकृष्णभट्ट और स्फोटचन्द्रिका तथा वर्तमान शती के दार्शनिक वैयाकरण रामाज्ञापाण्डेय और उनके व्याकरण-दर्शन-भूमिका, पीठिका तथा प्रतिमा विशेषरूप से उल्लेखनीय है । इस अध्याय में व्याकरण-दर्शन पर लिखने वाले इन ग्रन्थकारों तथा इनकी रचनाओं का परिचय काल-क्रमानुसार दिया जाएगा ।

शैवतन्त्र के काश्मीरी विद्वानों ने शब्द और शक्ति पर तथा मीमांसा-दर्शन के कुमारिलभट्ट आदि और न्यायदर्शन के जयन्तभट्ट आदि विद्वानों ने शब्द-स्वरूप और पद-पदार्थ पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है । परन्तु इनके शब्दार्थसम्बन्ध-विषयक सिद्धान्त अपने-अपने दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुकूल तथा व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल रहे हैं । क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन केवल संस्कृत व्याकरणदर्शन के आलोचनात्मक इतिहास से सम्बन्धित है, इसलिए उक्त व्याकरणेतर दर्शनों के आचार्यों, उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का विवरण यहां देना विषय से बाहिर होगा । जगदीश भट्टाचार्य यद्यपि प्रखर तार्किक हैं, तथापि इन द्वारा प्रतिपादित अधिकांश सिद्धान्त व्याकरणदर्शन से मेल खाते हैं ।

मण्डनमिश्र : स्फोटसिद्धि (लगभग 800 ई०)

परिचय :

मण्डनमिश्र अपने समय में व्याकरणदर्शन विशेषतया मीमांसा और अद्वैतवेदान्त दर्शन के प्रख्यात पण्डित थे । वह प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट के शिष्य थे और प्रारम्भ में मीमांसादर्शन के प्रबल पक्षधर तथा प्रचारक थे । इनके पाण्डित्य के बारे में शंकरदिग्विजय में लिखा है कि अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक आदि शंकराचार्य जब मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इनके निवासस्थान "माहिष्मती" (मध्यप्रदेशस्थित वर्तमान "महेश्वर") पहुंचे तो नगरी के बाहिर ही उन्होंने एक पनिहारी से इनका घर पूछा । उत्तर में पनिहारी ने कहा कि जहां घर-आंगन के द्वार पर वृक्षों पर पिंजरों में बैठी शुकियां वेद के "स्वत: प्रमाणम्" "परत: प्रमाणम्" पर विवाद करती हुई मिलें, उसे ही मण्डनमिश्र का घर समझना ।[1] शंकरदिग्विजय आदि ग्रन्थों में लिखा है कि शंकराचार्य का इनके साथ घोर शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें इनकी विदुषी पत्नी "भारती" ने मध्यस्थता की थी । जब इसमें मण्डनमिश्र पराजित हो गए तो भारती ने स्वयं शंकर के साथ शास्त्रार्थ किया । दर्शन सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि मण्डनमिश्र ने शास्त्रार्थ में पराजित होने पर शंकराचार्य से वेदान्त की दीक्षा ली । बाद में यह अपना नाम बदलकर "सुरेश्वराचार्य" नाम से प्रसिद्ध अद्वैतवेदान्ती हुए ।

समय :

शंकरदिग्विजय के वर्णन के अनुसार मण्डनमिश्र के गुरु कुमारिलभट्ट जब प्रयाग में त्रिवेणीतट पर मरणासन्न थे तो शंकराचार्य ने उनसे भेंट की थी । तथा उनसे जीवन न त्यागने का आग्रह किया था । मण्डनमिश्र द्वारा शंकराचार्य से दीक्षा लेकर उनका शिष्य बन जाने की बात ऊपर कही जा चुकी है ।

---

1. स्वत: प्रमाणं परत:प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीड़ा तरुसन्निपाते जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम ।। -शंकरदिग्विजय ।

आचार्य शंकर का समय 788-820 ई0 माना जाता है[1] अतः मण्डनमिश्र का समय आठवीं शती के उत्तरार्ध से नवमीं शती ई0 के मध्य तक निश्चित होता है तथा इनके द्वारा स्फोटसिद्धि की रचना का समय नवमीशती का पूर्वार्द्ध ठहरता है ।

रचनाएं :

मण्डनमिश्र ने शब्दनित्यत्व पर "स्फोटसिद्धि" नामक पाण्डित्य-पूर्ण रचना लिखी है । मीमांसक होते हुए इन्होंने मीमांसादर्शन पर "भावना-विवेक" "विधिविवेक," "विभ्रमविवेक" "मीमांसानुक्रमणी" आदि ग्रन्थ लिखे हैं । बाद में वेदान्ती बनने पर इन्होंने "ब्रह्मसिद्धि" "नैष्कर्म्यसिद्धि" आदि ग्रन्थ लिखे ।

व्याकरणदर्शन की देन :

वैयाकरणों ने शब्द को नित्य माना है । इनका यह सिद्धान्त स्फोटवाद पर खड़ा है । "स्फोट" ही वैखरीध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है । वक्ता को वैखरी के बिना भी "स्फोट" से ही अर्थबोध हो जाता है । श्रोता को भी स्फोटात्मक शब्द ही अर्थबोध कराता है, वक्ता द्वारा उच्चारित वैखरीध्वनि तो केवल श्रोता के हृदय में स्थित स्फोट के उद्बोधन में निमित्त है । स्फोट भी वर्णभेद से सक्रम प्रतीत होता है । वस्तुतः वह अक्रम एवं अखण्ड है । समस्त जगत् इस स्फोटरूप शब्दब्रह्म का ही विवर्त है । परम्परा से चले आ रहे वैयाकरणों के इस सिद्धान्त का विशद विवेचन भर्तृहरि (500 ई0) ने अपने वाक्यपदीय में किया है । परन्तु उनके बाद सातवीं शताब्दी में हुए प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त पर तीखे प्रहार करके इसका खण्डन किया है और वर्णात्मक शब्द को ही अर्थबोधक और नित्य माना है । कुमारिलभट्ट ने इस विषय में अपने "श्लोकवार्तिक" ग्रन्थ के स्फोटवाद,

---

1. डा0न0कि0 देवराज, भारतीय दर्शन पृ.530 सं.1978

शब्दनित्यताधिकरण और वाक्याधिकरण में लगभग एक हजार कारिकाओं में विस्तार से चर्चा की है जो कि सम्पूर्ण ग्रन्थ का तीसरा भाग है । कुमारिल ने स्फोटवाद के खण्डन का मुख्य आधार भर्तृहरि के वाक्यपदीय को ही बनाया है । कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के अतिरिक्त तन्त्रवार्तिक में भी वर्ण, पद, वाक्य, प्रतिभा एवं स्फोट सम्बन्धी वाक्यपदीय में आए मतों की आलोचना की है । यहां तक कि भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड के प्रारम्भ में "वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना" कहकर मीमांसकों के जिन वाक्यलक्षणों को संगृहीत किया है, कुमारिल और उनके मतानुयायियों ने उनका भी वैयाकरणमत समझ कर खण्डन कर डाला । वैयाकरणों के स्फोटवाद आदि सिद्धान्तों पर इस आक्रमण को अनुचित समझकर कुमारिल के ही शिष्य मीमांसा और वेदान्त तथा व्याकरण के महान् पण्डित मण्डनमिश्र ने 37 कारिकाओं का "स्फोटसिद्धि" नाम का एक सारगर्भित लघुग्रन्थ लिखा । यद्यपि मण्डनमिश्र अन्य विषयों में भाट्टमतानुयायी थे, परन्तु शब्दतत्त्वनिरूपण के विषय में उन्होंने केवल 37 कारिकाओं में ही मीमांसकों के वर्णों की नित्यता तथा अर्थबोधकता के मत को असंगत ठहराकर वैयाकरणसम्मत स्फोट-सिद्धान्त को उचित ठहराया, वर्ण से व्यतिरिक्त स्फोट की सत्ता स्वीकार की और उसे ही अर्थबोधक माना ।

मण्डनमिश्र ने लिखा है कि कुमारिल आदि मीमांसकों ने जो स्फोटवाद का खण्डन करके वर्णवाद का समर्थन किया है वह मीमांसा के सिद्धान्त को ठीक न समझकर किया है ।[1] मीमांसादर्शन में जैमिनि लिखते हैं कि कर्म शब्द भावार्थक है, इससे क्रिया की प्रतीति होती है । वही अर्थ है ।[2] जैसे - "यजेत" में यज् धातु से भाव अर्थात् सत्ता का अर्थ बताया गया है । उस सत्ता को ही स्फोट, भाव, क्रिया आदि नाम दिए गए हैं, अतः स्फोट की सत्ता अस्वीकार करना मीमांसादर्शन की मूलभावना से भी विपरीत है । कुमारिलभट्ट ने श्रोत्र द्वारा

1· मण्डनमिश्र : स्फोटसिद्धि, पृ·21,22

2· भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ।
- मीमांसादर्शन, 2·1·1

ग्राह्य ध्वनिरूप को ही शब्द माना है । परन्तु मण्डनमिश्र ने इस लक्षण को अस्वीकार करते हुए लक्षण किया है कि अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति के कारण को शब्द कहते हैं ।[2] स्फोटरूप शब्द ही ऐसा कारण है, यह इन्होंने दृढ़ता से कहा है । मण्डनमिश्र ने "स्फोटसिद्धि" के प्रारम्भ में ही वैयाकरणों के स्फोटरूप शब्ददर्शन का "दुर्विदग्धों" द्वारा खण्डन करने पर श्रुतिसम्मत सत्यपक्ष का संक्षेप में निदर्शन करने की प्रतिज्ञा की है[3] और फिर विस्तार से आक्षेपों का उत्तर देते हुए स्फोट की सिद्धि करके अन्त में उसे अनवयव, अखण्ड, अभिन्न, सत्य एवं श्रुतिसम्मत करार दिया है ।[4] वैयाकरणसम्मत स्फोट को सिद्ध करते हुए मण्डनमिश्र ने न केवल कुमारिल आदि के आक्षेपों का ही उत्तर दिया है अपितु तत्समकालीन बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति के स्फोटविरोधी मत का भी खण्डन किया है, क्योंकि इन्होंने जिन आक्षेपवाक्यों को अपने खण्डन का विषय बनाया है उनमें से अनेक धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं । इस प्रकार "स्फोटसिद्धि" एक ऐसी घोषणा है जिसमें मण्डनमिश्र ने एक निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह सारगर्भित एवं संक्षिप्त शैली में वैयाकरणों के स्फोटवाद की सत्यता के पक्ष में अपना निर्णय दिया है ।

---

1. तस्माच्छ्रोत्रपरिच्छिन्नो यद्यर्थं गमयेन्न वा ।
   सर्वथा तस्य शब्दत्वं लोकसिद्धं न हीयते ।।
   - कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद कारिका-5
2. अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्द इष्यते ।
   - मण्डनमिश्र, स्फोटसिद्धि पृ. 3
3. दुर्विदग्धैरवक्षिप्ते दर्शने पददर्शिनाम् ।
   यथागमं यथाप्रज्ञं न्यायलेशो निदर्श्यते ।।
   -मण्डनमिश्र, स्फोटसिद्धि कारिका-2
4. निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतद् व्यादर्शि युक्त्यागमसंश्रयेण ।
   विध्वस्तभेदग्रहमेतदेव विद्या परं संप्रतिपत्त्यपेक्षा ।।
   - वही, कारिका-36

परमेश्वर : स्फोटसिद्धिगोपालिका (16वीं शती वि0)

मण्डनमिश्र की (स्फोटसिद्धि" पर दक्षिण भारत के विद्वान् ऋषिपुत्र परमेश्वर ने "स्फोटसिद्धिगोपालिका" नाम का एक उत्कृष्ट टीका ग्रन्थ लिखा है । वस्तुत: मण्डनमिश्र के मात्र 37 कारिकाओं के लघु एवं सारगर्भित ग्रन्थ को स्पष्ट करने वाली एक प्रामाणिक व्याख्या की आवश्यकता थी जिसे परमेश्वर ने पूरा किया । इस टीका ग्रन्थ के साथ मूल "स्फोटसिद्धि" एक महत्वपूर्णग्रन्थ बन गया है । परमेश्वर ने स्फोटसिद्धि की कारिकाओं की, व्याख्या के माध्यम से "स्फोटवाद के बाधक एवं साध तर्कों पर इतना अधिक विस्तार से लिख डाला है कि उन तक हुए समस्त स्फोटविषयक विचारों का आलोडन हो गया है ।

परमेश्वरकृत स्फोटसिद्धिगोपालिका का प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत हुआ है । परमेश्वर के पिता का नाम ऋषि तथा माता का नाम गोपालिका था ।[1] अपनी माता के नाम पर ही ग्रन्थकार ने स्फोट-सिद्धि की अपनी टीका का नाम भी गोपालिका रखा है । दक्षिणभारत की प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र का नाम वही रखा जाता है, जो पितामह का होता है । इस कारण दो ही नाम अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं । तदनुसार "स्फोटसिद्धि गोपालिका" ग्रन्थ के सम्पादक प्रो0 कृ0 रामनाथ शास्त्री ने छानबीन करके पत्नियों की पहचान से निष्कर्ष निकाला है कि "गौरी" के पति प्रथम ऋषि का पुत्र "परमेश्वर" न्याय कणिका का व्याख्याता है । "गोपालिका के पति द्वितीय ऋषि का पुत्र परमेश्वर स्फोटसिद्धि गोपालिका" का रचयिता है । तृतीय ऋषि का पुत्र परमेश्वर मीमांसासूत्रार्थ का संग्रहकर्ता हुआ । तदनुसार रामनाथ शास्त्री ने स्फोटसिद्धि गोपालिका के रचयिता परमेश्वर का समय सोलहवीं शती वि0 निश्चित किया है ।

---

1. स्फोटसिद्धि गोपालिका का अन्तिम पुष्पिकावाक्य

भोजदेव : श्रृंगारप्रकाश और सरस्वती-कण्ठाभरण

§ 996-1051 ई० §

ग्यारहवीं शती ई० में भारतभूमि में सत्ता और साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न एक ऐसी विभूति हुई, जिसने संस्कृत के विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ रचकर संस्कृत के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया । वह विभूति थी धाराधीश्वर महाराज भोजदेव । महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर भोजदेव ने ही इस प्रकार का प्रयास किया था जिससे संस्कृत भाषा फिर से उस समय जनसाधारण की भाषा बन गयी थी । इस क्रम में भोजदेव ने संस्कृत के अन्य विभिन्न विषयों की भान्ति व्याकरण और उसके दर्शन पर भी विशिष्ट एवम् महत्त्वपूर्ण कार्य किया है ।

परिचय :

महाराज भोजदेव अवन्ति §प्राचीन मालव§ के राजा थे और परमारवंश में जन्मे थे । इनके पिता सिन्धुल § सिन्धुराज§ थे । ताया वाक्पतिराज अपरनाम मुंज थे जो काफी समय तक मालव के नरेश रहे ।[1] भोज की माता का नाम रत्नावली था, जबकि उनके पिता सिन्धुल की माता का नाम भी रत्नावली ही था।[2] सिन्धुल की दूसरी पत्नी नागकन्या "शशिप्रभा" थी जिसके कोई सन्तान नहीं थी । वह भोजदेव की विमाता थी, माता नहीं जैसा कि डा० सत्यकाम वर्मा ने लिखा है ।[3]

समय :

मालवनरेश मुंज ने अपने भतीजे भोज को उत्तराधिकारी बनाया था । शस्त्र और शास्त्र के धनी वाक्पतिराज मुंज ने कर्णाट, लाट, केरल तथा चोल नृपों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था । सोलंकी राजा तैलप द्वितीय

1· डा० भगवतीलाल राजपुरोहित-कृत "भोजराज" पृ· 3-5

2· वही, पृ· 12

3· सं·व्या·उ·वि·पृ·380

को मुंज ने छः बार पराजित किया था, परन्तु सातवीं बार वह स्वयं पराजित हो गया । उन्हें बन्दी बनाकर सूली पर चढ़ाकर बड़ी निर्दयता से वि०सं० 1050-1054 (ई० 994-997) के मध्य मार दिया गया ।[1]

मुंज का अनुज एवं भोजदेव का पिता सिन्धुराज (सिन्धुल) जिसकी उपाधि नवसाहसांक थी, गुजरात के सोलंकी राजा चामुण्डराज से युद्ध करते हुए मारागया ।[2] महाराज मुंज राज्यभार सिन्धुल के अल्पायु पुत्र युवराज भोजदेव को सम्भालकर युद्ध के लिए निकले थे ।[3] नवसाहसांकचरित के अनुसार मुंज और भोज के मध्य उनके पिता सिन्धुराज ने भी शासन किया था ।[4] वस्तुतः मुंज ने अपना उत्तराधिकारी भोज को ही बनाया होगा, परन्तु मुंज की मृत्यु पर भोज के अल्पायु होने से तथा उसका संरक्षक होने से शासन की बागडोर मुंज के अनुज तथा भोज के पिता सिन्धुल ने सम्भाल ली होगी । परन्तु तीन-चार वर्ष बाद ही सिन्धुल के युद्ध में मारे जाने से शासनसूत्र भोज के हाथ में ही आ गया ।[5] डा० भगवतीलाल राजपुरोहित के अनुसार प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भोज ने शासन की बागडोर 999 ई० में सम्भाली थी ।[6] परन्तु अन्य इतिहासकारों का मत है कि भोजराज ई० सन् 996 से 1051 तक राज्यसिंहासन पर आसीन रहे ।[7] इनमें तीन वर्ष वे भी गिन लिये होंगे, जब भोज के पिता ने उसके अवयस्क होने से शासन चलाया होगा । भोजराज और उनके पुत्र जयसिंह के शासनकाल के विभिन्न दानपात्रों से भी भोज का राज्यकाल यही ठहरता है । यही समय भोजदेव द्वारा साहित्य रचना का भी है ।

---

1. डा० भगवतीलाल राजपुरोहित-कृत "भोजराज" पृ. 4
2. वही, पृ. 5
3. वही, पृ. 12
4. पद्मगुप्तकृत नवसाहसांकचरित
5. "भोजराज," पृ. 12
6. वही, पृ. 13
7. श्रृंगारप्रकाश भाग-1, मैसूर संस्करण 1955 की प्रस्तावना में वेंकटाचार्य द्वारा इतिहासकारों के मत का उद्धरण ।

रचनाएं :

शास्त्रों के महान् पण्डित महाराज भोजदेव ने व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, कोश-निघण्टु, योग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुशिल्प एवं संगीतशास्त्र में अनेक ग्रन्थों की रचना की है । डा० भगवतीलाल पुरोहित ने भोजदेव की रचनाओं पर किए अपने अध्ययन में इनकी अठावन रचनाओं का उल्लेख किया है जिनमें से अनेक अब अनुपलब्ध हैं । इन ग्रन्थों में से "सरस्वती-कण्ठाभरण" और "श्रृंगारप्रकाश" क्रमश: व्याकरण और साहित्य पर लिखे गए हैं और संस्कृत जगत् में अत्यन्त विख्यात हैं ।

सरस्वती कण्ठाभरण :

भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण नाम के दो ग्रन्थ रचे हैं - एक व्याकरणशास्त्र पर और दूसरा अलंकारशास्त्र पर । "सरस्वतीकण्ठाभरण" नामक व्याकरणग्रन्थ पाणिनीयाष्टाध्यायी तथा चान्द्रव्याकरण के आधार पर रचा गया भोजदेव का स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जो अष्टाध्यायी के समान ही चतुष्पादों के आठ बड़े-बड़े अध्यायों में विभक्त है । इसकी विशेषता यह है कि परिभाषापाठ गणपाठ आदि को सूत्रों में ही सन्निविष्ट कर दिया गया है । पाणिनीयाष्टक के समान ही सरस्वतीकण्ठाभरण में भी सूत्रों द्वारा शब्दों का अनुशासन ही बतलाया गया है, व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसमें नहीं मिलता ।

श्रृंगारप्रकाश :

व्याकरणदर्शन सम्बन्धी अपार सामग्री तो उनके "श्रृंगारप्रकाश" में भरी पड़ी है । भोजदेव के श्रृंगारप्रकाश में कुल 36 प्रकाश (अध्याय) हैं । प्रत्येक प्रकाश में अनेक प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण है । जब से यह ग्रन्थरत्न प्रकाश में आया है, विद्वानों ने इसे अलंकारशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण एवम् अत्यन्त उत्कृष्ट रचना ठहराया है जो अलंकारशास्त्र के अब तक प्रकाशित ग्रन्थों में आकार में सबसे बड़ा है। जैसा कि इसके नाम से ही सूचित होता है, भोजदेव ने इसमें श्रृंगार को ही वास्तविक रस माना है और शेष रसों को इसी के ही अंग या भेद

बतलाया है ।[1] परन्तु इसी ग्रन्थ में इस मुख्य प्रतिपाद्य के अतिरिक्त अलंकारशास्त्र के समस्त विषयों का अनोखी एवं मनोरम शैली में विवेचन किया गया है । यह एक नया और आश्चर्यकर तथ्य है कि श्रृंगारप्रकाश के पहले के पूरे-के-पूरे आठ प्रकाश (अध्याय) व्याकरण एवं उसके दार्शनिक पक्ष पर रचे गए हैं, जो मैसूर से प्रथम बार प्रकाशित संस्करण के प्रथम खण्ड में बिना टीका के मूलरूप में बड़े आकार के 304 पृष्ठों में प्रकाशित हैं । सरल भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ बिना टीका के चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है । श्रृंगार-प्रकाश के पहले खण्ड (आठ प्रकाशों) में व्याकरण-विश्लेषण एवं व्याकरण के लगभग समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का उदाहरण प्रत्युदाहरण सहित प्रतिपादन किया है । उदाहरण के रूप में लगातार ऐसे सैंकड़ों श्लोक उद्धृत किए गए हैं जो श्रृंगाररस के आस्वादन से पाठक की रुचि हमेशा बनाए रखते हैं । "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः" ध्वनिकार की इस उक्ति के अनुसार अन्य अलंकार-ग्रन्थों के प्रणेताओं की भान्ति भोजदेव ने भी श्रृंगारप्रकाश के प्रारम्भिक प्रकाशों में व्याकरणशास्त्र में निष्णात होने की न केवल पूरी छाप छोड़ी है बल्कि इस बहाने से "सरस्वतीकण्ठाभरण" नामक व्याकरण ग्रन्थ के लक्षणों के उदाहरण भी यहां दर्शाए हैं, व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला है और अगले प्रकाशों में प्रतिपादित किए जाने वाले अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि आदि के विवेचन के लिए भी भूमिका तैयार की है ।

भोजदेव ने श्रृंगारप्रकाश के पहले आठ प्रकाशों के नाम उनके अन्त के पुष्पिकावाक्यों के अनुसार इस प्रकार दिए हैं -

1· प्रकृत्यादिप्रकाशः
2· प्रातिपदिकादिप्रकाशः
3· प्रकृत्यादिप्रकाशः
4· क्रियाद्यर्थचतुष्टयप्रकाशः
5· उपाध्याद्यर्थचतुष्टयप्रकाशः
6· विभक्त्यर्थादिचतुष्टयप्रकाशः
7· केवलशब्दसम्बन्धशक्तिप्रकाशः
8· सापेक्षशब्द-शब्दशक्तिप्रकाशः

1· आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः ।
– श्रृंगारप्रकाश, 1·6

प्रकाशों के इन नामों से ही स्पष्ट है कि इनमें व्याकरण की व्युत्पत्ति और दर्शन - दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला गया है । ग्रन्थ के इन अध्यायों में दोनों का विवेचन कितने सरल और मनोहारी शैली में किया गया है इसके लिए भोजदेव के कुछ वाक्यांशों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा । श्रृंगारप्रकाश के प्रथम प्रकाश के प्रारम्भ में ही श्रृंगाररस की श्रेष्ठता और उसके रसास्वादन में अभिनेय से भी अधिक श्रेष्ठ काव्य को साधन बतलाकर काव्य का लक्षण बताते हैं - "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[1] इति । ततः - "येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः, यः शब्देन प्रत्याय्यते स अर्थः"[2] इस प्रकार शब्द और अर्थ की संक्षिप्त परिभाषाएं देकर प्रकृति, प्रत्यय, प्रातिपदिक, पद आदि बारह प्रकार के शब्द, क्रिया, काल, कारक, प्रातिपदिकार्थ आदि बारह प्रकार के अर्थ तथा अभिधा, विवक्षा, व्यपेक्षा आदि बारह प्रकार के सम्बन्ध बताकर व्याकरण के प्रतिपाद्य मुख्य अंगों का परिचय दिया है । उसके बाद प्रकृति का लक्षण और उसके सोदाहरण भेद-प्रभेद समझाते हुए लिखते हैं[3]-

सा (प्रकृतिः) त्रिधा - धातुरूपा, प्रत्ययरूपा, प्रातिपदिकरूपा च । तत्र धातवः षोढा - परिपठिताः, अपरिपठिताः, अपरिपठितापरिपठिताः, प्रत्ययधातवः, नामधातवः, प्रत्ययनामधातवश्चेति । तेषु परिपठिता भूवादयः, यथा -

भूयात्तेषां कुले जन्म जायन्तां तेषु सम्पदः ।
येषां स्वमिति मन्वानाः स्वीकुर्वन्ति स्वमर्थिनः ।।

कविः सृजति काव्यानि हृद्यान्यधीते सज्जनाः ।
सूते मुक्ताः पयोराशिर्वहन्ति तरुणीस्तनाः ।।

---

1. श्रृंगारप्रकाश, प्रकाश-1, पृ. 2
2. वही, पृ. 3
3. श्रृंगारप्रकाश, प्रकाश-1, पृ. 3

न रुणत्सीन्द्रियग्रामं न शृणोषि गुरोर्वचः ।
नोपार्जयसि शिरांसि कथं गृहणास्यरिश्रियः ।।

इसके बाद शेष पांच प्रकार की धातुओं का भी स्वरूप बताकर उनके प्रत्येक के उदाहरण तीन-तीन रमणीय श्लोकों में दर्शाए हैं । उसके अनन्तर भोजदेव लिखते हैं[1]-

प्रकृतिः षट्प्रकारैषा धातुरूपा निरूपिता ।
अर्थप्रत्ययरूपेति षट्प्रकारैव कथ्यते ।।

प्रत्यया हि सुप् तिङ्कृत्तद्धितधातुप्रत्ययस्त्रीप्रत्ययभेदात् षट्प्रकाराः, तदन्ता प्रकृतिरपि प्रत्ययरूपा षट्प्रकारैव भवति । सा सुप्प्रत्ययान्ता यथा अहंयुः, शुभंयुः, सायन्तनम्, चिरन्तनम्, त्वयका, मयका, आमुष्यायणः, प्राह्णेतराम्, प्रगेतराम्, पूर्वाह्णेतराम्, समांसमीना इति । तिङ्प्रत्ययान्ता यथा - पचतितराम्, गच्छतितमाम्; स्पृशतिरूपम्, जल्पतिकल्पम्, जिघ्रति-देश्यम्, पश्यतिदेशीयम्, आस्तिकः, नास्तिकः .... आदि ।

इसी शैली में भोजदेव ने शेष प्रकृति, प्रत्यय, अव्यय आदि के अनेक-अनेक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । इसी क्रम से अपने-अपने प्रसंग में आने वाले प्रकृति, प्रकृत्यर्थ, उनका सम्बन्ध, धातु, धात्वर्थ, उनका सम्बन्ध, पद, पदार्थ उनका सम्बन्ध आदि का विवेचन करते हुए वे बीच-बीच में उस-उस प्रसंग में व्युत्पत्ति एवं प्रयोग पक्ष से व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर आ जाते हैं तथा उसका भी प्राचीन दार्शनिक वैयाकरणों के वचनों की सहायता से उनका नाम लिए बिना अपनी विलक्षण प्रतिभा से उसी मनोहर शैली में विवेचन करते चले जाते हैं । श्रृंगारप्रकाश के द्वितीय प्रकाश का आरम्भ वह इस प्रकार करते हैं -

प्रातिपदिकं त्रिधा, विभक्तावयवम्, अनुकरणं च । तत्र विभक्ता-वयवं त्रिधा - कृद्रूपम्, तद्धितरूपम्, समासरूपं च । तेषु भावकारकाभिधायिनो धातुप्रत्ययाः कृतः । तत्र धात्वर्थ एव पूर्वापरीभूतो भावः, यदाह -

---

1. श्रृंगारप्रकाश, प्रकाश-1, पृ. 5

कालानुपाति यद्रूपं धात्वर्थस्य क्रियेति तद् ।
परितो यद परिच्छिन्नं तद्भाव इति कथ्यते ।।

स इह षोढा संभवति - सिद्ध:, साध्य:, सिद्धासमाप्त:, साध्यासमाप्त:, सिद्धसाध्य:, साध्यसिद्धश्चेति । तेषु उद्भूतप्रत्ययांशत्वेन क्रियानुद्रेकात सत्त्वभूतत्वे लिंगसंख्यायुग्ग्राही "कर्तृकर्मणो: कृति" इति संबन्धविभक्तेर्निमित्तं सिद्ध:, तद्यथा - आश्चर्यमिदमोदनस्य च पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव:······आदि ।[1]

इस प्रकार भोजदेव का श्रृंगारप्रकाश देखकर हम पाते हैं कि उन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरण शब्दानुशासनग्रन्थ को अष्टाध्यायी के समान व्याकरण का लक्षणग्रन्थ बनाया है और उसके लक्ष्यों (प्रयोगों) तथा दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन की कमी को श्रृंगारप्रकाश के इन प्रारम्भिक प्रकाशों में पूरा किया है । संस्कृत शब्द अधिकाधिक लोक व्यवहार में आए इस उद्देश्य से उन्होंने एक अत्यन्त सुलझे हुए कुशल एवम् मनोविज्ञानी अध्यापक बनकर व्याकरण के प्रतिपाद्य शब्दों एवम् शब्दांशों का, उनके अर्थों और सम्बन्धों का वर्गीकरण करके भेद-प्रभेद सहित उनका एक-एक करके अनेकों-अनेकों व्यावहारिक उदाहरणों के साथ बड़ी ही रमणीय शैली में इस तरह परिचय दिया है कि इसे आगे से आगे पढ़ने की लगातार जिज्ञासा एवं रुचि बनी रहती है । जहां कहीं ऊबने तक की सम्भावना आती है वहां श्रृंगारप्रधान, उपदेशात्मक या चमत्कारजनक श्लोकों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर देते हैं । इसी शैली के कारण बीच-बीच में सरल शैली में प्रतिपादित व्याकरणदर्शन का पक्ष भी बिल्कुल ही दुष्कर एवं ऊबाने वाला प्रतीत नहीं होता है ।

वस्तुत: श्रृंगारप्रकाश के प्रारम्भिक आठ प्रकाशों के भाग को हम एक रसीला व्याकरण का प्रयोगग्रन्थ और व्याकरणदर्शन कह सकते हैं । बड़े आकार के 304 पृष्ठों में व्याकरण के पूरे 700 विषय इन आठ प्रकाशों में

---

1. श्रृंगारप्रकाश, पृ. 38

बतलाए गए हैं । इसमें प्रयोगों के आधिक्य के कारण यह केवल व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता परन्तु वास्तविकता यह है कि शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के समस्त भेदों- प्रभेदों का अपने-अपने प्रसंग में इतना विवेचन हुआ है कि व्याकरणदर्शन के समस्त सिद्धान्तों पर विचार इस ग्रन्थ में हुआ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन में जहां भोजदेव ने अपनी मौलिक एवं विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है वहां बिना नाम लिए अपने से प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरणों को इस में संगृहीत किया है । वाक्यपदीय की सैंकड़ों कारिकाएं तो इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं ही, परन्तु इसमें उसके वाक्य काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरि-वृत्ति भी विभिन्न स्थलों में ज्यों की त्यों बिखरी पड़ी है । भर्तृहरि की महाभाष्यत्रिपदी के भी कुछ भाग श्रृंगारप्रकाश में उपलब्ध हैं । कहीं-कहीं भोजदेव ने भर्तृहरि की समीक्षा भी की है । तीसरे प्रकाश में स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढंग से विवेचन किया है । पंचम प्रकाश में वृत्ति आदि का निरूपण भी दर्शनीय है । भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट से छः सात सौ वर्ष पूर्व कैयट के समय में हुए भोजदेव ने व्याकरण-दर्शन को ऐसी सुन्दर और रुचिकर शैली में अपने ही विशिष्ट विषय-विभाग के साथ प्रस्तुत किया है, जिसका पृथक् से उचित मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है ।

पुरुषोत्तमदेव : कारकचक्र (1100-1160 ई0)

वंगप्रान्तीय प्रख्यात वैयाकरण पुरुषोत्तमदेव ने व्याकरणशास्त्र पर आठ ग्रन्थ लिखे हैं - भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, परिभाषावृत्ति, उणादिवृत्ति, ज्ञापक समुच्चय, कारकचक्र, कारककारिका और महाभाष्य-लघुवृत्ति तथा श्रुतपालकृत कुण्डलीव्याकरण पर व्याख्यान। इनमें से कारकचक्र व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखता है। वैसे महाभाष्य-लघुवृत्ति में भी भाष्यवाक्यों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने व्याकरणदर्शन के तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है परन्तु "कारकचक्र" में स्वतन्त्ररूप से इस विषय पर विस्तार से लिखा है। कारकदर्शन पर स्वतन्त्ररूप से लिखे गए उपलब्ध ग्रन्थों में यह पहला है। कारिकाचक्र में वही विषय है जो कारकचक्र में है। म॰म॰ काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने सम्भावना व्यक्त की है कि कारकचक्र और कारककारिका एक ही ग्रन्थ है। कारकचक्र का कारिका भाग कारककारिका के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] उसके गद्यबद्ध व्याख्याभाग का नाम "कारककौमुदी" प्रतीत होता है। वस्तुत: यह एक ही ग्रन्थ है।

पुरुषोत्तमदेव बौद्धमतानुयायी थे। वंगप्रान्तीय वैयाकरणों में इन्हें एक प्रामाणिक विद्वान् माना जाता है। बाद के ग्रन्थकारों ने पुरुषोत्तमदेव के अनेक मतों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है।

पुरुषोत्तमदेव का समय बारहवीं शताब्दी है। शरणदेव ने 1173 ई0 में रची दुर्घटवृत्ति[2] में तथा सर्वानन्द ने 1159 ई0 में रचे[3] अमरटीकासर्वस्व में, पुरुषोत्तमदेव के नाम से उनके ग्रन्थों एवम् वाक्यों को अनेकत्र उद्धृत किया है। उनकी भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने पुरुषोत्तमदेव को राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन बताया है।[4] वंग के राजा लक्ष्मणसेन का राज्यकाल का आरम्भ ई0 सन् 1117 के लगभग विद्वानों ने माना है।[5] अत: सिद्ध है कि पुरुषोत्तमदेव ने बारहवीं शती ई0 में सन् 1117 के बाद तथा सन् 1159 ई0 के मध्य ग्रन्थों की रचना की है।

---

1. ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर - पृ॰ 110
2. शाके महीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपंचवितानेः। - दुर्घटवृत्ति पृ॰ 1
3. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिकसहस्रैकवर्षान्तेन शकाब्दकालेन ....।
   -अमरटीकासर्वस्व भाग-1, पृ॰ 91
4. वैदिक-प्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञआज्ञया प्रकृते कर्मणि, प्रसजन्।
   - भाषावृत्ति की अर्थ विवृत्ति के आरम्भ में।
5. सं0 व्या0शा0 इति0 भाग-1 पृ॰40।

सायणमाधव : पाणिनिदर्शनम् (1300 - 1385 ई0)

भारतीय दर्शनों के प्रख्यात विद्वान् सायणवंशोत्पन्न माधवाचार्य ने "सर्वदर्शनसंग्रह" लिखा है जो भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में एक अद्वितीय ग्रन्थ है । इसमें इन्होंने अपने काल में प्रसिद्ध सोलह दर्शनों का संकलन किया है और पाण्डित्यपूर्ण शैली में उनका सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है । इनमें व्याकरणदर्शन का भी "पाणिनिदर्शन" के नाम से विवेचन करके उन्होंने इस दर्शन को प्रसिद्ध भारतीयदर्शनों की कोटि में प्रतिष्ठापित किया है, व्याकरणदर्शन के लिए यही उनकी पहली देन है ।

माधवाचार्य ने "पाणिनिदर्शन" प्रकरण के प्रारम्भ में व्याकरण को प्रकृति-प्रत्ययविभागप्रतिपादनपरक बताकर अन्त में इसे परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है । व्याकरणाध्ययन के अन्य प्रयोजन बतलाकर इसे अभ्युदय की प्राप्ति तथा शब्दब्रह्म से सायुज्य की प्राप्ति का साधन बताया है । फिर स्फोटाख्य निरवयव नित्य शब्द को ब्रह्म बताकर स्फोट के विषय में नैयायिकों की और मीमांसकों की शंकाओं का समाधान दिया है । उसके बाद सत्ता ही शब्दों का अर्थ है - इस विषय पर पूर्वपक्ष के उत्तर में विस्तार से बड़ी ही मनोरम शैली में सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन किया गया है । द्रव्य को पदार्थ मानने वाले और जाति को पदार्थ मानने वाले मतों को प्रतिपादित करके स्पष्ट किया गया है कि पाणिनि के मत में दोनों पदार्थ हैं । पद का अर्थ जाति माने या व्यक्ति - दोनों ही पक्षों में अद्वैत, सत्य, परम ब्रह्म तत्त्व ही सभी शब्दों का अर्थ है । उसके बाद वाचक-स्फोट और वाच्य - ब्रह्मसत्ता में वाक्यपदीय के आधार पर अभेद बताकर अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि की गयी है और वेदान्तमत से उसका समर्थन किया गया है । अन्त में[1] व्याकरणशास्त्र से शब्दब्रह्म का ज्ञान, उससे परब्रह्म की

1. "शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च शब्दानुशासनशास्त्रस्य निःश्रेयससाधनत्वं सिद्धम् । तदुक्तम् -
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति ।। (वाक्यपदीय, 1.16)
इति । तस्माद् व्याकरणशास्त्रं परमपुरुषार्थसाधनतयाध्येतव्यमिति सिद्धम् ।
-सर्वदर्शनसंग्रहः, पाणिनिदर्शन का अन्तिम भाग ।

प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मसायुज्यरूप मोक्ष की प्राप्ति होने से व्याकरणशास्त्र को परमपुरुषार्थ "मोक्ष" का साधन बतलाया गया है ।

इस प्रकार आचार्य सायणमाधव ने सर्वदर्शनसंग्रह के "पाणिनिदर्शनम्" प्रकरण में व्याकरणदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को संक्षिप्त और मनोरम शैली में स्पष्ट किया है । इसमें इन्होंने भर्तृहरि की अनेक कारिकाएं उद्धृत की हैं । वस्तुत: पाणिनिदर्शनम् वाक्यपदीय का आश्रय लेकर लिखा गया व्याकरण-दर्शन विषयक लघु प्रबन्ध है ।

सर्वदर्शनसंग्रह के कर्ता माधवाचार्य दक्षिण भारत के विजयनगर साम्राज्य के सम्राट् हरिहर प्रथम तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज सम्राट् बुक्क के यहां मुख्यमन्त्री थे । माधवाचार्य प्रसिद्ध सायणवंश में हुए थे इसलिए उन्होंने सर्वदर्शनसंग्रह आदि ग्रन्थों में अपना नाम "सायणमाधव" लिखा है । वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य इनके छोटे भाई थे । माधवाचार्य बाद में विद्यारण्य के नाम से श्रृंगेरीमठ के शंकराचार्य बन गये थे । इनका जीवनकाल 1295 ई० से 1385 ई० तक माना गया है । व्याकरण विषय पर इन्होंने "धातुवृत्ति" लिखी है और दर्शन पर सर्वदर्शन-संग्रहसहित आठ ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें पंचदशी, जीवन्मुक्तिविवेक, विवरण-प्रमेयसंग्रह, वैयासिकन्यायमाला प्रमुख हैं ।[1]

---

1. सायणमाधवाचार्य के नाम, वंशादि जीवन के परिचय तथा कालनिर्णय के विशेष अध्ययन के लिए देखें -
   क. चौखम्बा विद्याभवन द्वारा प्रकाशित सर्वदर्शनसंग्रह (संस्करण, 1964) की उमाशंकर शर्मा ऋषि द्वारा लिखित भूमिका, पृ. 41-43
   ख. बलदेव उपाध्याय : आचार्य सायण और माधव, पृ. 133 से आगे ।

शेष श्रीकृष्ण :: शब्दाभरण, स्फोटतत्वनिरूपण {1600 ई0}

शेष श्रीकृष्ण प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे और अपने समय के व्याकरण के उद्भट विद्वान् थे। पण्डितराज जगन्नाथकृत प्रौढ़मनोरमाखण्डन से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने शेषवंशावतंस श्रीकृष्ण पण्डित के चरणों में रहकर व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं भी प्रक्रियाप्रकाशकार शेषकृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया है।[2] इन्होंने व्याकरण पर चार ग्रन्थ लिखे हैं – शब्दाभरण, स्फोट-तत्वनिरूपण, प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका। इनका प्रक्रियाप्रकाश रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी पर लिखा व्याख्याग्रन्थ है। पदचन्द्रिका इन द्वारा लिखा स्वतन्त्र व्याकरणग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों में भी शेषश्रीकृष्ण ने यथाप्रसंग व्याकरण के दार्शनिक तत्वों पर प्रकाश डाला है। परन्तु व्याकरणदर्शन पर विशेषरूप से उन्होंने शब्दाभरण नाम का प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा था जो अब उपलब्ध नहीं है।

व्याकरणदर्शन पर इनका दूसरा ग्रन्थ स्फोटतत्व निरूपण प्राप्त होता है। इसमें इन्होंने वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार स्फोटतत्व का विशद विवेचन किया है और मीमांसकों नैयायिकों आदि के स्फोटविरोधी तर्कों का खण्डन करके वैयाकरण सम्मत स्फोटसिद्धान्त की स्थापना की है।

पं0 युधिष्ठिर मीमांसक ने शेषश्रीकृष्ण का समय पन्द्रहवीं शती ई0 में सम्भावित बताया है, परन्तु डा0 वेल्वल्कर, काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर तथा डा0 सत्यकाम वर्मा ने इनका समय सोलहवीं शती ई0 माना है।[3]

---

1. चौखम्बा सं0 सीरीज़ काशी से सम्वत् 1991 में प्रकाशित प्रौढ़मनोरमा भाग-3 के अन्त में प्रकाशित प्रौढ़मनोरमाखण्डन का पृ.।
2. तदेतद् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकाशे गुरुचरणैरुक्तम्। –भट्टोजिदी. शब्दकौस्तुभ, पृ. 145
3. क. अभ्यंकर, ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर, पृ. 217
   ख. डा. सत्यकाम वर्मा, सं0 व्या0उ0वि0 पृ. 245
   ग. पं0 यु0 मीमांसक, सं0 व्या0शा0इति0 भाग-1, पृ. 487 तथा 529

जगदीश भट्टाचार्य : शब्दशक्तिप्रकाशिका (1635 ई०)

व्याकरणदर्शन की परम्परा में सत्रहवीं शताब्दी में जगदीशभट्टाचार्य "तर्कालंकार" ऐसे पण्डित हुए हैं जिन्होंने महान् तार्किक होते हुए तार्किक शैली में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर भी उल्लेखनीय साहित्य का सृजन किया है। वह अपने समय में बंगालप्रदेश में उद्भट एवं प्रामाणिक नैयायिक विद्वान् के रूप में सुविख्यात रहे। परन्तु जब उनकी "शब्दशक्तिप्रकाशिका" प्रकाश में आई तो वह समग्र भारतवर्ष में नैयायिक के अतिरिक्त एक प्रौढ़ दार्शनिक वैयाकरण के रूप में भी जाने गये।

परिचय :

जगदीश भट्टाचार्य तर्कालंकार ने अपने जन्म से और कर्म से बंगालभूमि को अलंकृत किया था। इनके पिता मैथिलवंश के श्री यादवचन्द्र विद्यावागीश थे और पितामह का नाम सनातनमिश्र था। सनातनमिश्र विख्यात चैतन्यमहाप्रभु के श्वशुर थे। बचपन में ही जगदीश के पिता का देहान्त होने पर ठीक पालन-पोषण न होने से इनका बचपन और किशोरावस्था बिना अध्ययन के बीत गए। जब यह अठारह वर्ष के हुए तो इनकी प्रखर बुद्धि और व्युत्पन्नमति को देखकर एक सन्यासी ने इन्हें उपदेश देकर विद्याध्ययन के लिए प्रेरित किया। तबसे इनमें शास्त्रों के अध्ययन की इतनी लालसा जागी कि रात-दिन एक करके विद्याभ्यास में जुट गए। अनन्तर इन्होंने "नवद्वीप" में न्यायशास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थों का अध्ययन तार्किक धुरन्धर भवानन्दसिद्धान्तवागीश से किया। श्री सार्वभौम भी इनके गुरु रहे।[1] जगदीश ने नवद्वीप में जब अध्ययन का श्रीगणेश किया था तो वहां के वैदुष्यमय वातावरण में उस अनपढ़ युवाशिष्य को लोग जगदीश की बजाय "जगा" कहकर पुकारते थे। कुछ ही समय बाद उसके आश्चर्यजनक विद्याव्यसन को देखकर लोग प्रेम से उसे "जगु" कहने लगे। कुछ ही वर्षों में जगदीश की अप्रतिमा-प्रतिभा और उसकी शास्त्र-विषयक अद्भुत योग्यता को देखकर आचार्य भवानन्द जी ने हर्षातिरेक से उसके विषय में कहा -

---

1. शब्दशक्ति प्रकाशिका, काशी संस्कृत सीरीज़ सं0 1973 का पं0 ढुण्डिराज शास्त्रीकृत उपोद्घात

आदौ जगा जगुः पश्चात् जगाजगुरतः परम् ।
अधुना ज्ञानसम्पत्या जगदीशायते जगां ।।

अनन्तर भवानन्द सिद्धान्तवागीश ने जगदीश के न्यायशास्त्र विषयक पाण्डित्य के लिए इन्हें "तर्कालंकार" की उपाधि से सम्मानित किया ।[1]

समय :

जगदीश भट्टाचार्य तर्कालंकार ने सन् 1635 ई0 में शब्दशक्तिप्रकाशिका रची थी - ऐसा इतिहासकारों का मत है ।[2] यह ग्रन्थ इन्होंने न्याय के अन्य ग्रन्थों की रचना के बाद लगभग 40-50 वर्ष की आयु में लिखा था, अतः इनका जन्मकाल सन् 1590 ई0 के लगभग माना जाता है ।[3]

रचनाएं :

जगदीशभट्टाचार्य ने निरन्तर ग्रन्थरचना में तत्पर रहकर पहले तत्त्व-चिन्तामणि के रघुनाथ तार्किकशिरोमणिकृत मौलिक टीकाग्रन्थ "दीधिति" पर सर्वाधिक प्रामाणिक "जागदीशी" टीका लिखी । तदनन्तर चिन्तामणिमयूख, प्रशस्तपादभाष्य पर "भाष्यसूक्ति" आदि टीकाएं लिखकर अन्त में अपने मौलिक ग्रन्थ शब्दशक्तिप्रकाशिका का प्रणयन किया ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका :

जगदीश भट्टाचार्य तर्कालंकार की शब्दशक्तिप्रकाशिका व्याकरण-दर्शन पर नव्यन्याय की शैली में लिखा स्वतन्त्र एवं मौलिक निबन्धग्रन्थ है । यद्यपि इनके लिखे अन्य टीकाग्रन्थ भी प्रामाणिक माने जाते हैं, परन्तु यह ग्रन्थ उनका सर्वस्वभूत है । अतः इसके बारे में कहावत प्रसिद्ध है - "जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्तिप्रकाशिका" ।

---

1. शब्दशक्तिप्रकाशिका काशी संस्कृत सीरीज़, 1973 संस्करण का पं0 ढुण्ढिराजशास्त्रिकृत उपोद्घात, पृ. 6
2. वही, पृ. 8
3. डा0 सिंह एवं शास्त्री, भारतीयदर्शन-शास्त्र का इतिहास, पृ. 183

नामप्रकरण के प्रारम्भ में ही जगदीश तर्कालंकार ने जातिव्यक्तिवादी भाट्ट-मतानुयायियों के तथा लक्षणा द्वारा जातिविशिष्टव्यक्ति में शक्ति स्वीकार करने वाले मण्डनमिश्र तथा प्रभाकरमतानुयायियों मीमांसकों के मतों का अपने तर्कों से खण्डन किया है । यहीं हमें "तर्कालंकार" के अगाध एवं प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय मिल जाता है । इसी नामप्रकरण में आलंकारिकों द्वारा मानी गई व्यंजनावृत्ति का तथा योगरूढ़नाम शब्दों के विषय में मीमांसकों और वैयाकरणों के विचार का बड़े ही चमत्कारिक ढंग से खण्डन किया है । जगदीश तर्कालंकार ने इस ग्रन्थ में समास-निरूपण तथा कारकनिरूपण में जो वैदुष्य दर्शाया है वह न्याय तथा व्याकरणशास्त्र में दुर्लभ ही है । कारकप्रकरण में उदाहरण-सहित छः कारक और उनकी वाचक सुब्विभक्तियों का प्रतिपादन उक्तानुक्तकारक तथा उनकी उक्तता-अनुक्तता में नियामक हेतु का कथन, कर्तृत्व कर्मत्व के अन्वयबोध में उपयोगी विभक्तियों का विवेचन तथा उपपदविभक्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है । आख्यातप्रकरण में लट् आदि दस तिङ्‌लक्षण, आख्यातार्थ, नामधातु, विध्यर्थ आदि का विचार जिस प्रौढ़ वैदुष्यसूचक शैली द्वारा किया है, वैसा अन्य नैयायिकों के तो क्या, वैयाकरणों के ग्रन्थों में भी दुर्लभ है । अन्त में तद्धितप्रकरण में उदाहरण के साथ विविध तद्धितप्रत्ययों तथा उनके अर्थ का अत्यन्त विस्तार के साथ निरूपण किया गया है ।

इस प्रकार जगदीश भट्टाचार्य ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में भले ही शब्दशक्ति के विषय में नैयायिकों के सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयास किया है, तथापि इसमें इन्होंने नामार्थ, समास, कारक, आख्यात आदि विषयविभाग करके जो व्याकरण के लगभग सभी पद-पदार्थों का नव्यन्याय की प्रौढ़ शैली में गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा नवीन होने से व्याकरण-दर्शन के लिए विशिष्ट उपलब्धि है । भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ की विषय-प्रतिपादन शैली प्रकाशिका की शैली से कुछ समान होते हुए भी पर्याप्त भिन्न है, जबकि भट्टत्रय - जगदीशभट्टाचार्य, कौण्डभट्ट तथा नागेशभट्ट ने अपने ग्रन्थत्रय क्रमशः प्रकाशिका, भूषण तथा मंजूषा में एक ही प्रकार की नव्यशैली को अपनाया है ।

भरतमिश्र : स्फोटसिद्धि (काल 1700 ई0 से पूर्व)

"स्फोटसिद्धि" नाम का ही दूसरा ग्रन्थ सन् 1927 में त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ है । इसके लेखक भरतमिश्र है । भरतमिश्र ने अपने इस ग्रन्थ में कहीं भी अपने बारे में कोई परिचय नहीं दिया है, न ही अन्यत्र कहीं इनके बारे में कोई उल्लेख उपलब्ध हुआ है । अत: इनका स्थान, देश-काल आदि अज्ञात हैं । इस ग्रन्थ के सम्पादक पं0 गणपतिशर्मा ने इसकी भूमिका में लिखा है कि जिस मूल हस्तलेख से इसे छापा गया है वह लगभग दो-तीन सौ वर्ष पुराना है । तदनुसार यह हस्तलेख सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का लिखा है । सम्भव है इसकी रचना उससे भी पर्याप्त पहले हुई हो ।

भरतमिश्र रचित "स्फोटसिद्धि" का आकार मण्डनमिश्रकृत "स्फोटसिद्धि" से काफी बड़ा है । इसमें तीन परिच्छेद हैं - प्रत्यक्ष परिच्छेद, अर्थपरिच्छेद, और आगमपरिच्छेद । इस ग्रन्थ में कारिका भाग के साथ गद्य में उसका व्याख्या भाग भी है । ये दोनों ही भाग भरतमिश्र द्वारा विरचित हैं ।

मण्डनमिश्र की तरह ही भरतमिश्र ने भी स्फोटविरोधियों के आक्षेपों का खण्डन करके वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित स्फोटात्मक वास्तविक शब्द की सिद्धि की है । परन्तु अनन्तर यह है कि मण्डनमिश्र ने केवल 37 कारिकाओं में संक्षेप में यह काम किया है जबकि भरतमिश्र ने कारिकाओं और उससे भी अधिक गद्यभाग द्वारा विस्तार के साथ मीमांसकों आदि के दुराग्रहों को मिथ्या बतलाकर स्फोटवाद के सत्य पक्ष को सिद्ध किया है । इसके लिए इन्होंने जो शैली अपनायी है वह द्रष्टव्य है -

वैयाकरण वैखरी से प्रतीयमान अखण्ड एकरस स्फोटात्मक शब्द को अर्थज्ञान में कारण मानते हैं ।[1] परन्तु मीमांसाभाष्य में शबरस्वामी ने "गौ:" यहां गकार औकार विसर्जनीय के क्रमिक उच्चारण तथा पूर्व-पूर्व वर्णजनित संस्कार

---

1. यथा - पातंजलमहाभाष्य पस्पशाह्निक में - येनोच्चारितेन आदि ।

को अर्थज्ञान में कारण बताया है और अपने मत की पुष्टि में भगवान् उपवर्ष को उद्धृत किया है । इसे असंगत बताते हुए भरतमिश्र लिखते हैं -

"भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि व्यंजकारोपितनान्तरीयक-भेदक्रमविच्छेदादिनिविष्टे: परैरेकाकारनिर्भासम् अन्यथा सिद्धिकृत्यार्थधीहेतुतां चान्यत्र संचार्य भगवदौदुम्बरायणादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितम् ।"[1]

इस प्रकार भरतमिश्र ने लिखा है कि भगवान् औदुम्बरायण ((स्फोटायन)) आदि ने एक अखण्डभाव से प्रतीयमान स्फोट को शब्द माना है, परन्तु अन्यों ने अर्थात् शबरस्वामी आदि ने उस स्फोट की व्यंजक ध्वनियों को ही अर्थज्ञान में कारण मानकर औदुम्बरायण आदि मुनियों की प्रतिद्वन्द्विता में भगवान् उपवर्ष आदि को उपस्थित करके अपलाप किया है । भरतमिश्र ने स्फोटसिद्धि में आगे चलकर इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया है[2] कि सभी ऋषियों में भ्रमविप्रलाप असम्भव होने से तत्त्वत: परस्पर विरोध नहीं होता । अत: तत्त्वदर्शी औदुम्बरायण और उपवर्ष आदि मुनियों के वचनों में भी तत्त्वत: कोई विरोध नहीं है । उपवर्ष। ने जो गकारौकारविसर्जनीया: (=गौ:) को शब्द माना है, उसे शबरस्वामी आदि ने तत्त्वत: नहीं जाना है । वस्तुत: मीमांसा के प्रकरण में उपवर्ष ने इस मीमांसाशास्त्र के उपयोगी होने के कारण व्यावहारिक (ध्वन्यात्मक) शब्द का ही निदर्शन किया है । उन्होंने तात्त्विक अर्थात् स्फोटात्मक शब्द का निदर्शन नहीं करवाया है, क्योंकि यह मीमांसाशास्त्र के उपयोगी नहीं था ।[3] इस प्रकार विस्तारपूर्वक आक्षेपों का निरास करके भरतमिश्र ने अपने ढंग से स्फोटवाद की सिद्धि की है ।

---

1. भर-तमिश्र, स्फोटसिद्धि -
2. वही, पृ. 1
3. वही, पृ. 28

स्फोटसिद्धिन्यायविचार - अज्ञातकर्तृक

स्फोटसिद्धिन्यायविचार नाम का एक ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम् से सन् 1917 में प्रकाशित हुआ है । इसे महामहोपाध्याय गणपतिशर्मा ने सम्पादित किया है । जिस पाण्डुलिपि से यह ग्रन्थ छापा गया है, उसमें इसके कर्ता का नाम निर्दिष्ट नहीं है, अतः इसके रचना का समय भी अज्ञात है । इस ग्रन्थ की पहली कारिका इस प्रकार है -

प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि ।
मण्डनं भरतं चादिमुनित्रयमनुहरिम् ।।

इस मंगल-श्लोक में लेखक ने गुरु और मुनित्रय आदि के साथ "मण्डन" और "भरत" को प्रमाण किया है । इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का कर्ता मण्डनमिश्र और भरतमिश्र से बाद का है ।

इस ग्रन्थ में 245 कारिकाएं हैं । इसमें मण्डनमिश्र तथा भरतमिश्र द्वारा विरचित दोनों स्फोटसिद्धि नामक प्रबन्धों की विस्तार से व्याख्या की गई है और सिद्धान्तः स्फोटवाद की ही स्थापना की गयी है । यह इस ग्रन्थ के नाम से तथा इसके उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक से ही विदित हो जाता है । इस ग्रन्थ में स्फोटदर्शन के विषय में अनेक नयी सूचनाएं हैं जो मूल ग्रन्थों में नहीं हैं । किंच दोनों स्फोटसिद्धिप्रबन्धों के वे स्थल जो संक्षेप में प्रतिपादन के कारण अस्पष्ट रह गए हैं, उन्हें इस ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है ।

श्रीकृष्णभट्ट मौनी : स्फोटचन्द्रिका {18वीं शती}

प्रख्यात मौनिकुल में जन्मे श्रीकृष्णभट्ट ने स्फोटदर्शन पर एक स्वतन्त्र लघु प्रबन्ध लिखा है । केवल सोलह पृष्ठों के गद्यबद्ध इस प्रबन्ध का नाम स्फोटचन्द्रिका है । इसकी रचना का समय अठारहवीं शती माना जाता है । यह ग्रन्थ सन् 1929 में चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस से प्रकाशित हुआ है तथा इस प्रबन्ध को इसी वर्ष छपे शब्दकौस्तुभ द्वितीय भाग के अन्त में ही जिल्दबद्ध किया गया है । इस ग्रन्थ के केवल 16 पृष्ठों में सतरहवीं शती तक के समस्त वैयाकरणों तार्किकों एवं मीमांसकों के मतों सहित शब्द से सम्बन्धित समस्त विषय संक्षेप में प्रतिपादित कर दीए गए हैं - यह इसकी विशेषता है । इसकी विषयसूची में ही 85 विषय गिनाए गए हैं । उनमें प्रमुख हैं - स्फोटशब्दार्थ, उसका योगरूढत्व, स्फोट के आठ भेद, आदेशों की ही वाचकता, तार्किक एवम् वैयाकरणों के मत में शक्ति, साधुवद असाधुशब्दों में भी शक्ति, शक्ति के विषय में वर्धमान का मत, सखण्ड-स्फोट, अखण्डस्फोट, वाक्यलक्षण, व्युत्पत्तिवादोक्तबोधखण्डन, लाक्षणिक-वाक्यस्फोटनिरास, रसगंगाधरोक्त का-व्यलक्षणदूषण आदि ।

भाष्यकार एवम् वाक्यपदीयकार से लेकर भूषणकार तक के वैयाकरणों तथा तार्किकों ने शब्दशक्ति एवम् सम्बन्ध के विषय में जो कुछ कहा है वह सब ज्यों का त्यों तो नहीं पर उसके आवश्यक पहलुओं पर बड़ी ही अनुपम, संक्षिप्त और सरल शैली में इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है ।

रामाज्ञा पाण्डेय : व्याकरणदर्शनभूमिका आदि

(रचनासमय 1912-66 ई0)

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय बीसवीं शती (ईसवी) के ऐसे दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने निरुक्त एवं प्रातिशाख्यों से लेकर नागेशभट्ट के ग्रन्थों तक के व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित प्रकीर्ण विचारों को तीन प्रबन्धग्रन्थों में संकलित किया है तथा इन्हें निगम और आगमानुसारी बताने का प्रशस्य प्रयास किया है । इनके ये ग्रन्थ लगभग समस्त व्याकरण-दर्शन के तत्त्वों एवं विचारों से हमें अवगत कराते हैं ।

परिचय :

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय का जन्म उत्तरप्रदेश के बलिया मण्डल के अन्तर्गत रतसडग्राम में हुआ ।[1] श्री देवनारायण त्रिपाठी, महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री भारद्वाज, मानवल्ली गंगाधर शास्त्री और महामहोपाध्याय शिवकुमार मिश्र इनके गुरु रहे ।[2] इन्होंने जगन्नाथ पुरी के संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करवाया तथा अन्तिम आयु में उत्तरप्रदेश सरकार ने इन्हें काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (सम्प्रति संस्कृत विश्वविद्यालय) के सरस्वतीभवन के पुस्तकालय में गवेषणा विभाग में अनुसन्धान सहायक के रूप में नियुक्त किया था जहाँ इन्होंने व्याकरण-दर्शन पर गवेषणा करके तीन ग्रन्थ लिखे ।[3] डा0 मंगलदेवशास्त्री, सभापतिशर्मोपाध्याय, श्री नारायणशास्त्री खिस्ते, श्री के॰ए॰ सुब्रह्मण्य अय्यर तथा श्री त्रिभुवनोपाध्याय पाण्डेयजी के सहयोगी एवं मित्र थे ।[4]

---

1. व्या0द0 प्रतिमा, की रामगोविन्दशुक्लरचित "विज्ञापना" पृ॰ "थ"
2. व्या॰द॰ भूमिका में ग्रन्थकार का प्राक्कथन पृ॰4
3. व्या॰द॰प्रतिमा की रामगोविन्दकृत विज्ञापना पृ॰ थ-द
4. व्या॰द॰ भूमिका में ग्रन्थकार का प्राक्कथन पृ॰5

समय :

रामाज्ञा पाण्डेय ने अपने कथन के अनुसार व्याकरण-दर्शन पर लिखने का मन 1912 ई0 में ही बना लिया था ।[1] इन्होंने व्याकरण-दर्शन भूमिका ग्रन्थ 1953 में अपने समक्ष प्रकाशित करवाया है । इनकी दूसरी रचना व्याकरणदर्शनपीठिका 1965 में प्रकाशित हुई । तीसरा ग्रन्थ व्याकरणदर्शन-प्रतिमा इनके दिवंगत होने के बाद 1979 में प्रकाशित हुआ है । इस ग्रन्थ की भूमिका रामगोविन्दशुक्ल ने 4-12-1978 को लिखी है तथा इसमें रामाज्ञापाण्डेय के साथ स्वर्गीय शब्द लिखा है । इस प्रकार पाण्डेय द्वारा व्याकरणदर्शन के ग्रन्थों की रचना का समय 1912 से लगभग 1966 तक ठहरता है ।

रचनाएं :

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय ने व्याकरणदर्शन पर तीन ग्रन्थ रचे हैं -

1. व्याकरण-दर्शन-भूमिका
2. व्याकरण-दर्शन-पीठिका
3. व्याकरण-दर्शन-प्रतिमा

इनमें से व्याकरणदर्शनभूमिका वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के ही पूर्वरूप राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी में वि0सं0 2010(ई0सन् 1954) में प्रकाशितकिया है । "व्याकरण-दर्शन-पीठिका" को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी ने 1965 ई0 में तथा "व्याकरण-दर्शन-प्रतिमा" को इसी विश्वविद्यालय ने 1979 ई0 में प्रकाशित किया है । इन ग्रन्थों में व्याकरण-दर्शन-के मुख्य-मुख्य प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है -

व्याकरण-दर्शन-भूमिका :

इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर दो सौ पैंतीस शीर्षकों में व्याकरण-दर्शन के तत्त्वों से शिक्षा-निरुक्त-प्रातिशाख्य और व्याकरण-वाङ्मय के विविध ग्रन्थों से उद्धरण देकर परिचित कराया गया है । सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् शीर्षकों

---

1. व्या. द. पीठिका, प्रास्ताविक पृ. 1 पर सुरतिनारायण त्रिपाठी

में व्याकरण-दर्शन शब्द का अर्थ, इस दर्शन का सामयिकत्व, माधव के द्वारा पाणिनिदर्शन में सम्यक् प्रकार से उपन्यस्त न करना बताकर व्याकरण का स्वरूप, प्रकृति-प्रत्यय का वास्तविक स्वरूप, परा वाणी का व्यवहारातीतत्व प्रतिपादित कर पश्यन्ती में शक्ति और शक्तिमान् की चर्चा की गयी है ।[1] ततः कालशक्ति, सृष्ट्यादि कर्तृत्व, वेदप्रामाण्य, प्रणव का अर्थ बताकर "वैयाकरण" और "शिष्ट" की एकता बताई गयी है । अतः मुनि आदि का महर्षित्व अस्वीकार करते हुए ऋषि तत्त्व पर प्रकाश डाला गया है । उसके बाद व्याकरण के प्रयोजन, साधु शब्दों का वाचकत्व तथा साधु-असाधु-विचार पर अनेक शीर्षकों में विचार किया गया है ।[2] ततः व्याकरण और तन्त्र में व्यवहार और परमार्थदशा में व्याकरण की उपयोगिता बताकर योगमार्ग से षट्चक्रभेद और तान्त्रिकों के सिद्धान्तानुसार दश चक्रों पर प्रकाश डाला गया है तथा वैदिक मार्ग से केवल चार चक्रों के भेदन से उत्तम ज्योति की प्राप्ति बताई गयी है ।[3] ततः पाणिनीय व्याकरण को सर्ववेद पारिषद बताकर स्फोटस्मर्ता स्फोटायन, वृत्तिभेद से कालभेद, द्रव्य, शब्द, ध्वनि, आन्तर और बाह्य स्फोट पर छोटे-छोटे शीर्षकों में संक्षेप से विचार व्यक्त किये गए हैं । ततः वर्णोच्चारण प्रक्रिया, षोडश मातृकाएं, स्थान, अनुप्रदान, वर्णोत्पत्तिप्रक्रिया, प्रयत्न और वर्णविचार को विस्तार से प्रतिपादित किया गया है ।[4] पीठिका और प्रतिमा के विषय का संक्षेप भी सूचित किया गया है ।[5] ततः सत्ता-तत्त्व, षड्भावविकार, द्विविध विवर्त, परिणामवाद, शब्दब्रह्म, बिन्दु-बीज नाद, प्रतिभा के विषय में बताकर वैयाकरणसम्मत प्रमाणों का विषय छेड़ा गया है ।[6]

---

1. व्या॰ द॰ भू॰, 1-11
2. व्या॰ द॰ भू॰, पृ॰ 12-23
3. वही, पृ॰ 24-27
4. वही, पृ॰ 55-110
5. वही, पृ॰ 110
6. वही, 134 से

तत: मोक्ष पर विचार किया गया है ।[1] फिर स्फोट तत्त्व पर अनेक शीर्षों में परिचय दियागया है । तत: अष्टपदार्थ, सम्बन्ध, द्रव्य, जाति, गुण, दिक्, शक्ति, क्रिया, धात्वर्थ, काल, संख्या, वचन, उपग्रह, लिंग, वृत्ति, समास आदि का छोटे-छोटे शीर्षकों में सामान्य परिचय दिया गया है । इस प्रकार इस ग्रन्थ में छोटे-छोटे शीर्षकों में व्याकरण-दर्शन के विभिन्न तत्त्वों का सामान्य परिचय "भूमिका" के रूप में दिया गया है ।

व्याकरण-दर्शन-पीठिका :

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय ने व्याकरण-दर्शन-पीठिका नाम के दूसरे स्वतन्त्र ग्रन्थ में मुख्यरूप से शिक्षाग्रन्थों और प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित विषयों को दस दलों में विभक्त करके समालोचित किया है । प्रथम दल में वर्णोच्चारण शैली में विकृत्ति का कारण शिक्षाग्रन्थों की उपेक्षा बताते हुए शिक्षा का प्राधान्य, शब्दस्वरूप, वृत्तिविचार, मात्रानिर्णय, स्थानभेद से कालभेद, ध्वनि-स्फोट आदि पर विचार किया गया है । द्वितीय दल में शब्द की ज्ञानरूपता, तृतीय में शब्द का द्वैविध्य, अणु या वायु की शब्दत्वापत्ति तथा विवर्तवाद और परिणामवाद पर विचार किया गया है । चतुर्थ दल में वैष्णवागम मत से क्रियाशक्ति, नाद, बिन्दु उसके भेद तथा स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति बताई गयी है । पंचम दल में यही विषय शैवागम मत से दर्शाया गया है । षष्ठ दल में वर्णों का भौतिकत्व तथा शैव और शाक्त मतों से अन्य विचारों की चर्चा की गयी है । सप्तम और अष्टम दल में ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार वर्णों के गुण और दोष बताए गये हैं । नवम दल में यजु: प्रातिशाख्य के आधार पर वर्णों पर विचार किया गया है । दशम दल में तैतिरीय प्रातिशाख्य उसके वैदिकाभरण और त्रिभाष्यरत्न नामक भाष्यों के आधार पर वर्णों का स्वरूप और उच्चारण पद्धति पर प्रकाश डाला गया है । यहां ऋक्तन्त्र व्याकरण, सामप्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य के आधार पर भी वर्णविचार तथा

---

1. व्या. द. भू. पृ. 147 से

उच्चारण स्थानों पर प्रकाश डाला गया है । ग्रन्थ की समाप्ति में दो परिशिष्ट साथ जोड़े गए हैं जिनमें से एक में भाषाविज्ञान के अनुसार वर्णोच्चारणप्रक्रिया का सचित्र वर्णन किया गया है तथा दूसरे में निगम और आगम पर विचार किया गया है ।

व्याकरण-दर्शन-प्रतिमा :

रामाज्ञापाण्डेय ने व्याकरण-दर्शन भूमिका तथा पीठिका में व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित विचारों को प्रारम्भिक स्तर पर निरूपित करके व्याकरणदर्शन-पीठिका में व्याकरणदर्शन को प्रतिमा के रूप में स्थापित किया है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक पचास पृष्ठों में पश्यन्ती और प्रतिभा में भेद, स्फोटपदार्थ, ध्वनि का द्वैविध्य, ब्रह्मज्ञान का अधिकारी, वाह्यस्फोट, शब्दस्वरूप, शब्दभावना का अनादित्व, प्रतिभा का स्वरूप, शब्द और अनुमान प्रमाण, अहंकार और मन का स्वरूप, सांख्यमत से प्रकृति का त्रिगुणात्मकत्व, और साधन पर विचार किया गया है ।[1] इसके बाद निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को मुख्य-तया वाक्यपदीय के आधार पर विवेचित किया गया है -

द्वितीय काण्डस्य संक्षेप: {वाक्यपदीयस्य}
पदकाण्डस्य संक्षेप: {वाक्यपदीयस्य}
सम्बन्ध-निरूपणम्
दिक्-निरूपणम्
द्रव्यनिरूपणम्
व्यक्तिनिरूपणम्
पुरुषनिरूपणम्
संख्यानिरूपणम्
उपग्रहनिरूपणम्
लिंगनिरूपणम्

---

1. व्या० द० प्रतिमा पृ० 1-5।

कालनिरूपणम्

गुणनिरूपणम्

साधननिरूपणम्

वृत्तिविचार:

इस प्रकार से व्याकरणदर्शनप्रतिमा में मुख्यतया भर्तृहरि के वाक्यपदीय के आधार पर वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को निरूपित किया गया है । नागेश आदि के मत भी साथ में दिये गये हैं ।

महत्त्व :

रामाज्ञा पाण्डेय ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार व्याकरण-दर्शन रूप दर्शननीय पुरुष की "प्रतिमा" को संस्थापित करने के लिए "पीठिका" की रचना की है तथा उस पीठिका को स्थापित करने के लिए "भूमिका" की रचना की है ।[1] इनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर विदित होता है कि पाण्डेय जी ने सर्वप्रथम शिक्षा, निरुक्त, प्रातिशाख्य और व्याकरण से व्याकरणदर्शन के लगभग अढाई सौ विचारविन्दुओं को एकत्रित किया है, जिसे भूमिका में प्रकाशित किया गया है । भूमिका में छोटे-छोटे शीर्षकों में इन विचार-बिन्दुओं को निबद्ध किया है, परन्तु यहां इनका क्रम तथा पूर्वापर या पारस्परिक प्रसंग अधिक व्यवस्थित नहीं है । उसके बाद भूमिका की सामग्री का उपयोग पुन: पीठिका तथा प्रतिमा में सुव्यवस्थित रूप से किया गया है । पीठिका में अधिकांश सामग्री शिक्षाग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों की प्रकरणों में निबद्ध की गयी है जबकि व्याकरणदर्शन प्रतिमा में अधिकांश सामग्री वाक्यपदीय आदि व्याकरणदर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थो से लेकर प्रयुक्त की गयी है । पाण्डेय जी की प्रतिमा अधिक, सुव्यवस्थित, अधिक सुगठित तथा अधिक सारगर्भित प्रतीत होती है और यही इनके शब्दों में व्याकरण-दर्शन- पुरुष है । कुल मिलाकर पाण्डेय जी के ग्रन्थों में शिक्षा, प्रातिशाख्य, निरुक्त, शैवागम तथा व्याकरणागम

---

1. व्या॰ द॰ भूमिका, प्राक्कथन पृ॰ 3

के लगभग समस्त विचार कुछ मूल पंक्तियों में तथा कुछ पाण्डेय जी के शब्दों में एक साथ देखने को मिलते हैं । पाण्डेय जी का यह प्रयास व्याकरणदर्शन का एक ऐसा संकलन लगता है जहां इन्होंने अनेक उद्धरण मूलरूप में प्रस्तुत किये है, तो अनेक मूल ग्रन्थों के विचारों को अपने शब्दों में प्रकट किया है तथा बीच-बीच में अपनी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है । इन्होंने अनेक सन्दर्भों में युक्त और अयुक्त की विवेचना करते हुए ग्रन्थों या ग्रन्थकारों की आलोचना भी की है । यथा - कैयस्तु वैशेषिकादिनयानुसारेण भाष्यं व्याचक्षाण: कथं स्त्रियामिति सूत्रस्थभाष्येण न विरूध्यते - इति चिन्त्यम् कथं च "किंपुनर्द्रव्यं, के च गुणा:" इति प्रश्नस्य न निर्दलतेति चिन्त्यम् ।[1] "इदम् हेलाराजीयं व्याख्यानं चिन्त्यम्" ।[2] "एतेन .... समुच्चयोपि हरदत्तोक्तोपास्त: ।"[3] "हरदत्त प्रौढ़िस्तदरीत्यैवायुक्तेति परिभाव्यतां सूरिभि: । तस्मान्न कैयट -- हरदत्तादिभिरूक्तं युक्तमिति ।"[4]

इससे स्पष्ट होता है कि पाण्डेय की व्याकरणदर्शनप्रतिमा मात्र व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों का संकलन ही नहीं है, बल्कि इनके युक्त-अयुक्ततत्व की परीक्षा भी बहुधा इन्होंने की है ।

डा0 रामाज्ञा की कुछ विशेष मान्यताएं जो इस विवेचन के फलस्वरूप उजागर हुई हैं, इस प्रकार हैं -

भर्तृहरि ने वाक् के केवल तीन भेद बताए हैं - वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती[5]। नागेश ने चौथी परा वाणी भी वैयाकरणमतानुसार सिद्ध की है ।[6] इस विषय में पाण्डेय जी ने समन्वय इस प्रकार किया है कि व्याकृत और

---

1. व्या॰ द॰ प्रतिमा, पृ॰ 92
2. वही, पृ॰ 174
3. वही, पृ॰ 253
4. वही, पृ॰ 254
5. वा॰ प॰, 1॰142
6. वै॰ सि॰ ल॰ मं; शक्त्याश्रयनिरूपण पृ॰ 145 से 48

अव्याकृत भेद से वाक् दो प्रकार की है । इनमें अव्याकृता वाक् परा है । भर्तृहरि ने त्रयी वाक् का प्रतिपादन व्याकृता वाक् के लिए किया है । उन्होंने पश्यन्ती को ही जगत् की उत्पत्ति का हेतु स्वीकार किया है ।[1]

वैयाकरणभूषणसार में स्फोट के आठ भेद प्रतिपादित किये गए हैं ।[2] परन्तु पाण्डेय जी ने व्याकरण-दर्शन की भूमिका में स्फोट के सोलह भेद किये हैं – जो इस प्रकार है –

1· प्रकृतिस्फोट:
2· प्रत्ययस्फोट:
3· प्रकृतिजातिस्फोट:
4· प्रत्ययजातिस्फोट:
5· अखण्डप्रकृतिस्फोट:
6· अखण्डप्रत्ययस्फोट:
7· वर्णस्फोट:
8· वर्णजातिस्फोट:
9· पदस्फोट:
10· पदजातिस्फोट:
11· अखण्डपदस्फोट:
12· वाक्यस्फोट:
13· वाक्यजातिस्फोट:
14· अखण्डपदजातिस्फोट:
15· अखण्डवाक्यस्फोट:
16· अखण्डवाक्यजातिस्फोटश्चेति ।[3]

सोलह प्रकार का स्फोट मानने की यह रामाज्ञापाण्डेय जी की नयी उद्भावना एवं मान्यता है ।

पाण्डेय जी का मानना है कि आगम , जो निगम से भी प्राचीन है, में सोलह ही मातृकाएं थीं, इनहीं से स्वरों का उद्भव हुआ ।[4] वस्तुत: कारक मात्र चार हैं । सम्प्रदान और अपादान कारक नहीं है ।[5] सन्धियां

1· व्या·द· प्रतिमा, पृ·3 तथा व्या·द·भूमिका, पृ·11
2· वै·भू·सार, स्फोट निरूपणम्, पृ·449
3· वै·द·भूमिका, पृ·48–50
4· व्या·द·भू·, पृ·56
5· व्या·द भूमिका, पृ·208–9

भी वस्तुत: तीन ही हैं - सृष्टि, स्थिति और संहार । शेष सन्धियों का इन्हीं में अन्तर्भाव होता है ।[1] इस प्रकार के नवीन मत भी रामाज्ञा-पाण्डेय ने अपने ग्रन्थों में स्थापित किये हैं । अत: इनके ग्रन्थों को मात्र संकलन भी नहीं कहा जा सकता है । पाण्डेय जी स्वयं भी कहते हैं कि वह मात्र विप्रकीर्ण विषयों को संक्षिप्त करके ही प्रतिमा आदि में सन्निविष्ट करने नहीं जा रहे हैं, अपितु वह समय-समय पर बुद्धि में आए पदार्थों को संकलित करके शिक्षा, निरुक्त, प्रातिशाख्यरूप तीन अंगों के साथ व्याकरण (अंगी) को परिकृत करके पदार्थों को निगम और आगम के अनुकूल स्थापित करने जा रहे हैं ।[2] इन्होंने अपने ग्रन्थों में अपनी इस प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है । व्याकरणदर्शन के वाङ्मय में रामाज्ञा पाण्डेय का प्रयत्न स्तुत्य है ।

---

1. व्या॰ द॰ भूमिका, पृ॰ 97-98
2. व्या॰ द॰ भूमिका, पृ॰ 3

उपसंहार

संस्कृत व्याकरण के दो पक्ष हैं - प्रक्रियापक्ष और दर्शनपक्ष । प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के साथ शब्दसंस्कार करना व्याकरण का प्रक्रियापक्ष है । पाणिनीय, सारस्वत आदि लक्षणात्मक व्याकरणों का प्रधान उद्देश्य शब्द-संस्कारात्मक प्रक्रिया ही है । परन्तु शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के विभिन्न पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण, इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों, नित्यता-अनित्यता, इनकी व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता, मूल कारण आदि पर तात्विक विचार व्याकरण के दर्शन पक्ष में आता है ।

ऋषियों एवं मुनियों द्वारा अन्तर्दृष्टि से किए गए तात्विक चिन्तन एवं विश्लेषण को दर्शन कहते हैं । फलत: प्राप्त निष्कर्ष एवं सिद्धान्त तथा इन्हें प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ भी दर्शन-पद-वाच्य हो जाते हैं । व्याकरण-निकाय में भी ऋषियों, मुनियों, किम्वा शिष्टों द्वारा शब्दार्थसम्बन्धविषयक तात्त्विक चिन्तन वैदिक काल से ही चलता आ रहा है, जिसे पाणिनि के समकालीन दार्शनिक वैयाकरण व्याडि ने अपने संग्रह नामक विशालकाय ग्रन्थ में संगृहीत किया था, परन्तु यह ग्रन्थ दुर्भाग्य से लुप्त हो गया । पाणिनि का अष्टाध्यायीसंज्ञक शब्दानुशासन आपातत: मात्र प्रक्रियापक्ष का लाक्षणिक ग्रन्थ लगता है, परन्तु मूलत: यह भी शब्दार्थसम्बन्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही खड़ा है । वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को उजागर किया है । तदनन्तर महान् दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की रचना करके इसे विकास के उच्च शिखर तक पहुंचाया है । पातंजल का यह महाभाष्य तथा भर्तृहरि का वाक्यपदीय व्याकरणदर्शन के प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं । तदनन्तर बीसीयों दार्शनिक वैयाकरणों ने इन दो ग्रन्थों को मुख्य आधार बनाकर व्याकरणदर्शन पर ग्रन्थ रचे, जिनमें पुण्यराज, हेलाराज और कैयट की टीकाएं, भट्टोजिदीक्षित का शब्दकौस्तुभ, कौण्डभट्ट के भूषणत्रय और नागेशभट्ट के मंजूषात्रय प्रकरण-ग्रन्थ प्रमुख हैं ।

व्याकरणदर्शन दो प्रकार के शब्द, दो प्रकार के अर्थ, दो प्रकार के सम्बन्ध और दो प्रकार के प्रयोजन - कुल आठ अंगों का व्यावहारिक और

पारमार्थिक दृष्टि से तात्त्विक विवेचन करता है । व्याकरणदर्शन व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य, उसके अवयव पद और उसके अवयव प्रकृति-प्रत्ययों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध का निश्चय करता है, शब्दों के अनित्य और नित्य, ध्वन्यात्मक और स्फोटात्मक स्वरूप, उनकी क्रमशः व्यंजकता और वाचकता, अनेकता-एकता, बौद्ध या वस्त्वर्थ, जाति-द्रव्य, साधन, दिक्, काल आदि अर्थों की वाच्यता और उनके स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा इन सभी तत्त्वों पर पारमार्थिक दृष्टि से विचार करता है । इसलिए व्याकरणदर्शन का दर्शनत्व सुतराम् सिद्ध है ।

पाणिनिपूर्वयुग व्याकरणदर्शन के उद्भव और प्रारम्भिक विकास का युग रहा है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में वाक्तत्त्व के पारमार्थिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप पर जितना गहन विचार-चिन्तन मिलता है, उससे यह धारणा बनती है कि व्याकरणदर्शन के प्रतिनिधि-ग्रन्थों में जो एतद्विषयक चिन्तन उपलब्ध होता है, उसके न केवल बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, अपितु वहां इसकी पर्याप्त विकसित अवस्था दृष्टिगोचर होती है । यहां वाक्तत्त्व को नित्य और समस्त जगत् का कारण माना गया है । सभी देवता, प्राणी और जड़-पदार्थ वाक्तत्त्व के ही रूप वर्णित किये गए हैं । बार-बार वाक् (शब्दतत्त्व) को ब्रह्म से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि व्याकरणदर्शन का पारमार्थिक चिन्तन मूलतः वेदों पर आधारित है ।

प्रातिशाख्य मुख्यतया संहितापाठ, पदपाठ आदि में होने वाले ध्वनि-विकारों के नियम प्रतिपादित करते हैं । इनमें ध्वनितत्त्व का तात्त्विक विवेचन विस्तार से उपलब्ध होता है ।

पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्क का निरुक्त व्याकरणदर्शन की उस युग की स्थिति का सुन्दर निदर्शन है । यह व्याकरणदर्शन के प्रतिपाद्य नामार्थ, आख्यातार्थ, साध्यभाव, सिद्धभाव, उपसर्गों की द्योतकता, शब्दनित्यत्व, षड्भाव-विकारों आदि सिद्धान्तों का जिस प्रकार प्रतिपादन करता है, वह व्याकरणदर्शन

के अर्वाचीन ग्रन्थों में उसी प्रकार विवेचित किया गया है । यास्क ने पद-पदार्थों का विश्लेषण करते हुए जो विपुल शब्दराशि का, व्याकरण के नियमों का अधिकाधिक उपयोग करते हुए निर्वचन किया है तथा निर्वचन की शैली के सम्बन्ध में सुझाव दिये हैं, वे भी व्याकरणदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । निरुक्त ही हमें शाकटायन और औदुम्बरायण जैसे दार्शनिक वैयाकरणों के मतों से अवगत कराता है ।

यास्क के निरुक्त के अनुसार वैयाकरण शाकटायन उपसर्गों को वाचक न मानकर धातु के विशिष्ट अर्थ के द्योतक मानते थे । वह सभी नामों को धातुजन्य मानते थे । निरुक्त के अनुसार ही औदुम्बरायण ऐसे प्रथम वैयाकरण थे जो शब्द को नित्य मानते थे । यह स्फोटतत्त्व के प्रथम प्रतिपादक होने के कारण स्फोटायन नाम से विख्यात हुए । इस प्रकार पाणिनि-पूर्व युग व्याकरणदर्शन के उद्भव और प्रारम्भिक विकास का युग रहा है ।

महावैयाकरण पाणिनि, उनके युगसाथी संग्रहकार व्याडि, उनके अनुयायी वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलि का युग व्याकरण-दर्शन के विकास का काल रहा है । वर्तमान में उपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में व्याकरणदर्शन का स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित रूप पाणिनि (650 ई0पू0) की अष्टाध्यायी से ही प्रारम्भ होता है । यद्यपि विश्लेषणपूर्वक वाक्यसंस्कारोपयोगी पदों के व्यवस्थापक लक्षणों की रचना करना पाणिनि का मुख्य ध्येय रहा, तथापि इनका यह लक्षणविधान शब्दार्थसम्बन्ध की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर खड़ा है । शब्द, अर्थ और सम्बन्ध, वृत्ति, कारक आदि भाषा के दार्शनिक तत्त्व भी सूत्र-रचना के समय उनके ध्यान में रहे । परम्परा से प्राप्त दर्शनसिद्धान्तों को और लक्षणरचना के समय स्वतः स्फूर्त दार्शनिक उद्भावनाओं को हम पाणिनि की भव्य सूत्रात्मक शैली में कहीं न कहीं अवश्य अनुस्यूत पाते हैं ।

पाणिनि के समकालीन व्याडि का संग्रहग्रन्थ सम्भवतः आज तक का व्याकरणदर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होता, परन्तु दुर्भाग्य से वह सम्प्रति अनुपलब्ध है । विभिन्न ग्रन्थों में संग्रह के जो उल्लेख और वचन प्राप्त

होते हैं, उनसे विदित होता है कि वह द्रव्य को पदार्थ मानने वालों में प्रमुख थे। वह वाक्यार्थ को मुख्य मानते थे तथा अद्वैतवाद के समर्थक थे।

पाणिनीययुग के तीसरे आचार्य वार्तिककार, वररुचि कात्यायन [500 ई0पू0] ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वार्तिकग्रन्थ रचकर व्याकरण-दर्शन के सिद्धान्तों को और अधिक विस्तार और स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया है। यह शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। इनके वार्तिकों में ही सर्वप्रथम साधुशब्दों की धर्मजनकता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। जातिव्यक्तिवाद का समन्वय करने वाले कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यर्थ-विशेषणवाद, प्रत्ययार्थ-विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अर्थनियमवाद प्रकृतिनियमवाद आदि का विवेचन किया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी और कात्यायन के वार्तिकों पर महाभाष्य रचने वाले महामुनि पतंजलि पाणिनीययुग के चतुर्थ दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं। इनके व्याकरण महाभाष्य में व्याकरणदर्शन के पक्ष पर व्यापक चर्चा हुई है। वस्तुतः भर्तृहरि के वाक्यपदीय से पूर्व का पातंजल महाभाष्य ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जो उस युग के सभी प्रमुख दार्शनिक वैयाकरण के दर्शन का दिग्दर्शन करवाता है। स्फोट, शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता, बोद्ध पदार्थ, कालगुण, जाति के लक्षण आदि पर पतंजलि ने व्यापक चर्चा की है। पातंजल महाभाष्य बाद के दार्शनिक वैयाकरणों के लिए मुख्य आदर्श बना है।

चार इतिहासप्रसिद्ध भर्तृहरि नाम के विद्वानों में से महान् दार्शनिक वैयाकरण आद्य भर्तृहरि 450-500 ई0 के लगभग हुए हैं। इन्होंने व्याकरणदर्शन पर वाक्यपदीय नाम का प्रख्यात ग्रन्थ स्वोपज्ञ-वृत्ति सहित लिखा है तथा महाभाष्य पर भी दीपिका नाम की टीका रची है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं थे अपितु वैदिकमतानुयायी थे - यह इनके ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय-विचारों से विदित होता है। भर्तृहरि महान् विचारक, वेदों और सभी दर्शनमार्गों के मर्मज्ञ, निष्पक्ष एवं रागद्वेषशून्य महापुरुष थे। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त शतकत्रय, मीमांसासूत्रवृत्ति और शब्दधातुसमीक्षा और

धातुसमीक्षा भी भर्तृहरि द्वारा विरचित माने जाते हैं । वाक्यपदीय भर्तृहरि का प्रख्यात ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने पूर्वपरम्परा से प्राप्त व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को नयी, गहन एवं सूक्ष्म दृष्टि दी है जिससे व्याकरणदर्शन भारतीय दर्शनों की अग्र श्रेणि में गिना जाने लगा । इससे प्राय: सभी अर्वाचीन दर्शनधाराएं न्यूनाधिकरूप से प्रभावित हुई हैं ।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड पर वृषभदेव ﴾ 550 ई0 ﴿ ने "पद्धति," वाक्यकाण्ड पर काश्मीरी विद्वान् पुण्यराज ﴾ 950 ई0 ﴿ ने "प्रकाश" तथा पदकाण्ड पर हेलाराज ﴾ 975 ई0 ﴿ ने "प्रकीर्णप्रकाश" नाम की टीकाएं रची हैं जो प्रामाणिक टीकाओं के रूप में जानी जाती हैं । आधुनिक टीकाओं में पं0 रघुनाथ शर्मा की सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर रची गयी "अम्बाकर्त्री" नाम की टीका प्रमुख है । वाक्यपदीय में प्रतिपादित व्याकरणदर्शन के रहस्यों को उद्घाटित करके इस दर्शन के विकास में इन टीकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । भर्तृहरि-युग व्याकरणदर्शन के विकास की पूर्णता का युग रहा है ।

वैदिक साहित्य में बीजरूप में स्थित व्याकरणदर्शन पाणिनि तक अंकुरित होकर पाणिनीययुग में विकसित होता हुआ भर्तृहरि के वाक्यपदीय में पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है । व्याकरणदर्शन का वास्तविकस्वरूप हमें भर्तृहरि के वाक्यपदीय में ही देखने को मिलता है । भर्तृहरि ने कि.किन सिद्धान्तों को किस रूप में विवेचित किया है तथा इसमें परम्परा से प्राप्त दायाद कितनी है तथा भर्तृहरि की अपनी देन क्या है, इसका आलोचनात्मक विवरण पंचम अध्याय में दिया गया है ।

भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को पांच वर्गों में रखा जा सकता है - शब्दब्रह्मसम्बन्धी सिद्धान्त, स्फोटविषयक, अनुशासनीय - शब्दविषयक, अर्थविषयक, सम्बन्धविषयक और प्रयोजनविषयक सिद्धान्त । भर्तृहरि ने वाक्य का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग तथा उसी तरह अर्थविभाग मात्र लाघव से शब्दज्ञान के लिए उपयोगी माना है, अत: व्यावहारिक दृष्टि से पद

और पदार्थ के स्वरूप तथा इनके सम्बन्ध का निरूपण करते हुए इस विभाग को पारमार्थिक दृष्टि से असत्य मानकर अखण्ड वाक्य, अखण्ड वाक्यस्फोट और अखण्ड वाक्यार्थ को ही सत्य माना है। ध्वन्यात्मक शब्द को अनित्य तथा मात्र स्फोटव्यंजक कहकर स्फोटात्मक शब्द की वाचकता को प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार उन्होंने प्रतिभारूप अखण्ड वाक्यार्थ को सत्य माना है तथा अन्ततोगत्वा तात्त्विक दृष्टि से शब्द और अर्थ को अभिन्न मानकर उसे एक ही अद्वितीय तत्त्व शब्दब्रह्म का रूप माना है। भर्तृहरि ने वेदों को प्रमाण मानकर अद्वितीय शब्दब्रह्म को ही संसार का मूलकारण माना है तथा संसार को इसका विवर्त कहा है। उनके अनुसार यह सारा जगत् शब्दमय है, शब्द से अनुविद्ध है, अतः इसका मूल कारण ब्रह्म भी अवश्य ही शब्दतत्त्वात्मक है। यह शब्दब्रह्म ही काल नाम की स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न होकर नाना रूपभेदों में भासित हो रहा है। वही ब्रह्म भोग-शरीरों में प्रतिबिम्ब के समान स्थित है जिसे हम जीव कहते हैं। व्याकरण का ज्ञाता ज्ञान के द्वारा अहंकारग्रन्थियों को काटकर उस शब्दब्रह्म से सायुज्यरूप मोक्ष पा लेता है। भर्तृहरि ने काल, दिक्, गुण, क्रिया, साधन, कालशक्तियां, वृत्तियां और प्रमाणमीमांसा आदि पर भी अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन विचार-चिन्तन प्रस्तुत किया है। भर्तृहरि ने आगम को मुख्य प्रमाण मानकर व्याकरणदर्शन के परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों को अपनी अप्रतिम प्रतिभा, सूक्ष्म एवं गहन अन्तर्दृष्टि से विकास के उस उच्च धरातल तक पहुंचाया है जहां यह न केवल भारतीय-दर्शनों की प्रथम श्रेणि में सर्वदर्शनसंग्रह आदि ग्रन्थों में गिना जाने लगा है, अपितु अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों के साथ अद्वैत वेदान्त, शैवाद्वैत आदि दर्शनों के लिए भी एक पवित्र तीर्थस्थल बना है। देखा जाए तो भर्तृहरिदर्शन ही व्याकरणदर्शन है और व्याकरणदर्शन ही भर्तृहरिदर्शन है। इनसे अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों ने तो मात्र विरोधियों के आक्षेपों का खण्डन करते हुए भर्तृहरि के वाक्यपदीय में प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही प्रकरणबद्ध किया है।

उत्तरभर्तृहरियुग व्याकरणदर्शन के व्याख्या विश्लेषण और प्रकरण-ग्रन्थरचना का युग रहा है। इस युग में महाभाष्य और वाक्यपदीय पर व्याख्याएं रची गयीं तथा विश्लेषण के साथ प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये।

महाभाष्य पर काश्मीरी विद्वान् कैयट ‖ 900-1000 ई0 ‖ ने प्रदीप नाम की व्याख्या रची है जो संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है । दार्शनिक वैयाकरण कैयट ने इस टीका में महाभाष्य के दार्शनिक सन्दर्भों को भी उसी प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित किया है । कैयट ने स्वयं महाभाष्य प्रदीप को वाक्यपदीय का आश्रय लेकर लिखने की बात कही है । अतः स्पष्ट है कि इसमें व्याकरणदर्शन के तत्त्वों की व्याख्या को प्राथमिकता मिली है ।

वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदी और प्रौढ़मनोरमा के कर्ता भट्टोजि-दीक्षित ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य का आधार लेकर प्रकरणरूप में व्याख्यान रचा है जो प्रौढ़ ग्रन्थ है और प्रामाणिक माना जाता है । इसमें भट्टोजि-दीक्षित ने व्याकरण के दर्शनपक्ष पर महाभाष्य के आधार पर खुलकर विचार प्रस्तुत किए हैं । इसकी तेहत्तर कारिकाओं को उन्होंने अलग से संकलित किया है जो वैयाकरण-सिद्धान्त-कारिकावली नाम से ख्यात है । इन कारिकाओं में सम्पूर्ण व्याकरणदर्शन साररूप में प्रस्तुत किया गया है । इन्हीं तेहत्तर कारि-काओं के व्याख्यान के रूप में कौण्डभट्ट ‖ 1625-75 ई0 ‖ ने वैयाकरणभूषण, भूषणसार और लघुभूषणसार नामक ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषय को प्रकरणों में विभक्त करके रचे हैं जो अत्यन्त उपयोगी बन पड़े हैं । इनका यह भी महत्त्व है कि भर्तृहरि के उपरान्त नैयायिकों और मीमांसकों ने अपने-अपने दर्शन के अनुकूल पद-पदार्थों का विश्लेषण करने के उद्देश्य से वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों पर जो आक्षेप किये थे, कौण्डभट्ट ने उनका साथ-साथ खण्डन करते हुए समाधान प्रस्तुत किये हैं ।

उत्तरभर्तृहरियुग के महान् दार्शनिक वैयाकरण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र नागेशभट्ट ‖ 1700 ई0 ‖ ने वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा, लघुमंजूषा और परम-लघुमंजूषा नाम के तीन ग्रन्थ भूषणग्रन्थों की तरह ही प्रकरणों में विभक्त करके परमत-निरास-पूर्वक और वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों को स्थापित करते हुए रचे हैं । इनका मुख्य आधार भी पातंजल महाभाष्य और भर्तृहरि का वाक्यपदीय तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी नामक शब्दानुशासन रहा है । नागेश

शैवमतावलम्बी थे । उन्होंने वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा आदि में "परा" वाणी "शब्दब्रह्म" की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन काश्मीर शैवतन्त्र के सिद्धान्तों को व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों पर प्रत्यारोपित करते हुए और परम्परा से प्राप्त वैयाकरणसम्मत सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए किया है । इस कारण विद्वानों ने नागेश की आलोचना की है । तथापि भर्तृहरि के उपरान्त व्याकरणदर्शन के संरक्षण, विकास एवं परिबृंहण में नागेश का योगदान महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है । नागेश ने अपने महाभाष्य और कैयट के प्रदीप पर रचे गये उद्द्योत में तथा "स्फोटवाद" में भी व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को विवेचित करते हुए नवीन दृष्टि प्रदान की है ।

भर्तृहरि के बाद कौण्डभट्ट के तीन भूषणग्रन्थ और नागेश के तीन मंजूषाग्रन्थ व्याकरणदर्शन में विशेष स्थान रखते हैं, इसलिए इनपर अर्वाचीन दार्शनिक वैयाकरणों ने अनेक व्याख्याएं संस्कृत में रची हैं जो नव्य-न्याय की शैली में रचे गये इन ग्रन्थों के जटिल सन्दर्भों को उद्घाटित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । कुल मिलाकर उत्तरभर्तृहरियुग व्याख्या, विश्लेषण और प्रकरणग्रन्थों के रचने का काल रहा है ।

उत्तरभर्तृहरियुग के कुछ और ऐसे दार्शनिक वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से व्याकरणदर्शन के विकास में योगदान किया है । इनमें से मीमांसा, वेदान्त और व्याकरण के प्रख्यात विद्वान् मण्डनमिश्र ने अपनी स्फोट-सिद्धि नामक कारिकाबद्ध लघ्वी रचना में कुमारिलभट्ट आदि द्वारा वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के विरुद्ध दिये गये आक्षेपों का युक्तिपूर्वक खण्डन करके इस स्फोटसिद्धान्त का समर्थन किया गया है जो नितान्त महत्त्वपूर्ण है । परमेश्वर ने इस लघ्वी रचना पर स्फोटसिद्धिगोपालिका नाम की प्रामाणिक टीका रचकर मण्डनमिश्र के आशय को स्पष्ट किया है ।

भोजदेव { 996-1051 ई० } ने यद्यपि सरस्वतीकण्ठाभरण नाम का व्याकरण रचा है, परन्तु उन्होंने व्याकरण के दर्शनपक्ष को शृंगारप्रकाश में विवेचित किया है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक आठ प्रकाशों में व्याकरणदर्शन के

सिद्धान्तों को प्रकरणों में बांटकर मनोरम उदाहरण देते हुए अपनी अनुपम शैली में प्रस्तुत किया है । पुरुषोत्तमदेव §1100-1160 ई•§ ने "कारकचक्र" नामक ग्रन्थ में कारकों पर, भरतमिश्र §1700 ई•§ ने "स्फोटसिद्धि" में स्फोटतत्त्व पर और श्रीकृष्णभट्ट ने भी "स्फोटचन्द्रिका" में स्फोटतत्त्व पर प्राचीन दार्शनिक वैयाकरणों के मतों को उद्धृत करते हुए समीक्षात्मक विश्लेषण किया है जो उल्लेखनीय है ।

भारतीय दर्शनों के प्रख्यात विद्वान् सायण-वंशोत्पन्न माधवाचार्य §1300- 85 ई•§ ने वाक्यपदीय के उद्धरण देकर व्याकरणदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को "पाणिनिदर्शन" के नाम से लिख करके व्याकरण-दर्शन की महत्ता का मूल्यांकन करते हुए इसे अपने प्रख्यात सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ में प्रमुख स्थान दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है ।

जगदीश भट्टाचार्य § 1635 ई0 § मूलतः नैयायिक हैं, परन्तु उन्होंने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका नामक रचना में पद-पदार्थ-विषयक अधिकांश सिद्धान्तों को वैयाकरणों के मतों के अनुकूल ही प्रतिपादित किया है । जगदीश का यह ग्रन्थ कौण्डभट्ट और नागेश के भूषण और मंजूषा ग्रन्थों की कोटि का है । शब्दशक्ति आदि के बारे में जगदीश भट्टाचार्य की मान्यताएं यद्यपि न्यायदर्शन के अनुकूल हैं, तथापि इस ग्रन्थ के अनेक सन्दर्भ व्याकरणदर्शन के लिए भी उपलब्धि कहे जा सकते हैं ।

बीसवीं शती में पं0 रामाज्ञा पाण्डेय § रचनाकाल 1612-66 ई•§ ऐसे वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने व्याकरणदर्शन को संकलित एवं प्रकरणबद्ध करने में सराहनीय प्रयास किया है । इन्होंने प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों, निरुक्त और व्याकरणदर्शन के महाभाष्य, वाक्यपदीय, मंजूषा आदि ग्रन्थों से सैकड़ों वचन एवं सन्दर्भ संकलित करके उन्हें अपनी व्याकरणदर्शन भूमिका और व्याकरण-दर्शन-पीठिका नामक संस्कृत की रचनाओं में प्रकरणबद्ध किया है । व्याकरणदर्शन प्रतिभा नामक ग्रन्थ में इन्होंने पाण्डित्यपूर्ण शैली में वाक्यपदीय के आधार पर व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को प्रकरणों में विभक्त करके विवेचित किया है । यह ग्रन्थ तीनों में श्रेष्ठ और सारगर्भित है ।

इस प्रकार व्याकरणदर्शन के इतिहासक्रम में पाणिनिपूर्वयुग इस दर्शन का उद्भवकाल, पाणिनीययुग विकासकाल, भर्तृहरियुग पूर्णताकाल तथा उत्तरभर्तृहरियुग व्याख्या, विश्लेषण और प्रबन्ध-ग्रन्थों की रचना का काल रहा है । इनमें भी भर्तृहरियुग को व्याकरणदर्शन के विकास के इतिहास का स्वर्णयुग रहा है । आचार्य भर्तृहरि द्वारा "वाक्यपदीय" जैसा दर्शनग्रन्थ रचने के उपरान्त व्याकरण-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को अन्य दर्शनों के प्रमुख दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में, यथा - पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका में, सोमानन्द ने शिवदृष्टि में, उमामहेश्वर ने तत्त्वदीपिका में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी में, शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में तथा मण्डनमिश्र ने स्फोट-सिद्धि में आदर के साथ समर्थन या अपने-अपने दर्शनानुसार समीक्षा करते हुए प्रतिपादित किया है । व्याकरणदर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थों के महत्त्व को देखते हुए मीमांसकों और नैयायिकों में पद-पदार्थ-दर्शन पर ग्रन्थ रचने की होड़ सी लग गयी थी । आलंकारिकों ने भी वैयाकरणों के स्फोटादि सिद्धान्तों के आधार पर ध्वनि को आत्मा मानने वाले जैसे प्रमुख सिद्धान्तों की स्थापना की । उक्त तथ्य व्याकरणदर्शन के दर्शनत्व को ही नहीं, अपितु इस बात को भी सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण दर्शन-निकाय में व्याकरणदर्शन कास्थान उच्च और महत्त्वपूर्ण है ।

-:-:-:-:-:-:-

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक/सम्पादक, प्रकाशक तथा संस्करण
अथर्ववेद	सम्पादक - पं0 सातवलेकर प्रकाशक - स्वाध्याय मण्डल, पारडी संस्करण - 1957 ई0
अथर्ववेदप्रातिशाख्य	सम्पादक - सूर्यकान्त प्रकाशक - मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली संस्करण - 2025 वि0
अमरकोश	सम्पादक - ए0ए0 रामनाथन प्रकाशक - अड्यार लाइब्रेरी रीसर्च सेन्टर अड्यार, सं0 - 1971 ई0
अष्टाध्यायी	पाणिनि, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास सं0 1937 ई0
अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन	कपिदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सं0 1951 ई0
इत्सिंग की भारतयात्रा	अनुवादक - संतराम बी॰ए॰ इण्डियन प्रेस इलाहाबाद
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी	[illegible] गुप्त, सम्पा॰ पं0 मधुसूदन कौल अनुसंधान विभाग, जम्मू-काश्मीर राज्य [illegible] 38 ई0
[illegible]	सम्पादक सूर्यकान्त शास्त्री लाहौर, सं॰ 1933 ई0
ऋग्वेद (सायणभाष्य)	मैक्समूलर सम्पादित, चौखम्बा वाराणसी, सं॰1966 ई0

ऋग्वेद प्रातिशाख्य (उव्वटभाष्य)	शौनक, अनु० डा० विरेन्द्रकुमार वर्मा चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली सं॰ 1986 ई०
ऋग्वेदभाष्यभूमिका	सम्पा॰ जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बनारस, 1960 ई०
ऋषिकल्पन्यास: (रोजेश्वर शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ)	सम्पादक मण्डल भारती परिषद, प्रयाग, 2027 वि०
ऐतरेय-उपनिषद (शांकरभाष्य)	गीताप्रेस गोरखपुर, 2004 वि०
ऐतरेय ब्राह्मण	सम्पा॰ सत्यव्रतसामश्रमी कलकत्ता, 1895 ई०
कविकल्पद्रुम	वोपदेव प्रकाशक- सिद्धेश्वरयन्त्र कलकत्ता, 1904 ई०
अर्थशास्त्र	कौटिल्य, सम्पा॰ गंगाप्रसाद महाभारत कार्यालय, मालीवाड़ा देहली सं॰ 2010 वि॰
कारकसम्बन्धोद्योत	रभसनन्दि, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर, 1956 ई०
काशिका	वामन-जयादित्य, चौखम्बा, 1969 ई०
काशिका-विवरणपंजिका	जिनेन्द्रबुद्धि, राजशाही बंगाल, 1913-1925
काशिका (वैयाकरणभूषण-टीका)	हरिराम, बम्बई, 1915 ई०
कारकचक्र	पुरुषोत्तमदेव
कुंचिका (लघुमंजूषा-टीका)	कृष्णमित्र, बनारस, 1925 ई०
कृष्णचरितम्	समुद्रगुप्त
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर, 2011 वि०

-ग-

गणरत्नमहोदधि	वर्धमान, सम्पा॰ भीमसेन इटावा
छान्दोग्योपनिषद	सम्पा॰ श्रीराम शर्मा बरेली, 1972 ई0
जैमिनीयब्राह्मण	सम्पा॰ रघुवीर, नागपुर, 1954 ई0
ताण्ड्यमहाब्राह्मण	सम्पा॰ गदाधर दीक्षित प्रका॰ जयकृष्णदास हरिदास बनारस सं॰ 1935 ई॰
तैत्तिरीयसंहिता {सायणभाष्य}	सम्पा॰ काशीनाथ शास्त्री आनन्दाश्रम प्रेस पूना, 1940 ई0
द्वादशारनयचक्र दिङ्॰नाग प्रमवाल्नर, देखें इंगलिश	मल्लवादिक्षमाश्रमण, सम्पा॰ मुनि जम्बूविजय भावनगर, 1966 ई
तैत्तिरीयब्राह्मण	सम्पा॰ सामशास्त्री, मैसूर, 1921 ई0
दुर्घटवृत्ति	शरणदेव, सम्पा॰ गणपतिशास्त्री, मैसूर सं॰ 1924 ई0
धातुवृत्ति	सायण, बनारस संस्कृत सीरीज, 1934 ई0
धात्वर्थविज्ञानम्	पं0 भागीरथप्रसाद त्रिपाठी वि॰वि॰प्रकाशन, बनारस, 1980 ई॰
ध्वन्यालोक-लोचन	सम्पा॰ बद्रीनाथ शर्मा चौखम्बा, बनारस, 1953 ई0
नन्दिकेश्वरकाशिका	उपमन्युटीकासहित चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966ई0
निपातार्थनिर्णय:	डा0 हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी वि॰वि॰ प्रकाशन, वाराणसी, 1990 ई0
निरुक्त {दुर्गाचार्यकृतटीकासहित}	सम्पा॰ मुकुन्दशर्मा, मेहरचन्द लक्ष्मणदास{प्रका} नई दिल्ली, 1982 ई0
निरुक्त पंचाध्यायी	अनु॰ पं0 छज्जूराम शास्त्री, प्रका॰मेहरचन्द लक्ष्मणदास दिल्ली, 1973 ई॰

न्यायदर्शन	गौतम, सम्पा॰ श्रीनारायणमिश्र चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1970 ई0
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ, व्याख्याकार ज्वालाप्रसाद प्रका॰ सरजूदेवी, 185 गनेशमहाल वाराणसी, 1958 ई0
पंचदशी	विद्यारण्यमुनि, सम्पा॰डा0 चमनलाल गौतम, प्रका॰ संस्कृति संस्थान बरेली 1976 ई0
पतंजलिकालीन भारत	डा0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना 2019 वि0
पदचंद्रिका	शेषश्रीकृष्ण
पद-पदार्थसमीक्षा	डा0बलदेवसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन कुरुक्षेत्र, 1969 ई0
पदमंजरी	हरदत्त, मेडिकल हाल प्रेस बनारस, 1895 ई0
परमार्थसार	अभिनवगुप्त, प्रका॰ अनुसन्धान विभाग जम्मू-काश्मीर राज्य श्रीनगर, 1915 ई0
परमलघुमंजूषा	कपिलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित वि॰वि॰ कुरुक्षेत्र, 1975 ई0
परमलघुमंजूषा	नागेश, चौखम्बा बनारस, 1946 ई0
परिभाषावृत्ति	पुरुषोत्तमदेव, राजशाही बंगाल
परिभाषावृत्ति	सीरदेव, बनारस, 1887
पाणिनिव्याकरणे वादरत्नम्	सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा, 1949 ई0
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेवशरण अग्रवाल चौखम्बा सं॰सीरिज़ बनारस, 2012 वि॰
पाणिनीय शिक्षा	सम्पा॰ श्री रुद्रप्रसाद शर्मा चौखम्बा सं॰सीरिज़, 2004 वि;

पाणिनीय-शब्दार्थसम्बन्ध -डा० ॰देव शास्त्री
सिद्धान्त: पिपठिड्ड प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, मौजपुर, दिल्ली
संस्करण- 1987 ई0

प्रकीर्णप्रकाश हेलाराज, बनारस, 1937 {वाक्यपदीय के साथ}

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का
विवेचनात्मक अध्ययन - डा० सिद्धेश्वर वर्मा, प्रका• हरियाणा
हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, दिल्ली, 1973ई•

प्रौढ़मनोरमा भट्टोजिदीक्षित, प्रका• चौखम्बा सं•सीरिज
1996 वि0

बृहदारण्यकोपनिषद सम्पा• काशीनाथ शास्त्री
त्रिवेन्द्रम, 1935 ई0

भर्तृहरि का वाक्यपदीय के•ए• सुब्रहमण्य अय्यर, अनुवादक रामचन्द्र
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1981 ई0

ब्रह्मसूत्र {शांकरभाष्य} सम्पा॰ म•म•अनन्तकृष्ण शास्त्री,
निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1938 ई0

भट्टिकाव्य सं0 - पं• शेषराजशर्मा
विद्याविलास प्रेस बनारस, 1951 ई0

भर्तृहरि एफ• कीलहार्न, इण्डियन एण्टीक्वरी, वाल्यूम-12
1883 ई0

भर्तृहरि का वाक्यपदीय के•ए• सुब्रहमण्य अय्यर, अनुवादक रामचन्द्र
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1981 ई0

भारतीय-दर्शन सम्पा0 डा0 नन्दकिशोर देवराज
उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान प्रयाग, 1978 ई0

भारतीयदर्शन म•म• डा0 उमेशमिश्र
हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975 ई0

भारतीय-दर्शन डा0 राधाकृष्ण, भाग-1-3

भारतीयदर्शनशास्त्र का डा0 न0कि0 देवराज, प्रका• हिन्दुस्तानी एकेडमी
इतिहास उत्तरप्रदेश, 1950 ई0

भारतीयदर्शन की रूपरेखा	एम0 हिरियन्ना, अनु0 डा0 गोवर्धनभट्ट आदि राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1965ई0
भारतीयदर्शन की रूपरेखा	प्रो0 हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1963 ई0
भारतवर्ष का इतिहास	पं0 भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन देहली 1978 ई0
भूषणसार-परमलघुमंजूषायोः-सिद्धान्तानां समीक्षा	डा0 राममनोहर मिश्र वि॰वि॰ प्रकाशन वाराणसी 1983 ई0
भोजराज	डा0 भगवती लाल पुरोहित वि॰वि॰प्रकाशन वाराणसी, 1988 ई0
महामुनि पतंजलि	वैद्य दामोदर प्रसाद प्रका॰ श्रीचन्द शर्मा इन्दौर, 1967 ई0
महाभारत(षष्ठ खण्ड)	सम्पा॰ तथा अनुवादक -रामनारायणदत्त पाण्डेय गीता प्रेस गोरखपुर
महाभाष्य	पतंजलि, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1951, बनारस, 1937 ई0
महाभाष्यप्रदीपोद्योत	कैयट, नागेश -वही
महाभाष्य त्रिपदी	वि॰ स्वामीनाथन् सम्पादित, बनारस वि॰वि॰1965
महाभाष्यदीपिका	के॰वी॰ अभ्यंकर तथा लिमये, द्वारा सम्पादित पूना, 1967 ई
मीमांसादर्शन	वैद्यनाथशास्त्री आनन्द आश्रम प्रेस पूना, 1933 ई0
मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
भाषातत्त्व और वाक्यपदीय	डा0 सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन दिल्ली, 1964
लघुविभक्त्यर्थनिर्णय	मौनी श्रीकृष्णभट्ट, बम्बई, 1915 ई
यजुर्वेदसंहिता	सम्पा॰ जयदेव शर्मा विद्यालंकार, प्रका॰आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, 2012 वि0

याज्ञवल्क्यशिक्षा	व्या० श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र गंगाविष्णु श्री कृष्णदास लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम् प्रेस कल्याण मुम्बई, 1947 ई०
रामायण वाल्मीकि	सम्पा॰ भगवद्दत्त, प्रका॰ रिसर्च विभाग डी॰ए॰ वि॰कालेज लाहौर, 1931 ई०
लघुशब्देन्दुशेखर	नागेशभट्ट, सम्पा॰ पं० गोपालशास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आदि वाराणसी 1979 ई वि०
लघुविभक्त्यर्थनिर्णय	मौनि श्रीकृष्ण भट्ट बम्बई, 1915
वाक्यपदीय	भर्तृहरि, काण्ड 1-2, प्रकाशटीका सहित बनारस संस्कृत सीरिज़ 1887 ई॰
वाक्यपदीय	भर्तृहरि काण्ड-3, हेलाराज बनारस संस्कृत सीरिज़ 1887 ई०
वाक्यपदीय	चारुदेवशास्त्रि सम्पादित, लाहौर, 1934,40/41
वाक्यपदीय	के॰ए॰ सुब्रह्मण्य सम्पादित पूना, 1963,66,73
वाक्यपदीय	सूर्यनारायणशास्त्रीकृत भावप्रदीप टीका सहित बनारस, 1937
वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड	भर्तृहरि स्वोपज्ञवृत्ति तथा पं॰रघुनाथ शर्मा अम्बाकर्त्रीसहित वि॰ वि॰ प्रकाशन वाराणसी, 1963
वाक्यपदीय वाक्यकाण्ड	भर्तृहरि पुण्यराज टीका तथा पं० रघुनाथ शर्मा की अम्बाकर्त्री व्याख्या सहित वि॰वि॰प्रकाशन वाराणसी, 1980 ई०
वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड	वृत्तिसमुद्देश हेलाराज की प्रकाश तथा रघुनाथ शर्मा वि॰विश प्रकाशन, 1977 ई
वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड	स्वोपज्ञवृत्तिसहित डा० शिवशंकर अवस्थी के हिन्दीविवरण सहित चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1977 ई०

-व-

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड- -भावप्रदीपटीकोपेत	सूर्य नारायण शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1975 ई0
वाक्यपदीय पाठभेदनिर्णय	पं0 रघुनाथ शर्मा, वि॰वि॰ प्रकाशन वाराणसी 1980 ई0
वाक्यपदीय [तृतीय काण्ड] भाग-2	सम्पा॰ रवि वर्मा, त्रिवेन्द्रम, 1942
वाग्विज्ञान	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1969 ई0
वाचस्पत्यम्	तारानाथभट्टाचार्य सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी, 1962 ई0
विष्णुपुराण	सम्पा॰ श्रीराम आचार्य संस्कृति संस्थान बरेली 1967 ई0
वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त पंचनद प्रेस अमृतसर, 2013 वि0
वैयाकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट दर्पणटीकोपेत, सम्पा॰ बालकृष्णपंचोली चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी, 1969
वैयाकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट, सम्पा॰ आद्याप्रसाद मिश्र वि॰वि॰ प्रकाशन वाराणसी, 1988
वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय शारदा संस्थान वाराणसी, 1976 ई0
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी [पूर्वार्द्ध]	तत्त्वबोधिनी बालमनोरमा, सम्पा॰ गुरुप्रसाद शास्त्री, प्रका॰ श्री सीताराम शास्त्री काशी 1997 वि0
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी [उत्तरार्द्ध]	भट्टोजिदीक्षित, सम्पा॰ गुरु प्रसाद शास्त्री प्रका॰ सीताराम शास्त्री, मीरघाट बनारस 1997 वि॰
वैयाकरणानामन्येषां च मतेन शब्दस्वरूप तच्छक्तिविचार:	डा0 कालिकाप्रसाद शुक्ल, वि, वि॰प्रकाशन वाराणसी, 1979 ई0

वैयाकरणसिद्धान्तकारिका भट्टोजिदीक्षित, भूषणसार में संकलित
वैयाकरणभूषणसार कोण्डभट्ट, दर्पण, परीक्षा, भूषण व्याख्यासहित बनारस सम्वत् 1996
वैयाकरणभूषणसार कोण्डभट्ट शांकरीटीकासहित, आनन्दाश्रम प्रेस पूना, 1957 ई0
वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा कालिकाप्रसाद शुक्ल सम्पादित बनारस वि॰ वि॰ 1977 ई0
वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा नागेश, बनारस, 1925 ई0
वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा नागेश, बनारस, 1973 ई0
वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा नागेश, कुरूक्षेत्र, 1975 ई0
व्याकरण की दार्शनिक भूमिका डा0 सत्यकाम मुन्शीराम, मनोहर लाल दिल्ली 1971 ई0
व्याकरणदर्शनभूमिका रामाज्ञा पाण्डेय, काशी, 1954 ई0 संस्कृत कालेज पुस्तकालय सम्प्रति विश्वविद्यालय बनारस
व्याकरणदर्शनपीठिका वही, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1965 ई0
व्याकरणदर्शनप्रतिमा वही, वि॰ वि॰ प्रकाशन वाराणसी, 1979 ई0
व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या- डा0 राधेश्याम मिश्र बनारस 1970
-जातिस्वरूपविमर्शः प्रका॰ स्वयं ग्राम खजुरहरा, जिला हरदोई (उ॰ प्र॰)
व्याकरणसृष्टिप्रक्रिया रामप्रसाद त्रिपाठी, संस्कृत वि॰ वि॰ बनारस
व्याकरणमहाभाष्य भाग-3 पतंजलि, कैयटकृतप्रदीप और नागेशकृत उद्योत सहित सम्पा॰ पं0 रघुनाथ काशीनाथ शास्त्री तथा म॰म॰ पं0 शिवदत्त, प्रका॰ पाण्डुरंग जावजी निर्णयसागर प्रेस मुम्बई, 1937 ई0
व्याकरणमहाभाष्य भाग-4तथा भाग-5 सम्पा॰ भार्गव शास्त्री जोशी प्रका॰ सत्यभामाबाई पाण्डुरंग निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1942 ई0
व्याकरणमहाभाष्य (नवाह्निक) प्रदीपोद्योतसहित -पतंजलि, सम्पा॰ रुद्रधर शर्मा झा चौखम्बा सं॰संस्थान वाराणसी द्वि॰संस्क॰ 1984 ई0

व्याकरणे नागेशकृतिषु तन्त्रस्य प्रभावः - डा0 राजनाथ त्रिपाठी वि॰वि॰प्रकाशन वाराणसी, 1988 ई॰

व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः	डा0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1987 ई0
राजतरंगिणी	कल्हण, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, 1976
रामायण	वाल्मीकि, दिल्ली, 1981 ई0
शतपथब्राह्मण	चौखम्बा, 1965 वेंकटेश्वर 1940
शब्दकौस्तुभ भाग-1,2	भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज 1929-33
शब्दशक्तिप्रकाशिका	जगदीश तर्कालंकार चौखम्बा संस्कृत सीरिज 1973ई0
शिक्षासंग्रह	बनारस संस्कृत सीरिज 1873 ई0
शुक्लयजुः प्रातिशाख्य	वीरेन्द्रकुमार सम्पादित,वाराणसी, 1975 ई0
शुक्लयजुर्वेदसंहिता	निर्णयसागर बम्बई, 1950 ई0
श्रृंगारप्रकाश भाग-1,2,3,4	भोजदेव, प्राचीन सं0 ग्रन्थ प्रकटन विद्यासंस्था॰ मैसूर, 1965 ई0, 1963 ई0
श्लोकवार्तिक	कुमारिलभट्ट, तारा प्रकाशन बनारस, 1978 ई0
संग्रह-श्लोक	व्याडि [अनुपलब्ध] संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इति॰ भाग-1 में मीमांसक द्वारा व्याडि के प्रकरण में संकलित ।
संस्कृत-व्याकरणदर्शन	रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्र0, दिल्ली, 1972 ई॰
संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का--इतिहास भाग-1,2,3	पं0 युधिष्ठिर मीमांसक बहालगढ़ सोनीपत तृतीय संस्करण 1973 , सम्वत 2041, 1941 ई0
संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास	डा0 सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन दिल्ली 1971 ई0
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कीथ, अनुवादक मंगलदेव शास्त्री दिल्ली
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पतिगैरोला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन 1975 ई॰
सरस्वतीकण्ठाभरण भाग-1,2,3,4	भोजदेव, सम्पा॰ के0 साम्बशिव शास्त्री सं0 1935 ई0 प्रका॰ महाराजा ट्रैवंकोर, त्रिवेन्द्रम सन् 1937, 1938, 1948

संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रो० हंसराज अग्रवाल चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1987 ई०

संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, 1966 ई०

सारस्वतव्याकरणम् अनुभूतिस्वरूपाचार्य, प्रका० चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1985 ई०

सर्वदर्शनसंग्रह सायणमाधव, व्याख्या उमाशंकर चौखम्बा, 1964

सर्वदर्शनसंग्रह सायणमाधव, सम्पादक म०म०वासुदेव शास्त्री, अभ्यंकर भण्डारकर आरियण्टल रिसर्च पूना, 1951ई०

सरस्वतीसुषमा (पत्रिका) बनारस

स्फोटसिद्धि मण्डनमिश्र ए०के०सु० अय्यरकृत अनुवादसहित, पूना 1966 ई०

स्फोटसिद्धिगोपालिका परमेश्वर मद्रासविश्वविद्यालय

स्फोटसिद्धिन्यायविचार अज्ञातकर्तृक, त्रिवेन्द्रम, 1917

स्फोटचन्द्रिका श्री कृष्णभट्ट मौनि चौखम्बा, शब्दकौस्तुभ-2 के अन्त में प्रकाशित

स्फोटवाद नागेशभट्ट, अड्यार लाइब्रेरी मद्रास, 1940 ई०

स्फोटदर्शन पं० रंगनाथ पाठक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1967 ई०

स्पन्दकारिका रामकण्ठाचार्य, विवृत्तिसहित अनुसन्धान विभाग जम्मू-काश्मीर राज्य 1969 वि०

स्फोटतत्त्वविवेचनम् श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, सन् 1978

शिवदृष्टि सोमानन्दनाथ उत्पलटीकासहित, सम्पा० मधुसूदन कौल, प्रका० महाराजा जम्मू काश्मीर 1934 ई०

शैवदर्शनबिन्दुः डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय वि०वि० प्रकाशन वाराणसी विक्रम संम्वत् 2021

श्री वारुदेवशास्त्र्यभिनन्दनग्रन्थ सम्पादक मण्डल प्रकाशक- श्री वारुदेव शास्त्री अभिनन्दन समिति दिल्ली, 1973 ई0

श्री शंकरात्प्रागद्वैतवाद श्री मुरलीधर पाण्डेय भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, 1986 ई0

संस्कृत पत्रिकाएं

सोध पत्रिका उदयपुर 5: 13-22 तथा 14: 165-68

विश्व-संस्कृतम् 5: 183-86

सरस्वती 66 : 281-83

प्राचीज्योति §1963-1972§ 4 : 135

A Dictionary of Sanskrit Grammer - M.M. Kashinath Basudev Abhyankar, Oriantal Institute Bareda, 1961

A History of Indian Philosophy - Surender Nath Dass Gupta Part-I to V Motilal Banarasi Dass Delhi

A History of Sanskrit Literature - Dass Gupta, S.K.

A Study in Language and Meaning _ B.Bhattacharya Calcutta

Bhartrihar's Contribution to the Philosophy of Sanskrit Grammar - By Jai Dev Mohan Lal Shukla, University of Bombay

Bhartrihari's Date - Prof. Sadhu Ram JGR Institute 9th P 136

Bhartrihari' and Dingnath _ HR Ranga Swami Ayyanger JBBRAS, NS-26, 1951

Bhartrihari not Budhist- The Puna Orientalist, April 1940

Bhartrihari, A critical Studies. - Charu Devi Shastri All India confrance 1930

Calcu Collected works of Dr. Bhandarkar Vol-1, II, Bhandarkar Research of Institute Puna

Doctorine of Pratibha in Indian Philosophy. Anos of Bhandarkar Oriental Research Vol-V

History of Sanskrit Grammar - Sripad Krishan Belvalkar

On the date of Patanjali and the King in whose reign he lived. - By Ram Krishan Gopal Bhandarkaer, IA-1:299-302

Patanjali's MahaBhashaya. - R.G. Bhandarkar IA 2:59-61

Panini - A survey of Research - George Cardena Motilal Ba[illegible]si Dass Delhi, 1980

Panini _ His place in Sanskrit Literature- Goldstrucker, Chowkhamba Varanasi, 1965

Philosophical data in Patanjali's Mahabhashya. Our Heritage; Bulletin of the Department of Post-Graduate Training and research Sanskrit College Calcutta. 4 : p.51-65 By- Vishnu Pad Bhattacharya .

Studies in Indian Literary History, Volume-3, 1956

Spritual outlook of Sanskrit Grammar. - Prabhat Chander Chakervarti, JDLCU-25

The Philosophy of Word and Meaning - Gaurinath Shastri Sanskrit College Calcutta, 1959.

The Philosophy of Sanskrit Grammar - P.C. Chakravarti, [illegible]cutta.University .

****